दक—भीमसेन विद्यालङ्कार Regd. L. N. 5

का —

'मनुष्य उसी को कहना कि मननशील होकर स्वात्मवत् अन्य के सुख दुःख और हानि लाभ को समझें, अन्यायकारी बलवान् से भी न डरे और धर्मात्मा निर्बल से भी डरता रहे। इतना ही नहीं किन्तु सर्वसामर्थ्य से धर्मात्माओं की चाहे वे महा अनाथ निर्बल और गुणरहित क्यों न हों उनकी रक्षा, उन्नति, प्रियाचरण, और अधर्मी चाहे चक्रवर्त्ती, सनाथ, महा बलवान् और गुणवान भी हो, तथापि उसका नाश, अवनति और अप्रियाचरण सदा किया करे। अर्थात् जहां तक हो सके वहां तक अन्यायकारियों के बल की हानि और न्यायकारियों के बल की उन्नति सदा किया करें। इस काम में चाहे उसको कितना ही दारुण दुःख प्राप्त हो, चाहे प्राण भी भले ही जावें, परन्तु इस मनुष्यपन रूप धर्म से पृथक् कभी न होवे।'

"जो जो बात सब के सामने माननीय है उनको मानता, अर्थात् जैसे सत्य बोलना सब के सामने अच्छा और मिथ्या बोलना बुरा है ऐसे सिद्धान्तों को स्वीकार करता हूँ। और जो मत-मतान्तर के परस्पर झगड़े हैं उनको मैं पसन्द नहीं करता। क्योंकि इन्हीं मत वालों ने अपने मतों का प्रचार कर मनुष्यों को फंसा के परस्पर शत्रु बना दिये हैं। इस बात को काट, सर्व सत्य का प्रचार कर, सब को ऐक्य मत में करा, द्वेष छुड़ा, परस्पर में दृढ़ प्रीतियुक्त करा के सब से सब को सुख लाभ पहुँचाने के लिये मेरा प्रयत्न और अभिप्राय है।" सर्व शक्तिमान परमात्मा की कृपा, सहाय और आप्त जनों की सहानुभूति से "यह सिद्धान्त सर्वत्र भूगोल में फैल जावे, जिससे सब लोग सहज से धर्मार्थ, काम, मोक्ष की सिद्धि करके सदा उन्नत और आनन्दित होते रहें, यह मेरा मुख्य प्रयोजन है।"

—ऋषि दयानन्द

(सत्यार्थप्रकाश से उद्धृत)
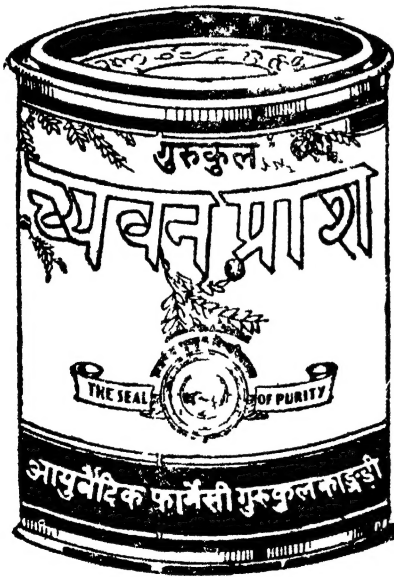
आर्य समाज के सिद्धान्त

आर्य युवकों के असन्तोष, विद्रोह और उपेक्षा का मुख्य कारण

[ले०—श्री भीमसेन जी विद्यालंकार, सम्पादक, आर्य साप्ताहिक]

साधारणतः प्रचलित सब सम्प्रदायों और धर्मों के सिद्धान्तों को, दो विभागों में विभक्त किया जा सकता है। (१) पारमार्थिक सिद्धान्त अर्थात् आत्मा परमात्मा प्रकृति पुनर्जन्म परलोक सम्बन्धी सिद्धान्त। (२) व्यावहारिक सिद्धान्त—मनुष्य के इहलोक-व्यवहार सम्बन्धी जीवन के सम्बन्ध में प्रतिपादित सिद्धान्त। इसी प्रकार से आर्य समाज के सिद्धान्तों को भी दो श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है। प्रथम पारमार्थिक-सिद्धान्त- परमात्मा—आत्मा—प्रकृति पुनर्जन्म—मुक्ति आदि। द्वितीय व्यावहारिक सिद्धान्त पारिवारिक जीवन—विवाह संस्था—राज शासन – सामाजिक धर्म—दैनिक व्यवहार।

प्रस्तुत अंक में मुख्यतया पारमार्थिक सिद्धान्तों का विवेचन तथा प्रतिपादन किया गया है—प्रसंग वश—व्यावहारिक सिद्धान्तों की भी चर्चा हो गई है। युक्ति तर्क प्रमाण तथा उपयोगिता की दृष्टि से वर्तमान समय में आर्यसमाज के पारमार्थिक और व्यावहारिक सिद्धान्त मानव समाज के भिन्न भ्रमों तथा कष्टों को, दूर कर नव जीवन संचार करने के, उत्तम साधन हैं।

ऋषि दयानन्द ने इन दोनों प्रकार के सिद्धान्तों का विवेचन और प्रतिपादन सत्यार्थप्रकाश में किया है। इन क्रान्तिकारी सिद्धान्तों के होते हुए भी क्या कारण है, कि इस पीढ़ी के आर्य युवकों में आर्यसमाज के प्रति असन्तोष विद्रोह तथा उपेक्षा के भाव प्रबल हो रहे हैं। मेरी सम्मति में इसका मुख्य कारण यह है कि वर्तमान समय की अनिवार्य परिस्थितियों तथा विदेशी राज्य के कारण आर्य समाज के पारमार्थिक सिद्धान्तों और व्यावहारिक सिद्धान्तों में अन्तर और दूरी गहरी होती जा रही है। मनोविज्ञान का सिद्धान्त है कि नवयुवक हृदय, आदर्श और व्यवहार में जहाँ कम से कम अन्तर होगा या दोनों एकरूप होंगे—उसी ओर आकृष्ट होगा।

ऋषि दयानन्द तथा उनके आन्दोलन की ओर, पंडित गुरुदत्त तथा पंडित लेखराम और स्वामी श्रद्धानन्द जैसे युवक क्यों आकृष्ट हुए! इन युवकों ने स्वामी दयानन्द के जीवन में ब्रह्मचर्य और सत्य के पारमार्थिक सिद्धान्तों को लिखित रूप में चरितार्थ होते अनुभव किया था। ऋषि दयानन्द का आस्तिकवाद—उनके लिये केवल दार्शनिक चर्चा का विषय नहीं था—उन्होंने इसे अपने जीवन में व्यावहारिक रूप दिया था। जंगलों में अकेले भटक कर—वनों आबादियों में अकेले सचाई का प्रचार कर

ग्राहकों को आवश्यक सूचना

आर्य का आगामी अङ्क

आर्य समाज वच्छोवाली के वार्षिकोत्सव के कारण आर्य का आगामी अङ्क ३०।११।४४ को प्रकाशित होगा। २५; २६ को आर्य समाज वच्छोवाली का वार्षिकोत्सव होने के कारण अगले सप्ताह आर्य प्रकाशित न होगा।

स आस्तिकवाद परमात्मा की सत्ता का अनुभव किया था। वह वचन द्वारा भी इसका प्रचार करते थे—और व्यवहार व कर्म द्वारा भी।

ऋषि दयानन्द के जीवन पर सूक्ष्म निरीक्षण कीजिये—घर पर पारमार्थिक शिव—और प्रत्यक्ष दिख रहे—व्यावहारिक शिव के स्वरूप और सामर्थ में दिख रहे—अन्तर-भेदभाव-तथा परस्पर विरोध को देख कर उनके हृदय में शङ्का पैदा हुई—जिज्ञासा पैदा हुई वह इस insincerity वाणी और व्यवहार की भिन्नता को न सह सके। घर से निकल पड़े—जीवन भर पारमार्थिक सिद्धान्तों और व्यावहारिक सिद्धान्तों की एकरूपता—उनमें कम से कम अन्तर—भेदभाव को स्थापित करना ही अपना मुख्य उद्देश्य बनाया। इसी सिद्धान्त पर चलते हुए, भोगी वैरागियों, मठधारी ब्रह्मचारियों, गद्दीधारी क्षत्रियों से घृणा और असन्तोष पैदा हुआ। इसी भावना के कारण उन्हें मूर्ख ब्राह्मणों—पराधीन देशी राजाओं तथा नौकरी पेशा क्षत्रिय जातियों, परावलम्बी कूप मण्डूक वैश्यों—और उपेक्षित शूद्रवर्ण की स्थिति को देख कर, गुणकर्मानुसार वर्ण व्यवस्था कायम करने की, प्रबल भावना पैदा हुई। मध्यकालीन वेद-भाष्यकारों ने, वेदों को अव्यावहारिक कर्मकाण्ड परक-व्याख्याओं तथा वेदान्त ज्ञान प्रधान—अक्रियात्मक अध्यात्म वाद के द्वारा, मनुष्य जाति के लिये केवल मात्र देखने तथा पूजा करने की वस्तु बना दिया था। ऋषि ने हरेक मंत्र की व्यावहारिक और पारमार्थिक व्याख्या कर वेदों की व्यावहारिक उपयोगिता का दिग्दर्शन कराने के लिये—उनमें विद्यमान शिल्प कला तथा विमान यान और सामाजिक व्यवहारिक राजधर्म, सामाजिक संगठन का प्रतिपादन किया। महात्मा बुद्ध मुख्यतया व्यवहारवादी थे—वह कोरे कर्म काण्ड तथा निरे ज्ञानवाद की चर्चाओं से परेशान भारत समाज को कर्मवीर बनाने के लिये मुख्यतया व्यावहारिक धर्म और कर्मवाद पर बल देते थे। वेद तथा परमार्थ से सम्बन्ध रखने वाले सिद्धान्तों की उपेक्षा करना उचित समझते थे। इसके बाद दूसरी प्रतिक्रिया कुमारिल भट्ट और शंकराचार्य ने की—उन्होंने व्यवहार, दृश्यमान जगत को मिथ्या कह कर कोरे अकर्मण्य पारमार्थिक वाद का प्रचार किया—वेद भाष्य तथा दार्शनिक चर्चाओं की व्याख्या इस ढंग से की, और देश के ब्राह्मणों और दार्शनिकों को अव्यावहारिक बना दिया। ऋषि दयानन्द ने इन दोनों विचारधाराओं का समन्वय किया। सत्यार्थ प्रकाश में पारमार्थिक सिद्धान्तों और व्यावहारिक सिद्धान्तों का समन्वय स्थान २ पर दिखाई देता है। आर्य समाज के सिद्धान्तों के अनुसार वह आस्तिक वाद व आदर्शवाद निःसार है, जो हमारे व्यावहारिक जीवन को प्रभावित नहीं करता। जब एक आर्य युवक अपने घरों तथा आर्यसमाज आन्दोलनों में, आर्य समाज के पारमार्थिक सिद्धान्तों और व्यवहारिक जीवन में भारी अन्तर को देखता है—उस समय उसके हृदय से आर्यसमाज के प्रति असन्तोष विद्रोह तथा उपेक्षा के भाव पैदा होते हैं—जब वह अपने बड़ों को संध्या में 'अदीनाः स्याम शरदः' का पाठ करने के साथ २ विदेशी राजशक्ति तथा धनियों के सामने दीनता के वचन कहते सुनता है—वह हैरान हो जाता है। इसी प्रकार से स्वदेशी स्वराज्य तथा आर्य सभ्यता के समर्थकों को, विदेशी वेशभूषा तथा विदेशी संस्कृति और विदेशी साहित्य में लवलीन होते हुए देखता है तो वह भी उधर प्रवृत्त हो जाता है। युवकों के इस असन्तोष को दूर करने और आर्यसमाज के सिद्धान्तों का प्रचार करने का मुख्य उपाय यही है कि हम में से हरेक व्यक्ति पारमार्थिक सिद्धान्तों तथा व्यावहारिक जीवन के भेदभाव को कम से कम करने का यत्न करे। किसी एक सिद्धान्त को केन्द्र बना कर, उसे अपने जीवन में चरितार्थ कर, उस सिद्धान्त के जीते जागते प्रचारक बनने का संकल्प करें; तभी हम ऋषि दयानन्द द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों की सच्ची श्रेष्ठता सिद्ध कर, संसार की मानव जाति तथा युवक शक्ति को इस तरफ आकृष्ट कर सकेंगे।

आर्यसमाज के सिद्धांत ग्रन्थ सत्यार्थ प्रकाश के विषय में—

सिंध सरकार ने डिफेंस आफ इंडिया की आड़ में सत्यार्थ प्रकाश के १४ वें समुल्लास को ज़ब्त करने की आज्ञा दी है। इस सम्बन्ध में निम्न लिखित जानकारी संभावित आशंकाओं का निराकरण करने के लिये दी जाती है।

[कई लोगों का विचार है कि सत्यार्थप्रकाश के पहले संस्करण में जो १८७५ ई० में राजा जयकृष्ण दास जी के प्रबन्ध में प्रकाशित हुआ था, तेरहवाँ तथा चौदहवाँ समुल्लास विद्यमान न थे। उस सत्यार्थप्रकाश में केवल बारह समुल्लास ही का होना उनके पक्ष में सब से बड़ा प्रमाण है। हम ऐसे लोगों के सम्बन्ध में कुछ न कह कर उन्हें "१८७५ ई०" के संस्करण के दशम समुल्लास के अन्तिम अंश की इन पंक्तियों के पढ़ने का अनुरोध करते हैं। आशा है वे शान्त चित्त से इन पंक्तियों को पढ़ेंगे और अपने मत को बदलने का यत्न करेंगे। लीजिये, वे पंक्तियाँ निम्नांकित हैं—]

"ए दश समुल्लास शिक्षा के विषय में लिखे। इसके आगे आर्यावर्तवासी मनुष्य, जैन, मुसलमान और अंग्रेज़ों के आचार अनाचार सत्यासत्य मत मतान्तर के खण्डन और मण्डन के विषय में लिखा जावेगा। इनमें से प्रथम समुल्लास आर्यावर्त में निवासी मनुष्यों के मत मतान्तर के खण्डन और मण्डन के विषय में लिखा जावेगा। दूसरे समुल्लास में जैन मत के खण्डन और मण्डन के विषय में लिखा जावेगा।

तीसरे में मुसलमानों के मत के विषय में खण्डन और मण्डन लिखेंगे और चौथे में अंग्रेज़ों के मत में खण्डन और मण्डन के विषय में लिखा जावेगा। सो जो देखा चाहे खण्डन और मण्डन की युक्ति, उन "चारों" समुल्लासों में देख लो। (पृ० ३०७)

साथ ही सत्यार्थ प्रकाश की एक और विशेषता की ओर हम विचारकों का ध्यान खींचना चाहते हैं वह यह है कि इस समय हमारे देश में क्या; संसार में जितने भी विविध धर्मों का मज़हबों के मज़हबी ग्रन्थ, बाइबल पुराण गुरुग्रन्थ साहब तथा कुरान आदि ग्रन्थ मिलते हैं उन सबके निर्माण के विषय में यह बात निर्विवाद रूप से सिद्ध है कि वह किसी एक व्यक्ति के दिमाग की रचना नहीं। उनकी authorship में ग्रन्थ लेखक में एक व्यक्ति की समन्वय कारिणी विचार धारा नहीं दिखाई देती। सत्यार्थ प्रकाश ही ऐसा विशेष सिद्धांत ग्रन्थ है जो कि एक व्यक्ति के व्यक्तित्व की विद्वत्ता की चमत्कारिणी-छाप से अंकित है। इस मुख्य लेखक की व्यक्तिगत विचार धाराओं में परिवर्तन करने या काँट छाँट करने का किसी व्यक्ति व समुदाय को अधिकार नहीं है यदि किसी को इस पुस्तक में परिवर्तन करने का अधिकार है तो वह केवल मात्र स्वामी दयानन्द को ही—

अन्य मजहबी किताबों के प्रारम्भक और लेखक भिन्न २ व्यक्ति हैं उनमें परिवर्तन हो सकता है कुरान की आयतें मुहम्मद साहेब के हृदय में प्रकट हुई परन्तु उनके लेखक मुहम्मद साहेब नहीं थे, इस प्रकार से बायबल के लेखक तथा कर्ता भी भिन्न २ व्यक्ति हैं इत्यादि—

सत्यार्थ प्रकाश की रक्षा करने के विषय में सिंध सरकार की सत्यार्थ प्रकाश विरोधिनी आज्ञा का भंग करने के लिए कानूनी चाराजोई तो की जायगी, परन्तु हममें से हरेक आर्य को अभी

से व्यक्ति गत रूप में सत्याग्रह करने के लिये तैयारी शुरू कर देनी चाहिए—व्यक्ति गत रूप से सत्याग्रह करने वालों के लिये पहली शर्त यह होनी चाहिए कि स्वयं उन्होंने सत्यार्थप्रकाश का अध्ययन किया हो। ऐसे व्यक्ति को इस वैयक्तिक सत्याग्रह में सम्मिलित नहीं होना चाहिए जिसने स्वयं सत्यार्थ प्रकाश का अध्ययन न किया हो। समय २ पर विचार स्वतंत्रता की लहर को रोकने के यत्न होते रहे हैं। कई वर्ष हुए १८७७ई० में इंग्लैंड तथा अमरीका में नौल्टन Knowlton पैम्फलेट प्रकाशित हुआ था। इंग्लैंड की सरकार ने इस पैम्फलैट का बेचना बन्द किया। मुख्य पब्लिशर ने अपराध स्वीकार किया। परन्तु डा० एनीबीसण्ट ने और मि० ब्रैडला ने इस आज्ञा को विचार स्वतन्त्र्य में बाधक समझकर सरकार को चुनौती दी कि अमुक स्थान पर अमुक दिन अमुक समय हम इस पुस्तक को बेचेंगे—उन्होंने वैसा ही किया। सरकार ने उन पर मुक़द्दमे चलाए। आखिर सरकार को हार माननी पड़ी और उसने सूचना दी कि अब इस पुस्तक के बेचने पर मुक़द्दमा नहीं चलाएगी। इस प्रकार मि० ब्रैडला और डा० एनीबेसण्ट ने एक साधारण से ट्रैक्ट के लिये वैयक्तिक सत्याग्रह कर उस आज्ञा को रद्द कराया। क्या सत्यार्थ प्रकाश जैसा क्रान्तिकारी दिव्य पुस्तक के लिये आवश्यकता पड़ने पर आर्य भाई व्यक्तिगत रूप से—सत्याग्रह करने के लिए तैय्यार नहीं होंगे—सिंध सरकार की इस आज्ञा के जारी होने के बाद, अपने कर्तव्य का निश्चय करने के लिए हरेक आर्य को ऋषि दयानन्द की प्रथम पृष्ठ पर अङ्कित घोषणा सामने रखनी चाहिए।

भीमसेन

संख्या २५ अंक ३४ | ५ मार्गशीर्ष २००१ विक्रमी, १९ नवम्बर १९४४ ई० | वार्षिक मू०

पुनर्जन्म (आवागमन)

(लेखक—श्री महात्मा नारायण स्वामी जी)

(१)

यह आवागमन का सिद्धान्त वेदादि शास्त्र प्रतिपादित है और एक समय ऐसा जग में माना जाता था। इस सिद्धान्त के मानने की ज़रूरत क्यों है, इस पर विचार करने निम्न उत्तर दिया जा सकता है—

(१) संसार में कोई भी काम एक बार ठीक नहीं रह जाता बल्कि बार बार दुहरा जाता रहता है। जैसे सृष्टि और प्रलय, दिन रात की तरह बार बार होती रहती है। सृष्टि उत्पन्न हो जाने के बाद, प्रत्येक कार्य की आवृत्ति और पुनरावृत्ति होती रहती है। सूर चन्द्र आदि प्रायः सभी नक्षत्रों के उदय और अस्त की आवृत्ति बार बार होती है, उत्पन्न होता है, सूख जाता है, फिर उत्पन्न होता है। इसी तरह प्रत्येक कार्य रिपीट (Repea होता रहता है। फिर मनुष्य मर कर क्यों न पैदा हो ?

(२) आत्मा का नित्यत्व चाहता है कि उसे एक के बाद दूसरा शरीर मिलता रहे।

(३) कर्म स्वातन्त्र से भी आवागमन की पुष्टि होती है।

(४) जगत् में मनुष्यों की विभिन्नता का एक मात्र समाधान आवागमन है।

(५) अनेक स्त्री पुरुषों की साक्षी, पूर्वजन्म के सम्बन्ध में उपलब्ध होती रहती है।

ये और इस प्रकार के कारणों से, इस वाद की पुष्टि होती है।

(२) साइन्स इस वाद की पुष्टि करता है, शक्ति,स्थिति, नियम law of conservation energy जिस प्रकार भौतिक जगत में लागू होता है उसी प्रकार आत्मिक संसार भी ासे प्रभावित है । जगत् का शक्ति भंडार न कम होता है न बढ़ता है, और मात्रा में एक ा रहते हुए परिवर्तित होता रहता है । प्राणी संसार में इसी परिवर्तन का नाम आवा- ामन है।

(३)पूर्व और पश्चिम सभी ओर के विद्वान् इस वाद की सत्यता की गवाही देते हैं। वेद एक जगह कहा गया है—

पुनर्मनः पुनरायुर्म आगन्पुनः प्राणः पुनरात्मा म आगन् पुनश्चक्षुः पुनः श्रोत्रं म आगन् ।
(यजुर्वेद ४।१५)

अर्थात् मुझ को मन, आयु, शरीर, आत्मा, चक्षु और श्रोत्रादि फिर फिर प्राप्त होते हैं। फिर एक दूसरी जगह लिखा है।

अप्सु अग्ने सौषधीरनुरुध्यसे । गर्भेसन् जायसे पुनः (यजु० १२।३६)

अर्थात् (जो जीव शरीर छोड़ते हैं वे) जीव जल और औषधि में होकर फिर पैदा हैं।

फिर एक और जगह लिखा है—

प्रसद्य भस्मना योनिमपश्च पृथिवीमग्ने । सꣳसृज्य मातृभिष्ट्वं ज्योतिष्मानपुनरासदः ॥
(यजु० १२।३८)

अर्थात् हे प्रकाशयुक्त जीवन भस्म होने के बाद, पृथिवी और जलों में होकर फिर होता है।

ऋग्वेद मंडल एक के सूक्त २०, ३१, ५० और १४१ में भी इसी प्रकार आवागमन का ार्थन किया गया है।

कठोपनिषद् में नचिकेता के तीसरे प्रश्न के उत्तर में, जिसमें उसने यमाचार्य से पूछा कि मरने के बाद जीव रहता है या नहीं, आचार्य ने उत्तर दिया है—

हन्त ते इदम्प्रवक्ष्यामि गुह्यं ब्रह्म सनातनम् । यथा च मरणं प्राप्य आत्माभवति गोतम ॥
योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः । स्थाणुमन्येऽनुसयंति यथाकर्म यथाश्रुतम् ॥
(कठो० ५ । ६ । ७)

अर्थात् मृत्यु के बाद एक प्रकार के जीव शरीर ग्रहण करने के लिए (जंगम) योनियों और दूसरे प्रकार के जीव वृक्ष योनियों में, अपने ज्ञान और कर्म के अनुसार, जाया ते हैं।

गीता में भी एक जगह श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा है—

ने मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन । तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ॥ (गीता०४।५

अर्थात् मेरे और तुम्हारे, हे अर्जुन बहुत जन्म बीत चुके हैं, मैं उनको जानता हूं, पर तू नहीं जानता।

(४) बाइबिल में आवागमन

(क) तुम देखोगे कि मानवीयपुत्र वहां फिर आवेगा जहां पहले था[1]।

(ख) ईश्वर का भेजा हुआ एक मनुष्य था There was a man sent from G John z. 2) इसकी टीका करते हुए ओरीजन कहता है कि जान दी बैपटिस्ट (John Tl Baptist) का आत्मा इस शरीर से पहले मौजूद था। वह इसी बात को और स्पष्ट करते हु कहता है कि यदि कैथलकों की सम्मति ठीक है कि आत्मा बिना शरीर के था परन्तु मौज जरूर था और अनिष्ट हेतुओं से फिर शरीर में आया तो यह कथन कि sent from Go (आवागमन पर दृष्टि डालते हुए) जान के लिए कोई असाधारण बात नहीं थी[2]।

(ग) ईसा से उस के एक शिष्य ने पूछा कि इसने या इसके माता पिता ने क्या प किया था कि जिससे यह अंधा पैदा हुआ—[3] आशय प्रश्न का साफ है कि अंधा तो अव पाप से उत्पन्न हुआ था परन्तु वह पाप कौन सा था?

(घ) ओरीजन एक ईसाई विद्वान् था, और आवागमन को मानता था—प्रायः शुरू सभी ईसाई इस सिद्धांत को मानते थे। उसने यह आप लिखा है—"यह रोगी होने हालत मनुष्य की प्रारम्भिक अवस्था नहीं हो संकती। यह पहले जन्म में ईश्वराज्ञा के विरु पाप करने का फल है[4]।

(च) रोम के पादरी (Lation fathers Namesings syneems, a Hilaring) खुले तौर से नये जन्म होने का समर्थन किया करते थे[5]।

(छ) सन् ५५१ ई० कुस्तुन्तुनिया की कौंसिल ने ओरिजन के प्रचारित आवागमन सिद्धांत का खंडन किया और ईसाई धर्म के लिये निषिद्ध ठहराया गया। इसके बाद पादरि ने इसका विरोध करना शुरू किया। परन्तु फिर भी ओरिजन की बहन Clemans Ala

---

(1) Thou shall sea the son of man ascend up where he was befo (John VI. 62)

(2) "And if the Catholic opinion hold good, as not propagated wi the body, but existing previonsly and for various reasons clothed flesh and blood, this expression **sent from god** will no longer s extra ordinary as applied to John."

(3) Which did son, this man or his parents, that he was born blind (John IX 2)

(4) Reincarnation by walker p. 34.

(5) Dop. 236 and 237

ndrenus इस वाद की बराबर शिक्षा देती रही और इसे दिव्य परम्परा प्रकट करती रही सका आरम्भ उसकी सम्मति में ईसा के शिष्य सेंटपाल ने किया था और उसे विहित ठहराया था[1]।

(ज) सन् ३८५ में एक ईसाई मजिस्ट्रेट ने ७ व्यक्तियों को इसी वाद के मानने के कारण त्यु दंड दिया था। (२) इटैलियन कैथारी एक दूसरा संप्रदाय था जो आवागमन को मानता ा जिसके विरुद्ध भी अशुद्ध विश्वास (Erroneous belief) रखने का इलजाम था। सेंट मिनिक (Sent Dominic) ने पूछ-ताछ करके उन्हें दंड दिया था, परन्तु कैथियो छिप र इस वाद का प्रचार करते रहे। इस संप्रदाय का कुछ बचा खुचा भाग अब रूस में है[2]।

(५) योरुप आदि के दार्शनिक

(१) ओविड (Ovid) ने पाईथागोरस पर एक कविता लिख कर उसमें प्रकट किया है कि मृत्यु पुरानी सामग्री को नये रूप में प्रकट होने का नाम है। आत्मा वही रहता है परंतु पुराना रूप जाता रहता है — कभी उसका एक नाम होता है कभी दूसरा[3]।

(२) हरमैन लोजे (Herman Lotze) ने Personality पर विचार करते हुये लिखा है कि (Personality is the Key to Existence ?) अर्थात् व्यक्तित्व मानवी सत्ता के प्रकट करने की कुंजी है। Person शब्द Persona से बना है। जिसके अर्थ हैं मुंह का ढकना (mask a cover for the face) हैब्रू भाषा में एक कहावत है कि मनुष्य जिहोवा (ईश्वर) की मूर्ति हैं। (man is the image or Jahovah) जब मनुष्य जिहोवा का रूप तो है तब उसके लिये परसन (person) शब्द का प्रयोग उचित ही है। मुलफोर्ड (Mulford) ने अपने ग्रंथ Republic of God में जर्मन के विद्वानों स्टेहल और फोशमर (Stahl and Froshammer) के हवाले से लिखा है कि मनुष्यत्व ईश्वर की छाया है। यह वह परदा है जिसके द्वारा ईश्वर अपने को व्यक्त किया करता है[4]। शेलिंग ने इसी बात को स्पष्ट करते हुए लिखा है। "आत्मा पत्थरों में सोता है, वृक्षों में श्वास लेता है[5]। पशुओं में गति करता है और चेतना को मनुष्यों में जागृत करता है। ये सब आवागमन के रूपान्तर ही हैं।

(1) Romans V 12, 14, 19.

(2) Reincarnation by walker p. 227

(3) Death socalled, is but old matter dressed in some new form. × × × The form is only changed, the wax is still the same. × × Now called by one, now by another. × × (Dryden's tremolation, qovtied by wolker see p. 24).

(4) Huminity is the shadow of Deity, the veil through which the absolute tries to reveal Himself. (Reincarnation p. 24)

(5) "Sleeps in the stone, breathes in the plant, moves in the animal, and wakes up to consciousness in man." (Schelling)

(३) अफलातून ने लिखा है कि जीव (शरीर रूपी) अपने वस्त्र को सदैव नया बनाता रहता है[1]।

(४) वाकर ने एक जगह लिखा है—"रोगी होना मनुष्य की असली हालत नहीं हो सकती। यह पुराने जन्म की उस इच्छा का परिणाम है जो (स्वास्थ्यप्रद) दिव्य नियमों के विरुद्ध आचरण करने की भूल की गई थी[2]।

(५) गनोस्टिक और मैनेकियन (Gnostic and manechean) ईरान और असीरिया के संप्रदाय आवागमन में विश्वास रखा करते थे[3]।

(६) इटैली के ब्रूनो और कम्पेनेला (Companalla) पुनर्जन्म को मानते थे।

(७) आत्मज्ञ पैरासेल्सस (Paracelsses) बोहमी (Borhme) स्वीडन वर्ग तथा जर्मन के दार्शनिक शौपन हौर लैसिंग (Lessing) हीगल, लीवनिटन (Leebnitv) हर्डर और फिचटे तथा इङ्गलैंड के कैम्ब्रज के प्लेटोनिस्ट (Platonists) प्रायः सभी तथा हैनरी मोर (Henary more) कडवर्थ (Cudworth) और न्यू इस आवागवन के वाद के पोषक थे।

(६) पिछली स्मृति का न रहना

(१) लोटिनस ने पिछले जन्म की स्मृति न रहने के संबन्ध में लिखा है कि दूसरा शरीर असली लाथ नदी है जिसके संपर्क में आने से पिछली बातें सब भूल जाते हैं[4]।

नोट—यूनान में इस नदी के लिये कल्पना की गई है कि इसमें स्नान करने से पहल हाल सब भूल जाते हैं।

(२) कुछेक उदाहरण ऐसे भी मिलते हैं जिनमें पिछले जन्म की स्मृति बाकी रहती है। उनमें से कुछेक का विवरण इस प्रकार है—

(क) पाइथागोरस को अपने अनेक जन्मों की स्मृति थी। इम्पीडोकिल्स Empedacles को भी इसी प्रकार अपने पिछले जन्म याद थे। उसने लिखा है कि एक जन्म में वह स्त्री था।

(ख) सर वाल्टरस्काट ने अपने जीवन में पिछले जन्म की स्मृतियों और अनुभवों को प्रकट किया है। (२) इसी प्रकार वालवर लिटन (Bulwher Latton) और इडगर पो (Edger a poe) ने भी अपने अनुभवों को प्रकट किया है[5]।

---

(1) The soul always weais her garmentsa new- (slate)

(2) Reinearnation by walker p. 34

(3) Dop. 226

"Body is the true river of "Lathe" for souls plunged into it forget all".

(4) Life of sir Walter scot by Lockhart first Edition vol III. p. 114

(5) Reincarnation by walker p. 37-40.

(ग) पिछले २० वर्ष के भीतर इस देश में ऐसे अनेक उदाहरण नोटिस में आये हैं। जिनमें से एक का हम यहां उल्लेख करते हैं। देहली के श्री रङ्गबहादुर माथुर की नौ साला लड़की अपने पिछले जन्म का हाल बतलाती है। उसका कहना है कि वह पिछले जन्म में मथुरा निवासी पं० चतुर्भुज की पुत्री और श्री केदार नाथ चौबे की पत्नी थी—इसको पहली बार ही इन बातों की तसदीक के लिये मथुरा ले जाया गया तो उसने अपने पिता और पति के घरों की पहचान कर उसमें ऐसे पते की बातें बतलाई कि जिनके स्वीकार करने के लिये घर वालों को बाधित होना पड़ा, इसी प्रकार से अन्य उदाहरणों में छोटे बच्चों ने अपने पिछले जन्मों के हालात बतलाए और तसदीक करने पर ठीक प्रमाणित हुए[१]।

कुछेक फुटकर बातें

(१) ताउइज्म में जीव के तीन अवयव माने जाते हैं—(१) क्योई—यह पेट में रहता है और शरीर के साथ मर जाता है। (२) लिंग जो छाती (हृदय) में रहता है—यह अवयव मृत्यु के बाद कुछ देर तक रहता है उसके बाद नष्ट हो जाता है। (३) ह्यून—यह मस्तिष्क में रहता है और आगे के जन्मों में नये शरीरों के साथ जन्म लिया करता है।

(२) डाक्टर ऐनीबीसेंट—आत्मा एक शरीर छोड़ कर १५०० वर्ष के बाद जन्म लेता है। रोमन्स की आत्मा, इसी अवधि के बाद अंगरेजों में आई है।

(३) मुसलमानों के सूफी संप्रदाय वाले आम तौर से आवागमन को माना करते थे। मौलाना रूम ने अपनी जगत प्रसिद्ध मसनवी में लिखा है कि मैंने ७७० जन्म देखे हैं और

(१) आवागमन के सम्बन्ध में दो आक्षेप किये जाया करते थे—

(क) यदि पिछला जन्म है तो उसकी स्मृति क्यों नहीं रहती। इस आक्षेप का समाधान इस प्रकरण में दी हुई घटनाओं से हो जाता है। इसके सिवा योगदर्शन में विधि बतलाई गई है जिससे कोई भी इस विधि से काम लेकर पिछले जन्म का हाल जान लिया करता है—"संस्कार साक्षात्करणात्पूर्वजाति ज्ञानम्" (योगदर्शन ३।१८) अर्थात् चित्त में मौजूद पिछले जन्म के संस्कारों के साक्षात करने से, पहले जन्म का ज्ञान योगी प्राप्त कर लिया करता है। परन्तु यदि प्रत्येक को नियम की भांति पिछले जन्म की बातें याद रहा करती तो उससे बड़ी अशांति रहने की सम्भावना हो सकती थी।

(ख) भूले हुए अपराधों का दण्डविधान अनुचित है। इसका समाधान यह है कि बुरे संस्कारों, बुरी वासनाओं और बुरी स्मृतियों का चित्त में होना प्रमाणित करता है कि उस चित वाले ने पहले बुरे कर्म किये थे जिनके ये चिह्न हैं।

वनस्पति की तरह बराबर उत्पन्न होता रहा हूँ (२) बहुतेरे मुसलमान भी आवागमन को मानते हैं[१]।

स्वर्ग और नर्क—सीमिटिक जातियां, जिनमें आवागमन नहीं माना जाता है उन्होंने प्राणियों का एक ही जन्म मान कर, उस जन्म के किए कर्मों के बदले में, सदा के लिए रूह के स्वर्ग या नर्क में जाने की कल्पना की थी। परन्तु जब आक्षेप हुए तो उनमें से ईसाई विद्वानों ने जिनमें मुख्यतया रोमन कैथोलिक पादरी शामिल थे, एक वाद उपस्थित किया जिसमें परगेट्री (Purgatory) की कल्पना मुख्य थी। परगेट्री एक स्थान विशेष का नाम है जिसमें आत्माएं मृत्यु के बाद जाकर, छोटे २ क्षन्तव्य अपराधों से छूट जाती हैं और कठोर अपराधों—पापों के बदले, जिनका प्रायश्चित्त नहीं हो सकता, दंड भुगतती हैं[२]। इनके सिवा ईसाइयों के बुद्धिवादी प्रोटेस्टेंट संप्रदाय ने स्वर्ग नरक के अनेक दरजे तजवीज किये[३]। जिनमें से प्रत्येक दरजे में पापी उतने ही समय तक रक्खा जाता है जितना समय उसके दंड भुगतने के लिए काफी होता है[४]।

(८) वैदिक धर्म आशा का धर्म है—उपसंहार

आवागमन का उपर्युक्त विवरण देने के बाद अन्त में यह बात निःसंकोच कही जा सकती है कि वैदिक धर्म आशा का धर्म है और इसके द्वारा प्रत्येक वैदिक धर्मी को मोक्ष का प्राप्त करना अनिवार्य है और इस अनिवार्यता का साधन आवागमन है। आवागमन के द्वारा मनुष्य का उस समय तक सुधार होता रहता है जब तक उसकी शारीरिक और आत्मिकोन्नति नहीं हो जाती और वह मोक्ष प्राप्त करने के योग्य नहीं बन जाता। इसीलिए वेद ने मनुष्यों के कल्याण के लिये ही, अन्य शिक्षाओं के सदृश, इस वाद की भी शिक्षा दी है। इसी लिये संसार के समस्त प्राणियों के लिये यह आवश्यक है कि इस शिक्षा से लाभ उठावें।

(१) हफ़्ता सद हफ़्ताद कालब दीदाहअम।
हमजू सब्जाह बारहा अवीदाह अम॥ मसनुई मौलाना रूम

(2) Purgatory=a place in which souls after death are purified from veniel and suffer punishment for mortal sins not atoned for. (Rein earnation p. 35)

(3) Many grades of Existance in heaven shall.

(4) Pumishment for sin can not continue longer than the sin continued. (Do p. 36)

वेद और वर्ण व्यवस्था

(लेखक :—श्री यु० प्रियव्रत जी वेदवाचस्पति, आचार्य्य गुरुकुल विश्वविद्यालय कांगड़ी)
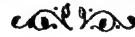
(१) वर्ण व्यवस्था का वैदिक रूप

वेद के पुरुष सूक्त में, जहां पुरुष नामक भगवान् से समग्र सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन किया है, पुरुष-समाज अर्थात् मनुष्य-समाज की उत्पत्ति का वर्णन करते हुये उसे चार विभागों में बांटा गया है। इन विभागों के नाम हैं ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। मनुष्य-समाज के इन चार विभागों का वर्णन करने वाला पुरुष सूक्त का निम्न मन्त्र है:—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥

ऋग० १०।९०।१२ यजुः ३१।११

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्योऽभवत्।
मध्यं तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥

अथर्व० १९।६।६

अर्थात्—"(ब्राह्मणः) ब्राह्मण (अस्य) इस मनुष्य समाज का (मुखं) मुख (राजन्यः) क्षत्रिय (बाहू) भुजायें (कृतः) बनाया गया है (यद्) जो (वैश्यः) वैश्य है (तत्) वह (ऊरू) जंघायें हैं, और (पद्भ्यां) पैरों के लिये (शूद्रः) शूद्र (अजायत) बना है।"

अथर्व वेद का मन्त्र थोड़े से पाठ भेद के साथ वही है जो ऋग्वेद और यजुर्वेद का है। अथर्व वेद में ऋग् और यजुः के "बाहू राजन्यः कृतः" के स्थान में "बाहू राजन्यः अभवत्" और "ऊरू तदस्य यद्वैश्यः" के स्थान में मध्यं तदस्य यद्वैश्यः" ऐसा पाठ है। अथर्ववेद के "बाहू राजन्यः अभवत्" का तो वही अर्थ है जो "बाहू राजन्यः कृतः" का है। "मध्यं तदस्य यद्वैश्यः" में ऋग् और यजुः के "ऊरू" के स्थान में अथर्व में "मध्य" का अर्थ जंघायें होता है और "मध्य" का अर्थ बीच का हिस्सा होता है। अथर्व वेद में प्रयुक्त हुये "मध्य" शब्द ने ऋग्वेद और यजुर्वेद के "ऊरू" शब्द की व्याख्या कर दी है। अथर्व वेद के "मध्य" शब्द के प्रयोग से यह प्रतीत होता है कि कि शेष दोनों वेदों में प्रयुक्त "ऊरू" शब्द को शरीर के मध्य हिस्से का उपलक्षण समझना चाहिये। अर्थात् "ऊरू" का अर्थ जंघायें और जंघाओं से उपलक्षित पेट करना चाहिये। पेट और जंघायें ही शरीर के मध्य भाग का निर्माण करते हैं। फलतः मनुष्य समाज के शरीर का मध्य भाग वैश्य को समझना चाहिये।

---

१. लेखक के लिखे जारहे बृहत् ग्रन्थ "वेदों के राजनैतिक सिद्धान्त" के "समाज-संघटन और उसकी आर्थिक व्याख्या" नामक अध्याय का एक अंश।

यह मन्त्र वैदिक धर्म के समाज-संघटन सम्बन्धी वर्ण-व्यवस्था सिद्धान्त का प्रधान और आधार भूत मन्त्र है। वर्ण व्यवस्था के सम्बन्ध में अन्यत्र वेद में तथा वैदिक साहित्य के अन्य ग्रन्थों में जो कुछ लिखा गया है वह इसी मन्त्र की विस्तृत व्याख्या और भाष्य मात्र है। इस मन्त्र से जो निर्देश निकलते हैं उन्हीं को प्रकारान्तर से वेद में अन्यत्र तथा वैदिक साहित्य के ऋषि कृत दूसरों ग्रन्थों में विस्तार के साथ कहा गया है। इसलिये समाज संगटन के सम्बन्ध में इस महत्त्व पूर्ण मन्त्र से जो निर्देश निकलते हैं उन्हें ज़रा ध्यान से देख लेने की आवश्यकता है :—

(१) पहली बात तो जो मन्त्र को पढ़ते ही सब से प्रथम ध्यान में आती है वह यह है मनुष्य-समाज को ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य और शूद्र इन चार विभागों में विभक्त होना चाहिये किसी भी राष्ट्र मे रहने वाले लोगों को अपने जन-समाज को इन चार विभागों में विभक्त करके रहना चाहिये।

(२) दूसरी बात जो मन्त्र को गम्भीरता से पढ़ने पर स्पष्ट ध्यान म आती है वह यह है कि मन्त्र में मनुष्य-समाज को मनुष्य शरीर से उपमा दी गई है। जैसे मनुष्य शरीर में मुख, हाथ, पेट और पैर होते हैं वैसे ही मनुष्य समाज में भी मुख, हाथ, पेट और पैर होते हैं। जैसे शरीर के मुख हाथ आदि अंग मिल कर शरीर का निर्माण करते हैं वैसे ही * समाज के मुख हाथ आदि अंग मिलकर समाज शरीर का निर्माण करते हैं। मनुष्य शरीर की भांति समाज भी एक प्रकार का शरीर (organism) है। जैसे शरीर की पुष्टि और उन्नति के लिए उसके प्रत्येक अंग का पुष्ट और उन्नत होना आवश्यक है वैसे ही किसी जन-समाज की पुष्टि और उन्नति के लिए भी इसके प्रत्येक अंग का पुष्ट और उन्नत होना आवश्यक है। जैसे शरीर के किसी अंग की अपुष्टि, और उसके किसी अङ्ग का रोग समग्र शरीर के लिये घातक हो जाते हैं उसी प्रकार जन-समाज के किसी अंग की अपुष्टि, उसके किसी अंग की अवनति समग्र समाज की अवनति और हीनता का कारण बन जाती है। इसलिये समाज की उन्नति के लिये उसके सब अ ों का का उन्नत होना आवश्यक है।

(३) तीसरी बात जो मन्त्र के शब्दों से निकलती है वह यह है कि मन्त्र में ब्राह्मण आदि को मुखादि कहा गया है। ब्राह्मण आदि का यह मुख आदि के साथ रूपक ब्राह्मण आदि के गुणों पर बड़ा सुन्दर प्रकाश डालता है। ब्राह्मण आदि के मुख आदि के साथ इस रूपक से ब्राह्मण आदि के गुणों पर किस प्रकार प्रकाश पड़ता है यह शरीर में मुखादि के कार्यों को देखने से स्पष्ट हो जाता है।

१. ब्राह्मण समाज का मुख[१] है। अब ज़रा मुख के कार्य्य और गुणों पर दृष्टि डालिये।

---

१. यहां मुख से तात्पर्य सारे सिर से हैं। संस्कृत साहित्य में मुख शब्द सारे सिर या चेहरे के लिये बहुधा प्रयुक्त होता है "चन्द्र इव मुखं" यह मुख चन्द्रमा जैसे मनोहर है—इत्यादि वाक्यों में मुख से तात्पर्य मुख-छिद्र से नहीं होता। प्रत्युत सारे सिर या चेहरे से होता है।

मुख में आंख, नाक, कान, रसना और त्वचा ये पांच ज्ञानेन्द्रियें एकत्र हैं। शेष शरीर में केवल त्वचा ही एक ज्ञानेन्द्रिय है। इस प्रकार मुख में शरीर के और अंगों की अपेक्षा पांच गुणा ज्ञान रहता है। ब्राह्मण जन-समाज का मुख है। उसमें समाज के क्षत्रियादि अंगों की अपेक्षा पांच गुणा अर्थात् बहुत अधिक ज्ञान रहना चाहिये। मुख बोल कर अपने ज्ञान को दूसरों पहुंचाता है। ब्राह्मण समाज का मुख है। उसे अपना ज्ञान उपदेश द्वारा दूसरे लोगों तक पहुंचाना चाहिये। इस प्रकार जो लोग ज्ञान के अर्जन और अर्जित ज्ञान के प्रचार में लगे रहते हैं वे ब्राह्मण हैं। मुख तपस्वी है। कठोर से कठोर शीत के समय में भी जब कि हम सारे शरीर को वस्त्रों से ढक लेते हैं, हमारा मुख नग्न रहता है। ब्राह्मण समाज का मुख है। उसे मुख की भान्ति तपस्वी होना चाहिये। उसे शीतोष्णादि द्वन्द्वों को सहने का अभ्यास होना चाहिये। इसी के उपलक्ष से उसे मानसिक क्षेत्र में मान-अपमान आदि के द्वन्द्वों को सहने का भी अभ्यास होना चाहिये। मुख स्वार्थ-रहित और परोपकारी है। सञ्चित ज्ञान को मुख अपने पास नहीं रखता। उसे औरों को सुना देता है। मुख में प्राप्त हुये भोजन को वह अपने पास नहीं रखता। वह उसे पचने योग्य बना कर पेट के अर्पण कर देता है जहां से वह सब अंगों को पहुंचाता है। ब्राह्मण समाज का मुख है। उसे मुख की तरह स्वार्थ हीन और परोपकारी होना चाहिये। उसे अपना सब ज्ञान और अपनी सब शक्तियें समाज के उपकार में लगा देनी चाहिये। यदि मुख स्वार्थी हो जाये, अपने में प्राप्त हुये भोजन को अपने में ही रक्खे और कंठ से नीचे नहीं उतरने दे, तो सड़ांद होकर मुख स्वयं भी नष्ट हो जायेगा और सारे शरीर को भी नष्ट करेगा। इसी प्रकार स्वार्थी ब्राह्मण स्वयं भी नष्ट हो जायगा और समाज को भी नष्ट करेगा जो मुख की भांति ज्ञानवान्, ज्ञान का उपदेष्टा, तपस्वी, स्वार्थ हीन, और परोपकारी है वह ब्राह्मण है।

२. क्षत्रिय समाज की भुजायें हैं। भुजाओं में बल है। जब शरीर पर कहीं से भी किसी प्रकार का प्रहार होता है तो भुजायें आगे बढ़ कर उस प्रहार को अपने ऊपर ओढ़ती हैं। और शत्रु पर प्रहार करती हैं। प्रहार से स्वयं घायल होना स्वीकार करती हैं परन्तु शरीर के अन्य अंगों को घायल नहीं होने देतीं। शरीर के शत्रुओं पर प्रहार करके उनके नाश का प्रयत्न करती हैं। इसी प्रकार जो लोग अपने भीतर बल की विशेष वृद्धि करते हैं और उस बल से समाज की रक्षा करते हैं वे क्षत्रिय हैं। क्षत्रिय समाज के किसी भी अंग पर कहीं से कोई प्रहार, कोई अत्याचार, नहीं होने देगा। वह आगे बढ़ कर प्रहार को, अत्याचार को, रोकेगा। स्वयं कष्ट में पड़ना स्वीकार करेगा—यहां तक कि मृत्यु तक का आलिङ्गन करने को भी उद्यत रहेगा—पर समाज के किसी अंग को अन्याय—अत्याचार से पीड़ित नहीं होने देगा। वह समाज की रक्षा और उसके शत्रुओं के विनाश के लिए सदा अपना रुधिर बहाने के लिये उद्यत रहेगा। जो शरीर में भुजाओं की भांति समाज की अन्याय और अत्याचार से रक्षा करने के लिये सदा तत्पर रहता है और इस कार्य्य के लिए सदा अपनी जान हथेली पर लिये

फिरता है वह क्षत्रिय है। वह समाज की भुजा है।

३. वैश्य समाज का मध्य भाग है। शरीर के मध्य भाग में पेट का प्रधान स्थान है। पेट के कार्य्य से वैश्य के कार्य्य पर प्रकाश पड़ता है। खाया हुआ अन्न पेट में जाकर एकत्र होता है। पेट उस अन्न को बचा कर रस बना देता है और फिर उस अन्न को रुधिर में मिला देता है। रुधिर में मिला हुआ यह रस शरीर को प्रत्येक अङ्ग में पहुंच कर उसे भोजन देता है, उसे पुष्टि और बल देता है। वैश्य समाज का मध्य है, पेट है। पेट जैसे शरीर के सब अङ्गों के लिये रस तैयार करके, भोजन तय्यार करके, देता है वैसे ही वैश्य को समाज के ब्राह्मण आदि सब अङ्गों को भोजन तैयार करके देना होगा। समाज का जो अङ्ग समाज शरीर के सब अंगों के भरण-पोषण का भार अपने ऊपर लेता है वह वैश्य कहा जायेगा। मध्य भाग में जंघायें भी सम्मिलित की गई हैं। जंघाओं का काम चलना फिरना है। जो जघाओं की तरह चले फिरेगा—देश देशान्तरों में आ जाकर व्यापार व्यापार व्यवहार करना और उसके द्वारा अपने राष्ट्र के जन-समाज के भरण-पोषण का उपाय करना वैश्य का कर्त्तव्य है। ये वैश्य राष्ट्र शरीर के मध्य भाग होते हैं जिसके ऊपर उसके सब अङ्गों का जीवन निर्भर होता है।

४. पैरों के काम के लिये शूद्र है। शूद्र समाज-शरीर का पैर है। पैरों का शरीर में क्या काम है? पैर सारे शरीर को अपने ऊपर उठाये रहते हैं। सारे शरीर को एक स्थान से दूसरे स्थान में ले जाते हैं। स्वयं धूल, मिट्टी, कीचड़ आदि में रहते हैं परन्तु बाकी शरीर को साफ़ बचाये रखते हैं। पैरों में शेष शरीर की सेवा का ही यह एक विशेष गुण है। और कोई विशेष गुण पैरों में नहीं होता। जो लोग ज्ञान आदि विशेष गुण अपने अन्दर नहीं रखते और इसीलिए वे समाज के ब्राह्मण आदि अन्य अङ्गों की सेवा का ही कार्य्य कर सकते हैं, उन्हें शूद्र कहते हैं। ये शूद्र लोग ब्राह्मण आदि की सेवा करके उन्हें ज्ञानार्जन और ज्ञान-प्रचार आदि के कामों के लिये अधिक समय प्राप्त कर सकने में सहायता देकर राष्ट्र शरीर की सेवा करते हैं। यदि ब्राह्मण आदि को अपनी सेवा के वस्त्र धोना, भोजन बनाना, बर्तन मांजना झाड़ू देना, क्षौर (हजामत) करना आदि सारे काम स्वयं ही करने पड़ें तो उन्हें उन के ज्ञानार्जन और ज्ञान-प्रचार आदि के कार्यों के लिये समय कम मिलेगा और फलतः वे राष्ट्र के लिये अधिक उपयोगी कार्य्य कम कर सकेंगे। शूद्र लोग उनकी इस प्रकार की सेवायें करके उन्हें राष्ट्र के लिये अधिक उपयोगी काम करने का अधिक अवसर प्रदान करते हैं। और इस भांति वे भी एक प्रकार से राष्ट्र के हित साधन का काम करते हैं। ज्ञान आदि विशेष गुण न होने के कारण जो लोग केवल समाज शरीर की सेवा का ही कार्य्य कर सकते हैं उन्हें शूद्र कहा जाता हैं।

४. चौथी बात जो मन्त्र को ध्यान से देखने से प्रकट होती है वह यह है कि ब्राह्मण आदि का विभाग घृणा पर आश्रित ऊँच-नीच के भेद पर अवलम्बित नहीं है। यह विभाग

अपनी शक्तियों द्वारा समाज की अधिक से अधिक सेवा कर सकने के भाव पर अवलम्बित है। यह शरीर के मुख, भुजा आदि अङ्ग एक दूसरे से घृणा नहीं करते। वे एक दूसरे से मिल कर रहते हैं। वे एक दूसरे के सुख-दुःख को अपना सुख-दुःख समझते हैं। मुख का दुःख जिस प्रकार सारे शरीर का दुःख होता है उसी प्रकार पैर का दुःख भी सारे शरीर का दुःख होता है। एक की पीड़ा सब की पीड़ा होती है और एक का सुख सब का सुख होता है। जब पैर में कांटा चुभ जाता है तो पैर के उस दुःख को अपना दुःख समझ कर क्षत्रिय भुजा उसे निकालने के लिये अपनी अंगुलियों और नाखून वहां भेजती है और ब्राह्मण मुख अपने दांत वहां भेजता है। शूद्र पैर का वह दुःख दूर हो जाने पर ही इनको चैन पड़ती है। यही अवस्था समाज-शरीर में उसके मुख, भुजा, पेट और पैर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों की की होनी चाहिये। उनमें परस्पर के लिए किसी प्रकार की घृणा नहीं होनी चाहिये। उन्हें परस्पर प्रेम से मिल कर रहना चाहिये। एक दूसरे का सुख दुःख उन्हें अपना सुख दुःख समझना चाहिये। एक दूसरे की उन्नति अवनति उन्हें अपनी उन्नति-अवनति समझनी चाहिये। शूद्र का कष्ट और विपत्ति ब्राह्मण को अपना कष्ट और विपत्ति समझना चाहिये। और ऐसा समझ कर सब को सब के कष्ट और विपत्ति दूर करने में तथा सुख और सम्पत्ति बढ़ाने में निरन्तर भरपूर प्रयत्न करना चाहिये। उन्हें समझना चाहिये कि सबका जीवन सबके सहयोग पर अवलम्बित है। इसलिये कोई किसी से ऐसा ऊंचा नहीं है कि वह घमण्ड में चूर होकर दूसरे से घृणा करने लगे। यदि कुछ ऊंच नीच है तो वह योग्यता और सेवा पर अवलम्बित है। जो जितना अधिक गुणवान् है और जितना अधिक दूसरों की सेवा करता है वह उतना ही अधिक ऊँचा है। योग्यता और तज्जन्य सेवा के कारण ही उसे ऊंचा समझ कर दूसरों को उसका मान और सत्कार करना चाहिये। अपने से अधिक योग्य और राष्ट्र की अपने से अधिक सेवा करने वाले व्यक्ति को अपने से ऊंचा मानना और ऊंचा मानकर उसका सत्कार करना सत्कार करने वाले व्यक्ति के आत्मा को उन्नत करता है और सत्कृत व्यक्ति को राष्ट्र-सेवा के लिये और अधिक उत्साहित करता है। इस प्रकार की सात्त्विक ऊंच-नीच के अतिरिक्त और किसी प्रकार की ऊंच-नीच वेद के ब्राह्मण आदि विभाग में नहीं है। वैदिक उपदेश के वास्तविक रहस्य को न समझने के कारण आधुनिक हिन्दु समाज में प्रचलित जन्म पर आश्रित वर्ण व्यवस्था में जो ऊंच नीच के भाव पाये जाते हैं वे घृणा पर अवलम्बित भाव वेद के अभीष्ट ब्राह्मणादि विभाग में नहीं है। ब्राह्मण सब से ऊंचा इसलिये है क्योंकि वह सब से योग्य और राष्ट्र का सब से अधिक सेवक है। शरीर में सिर का सब अंगों से अधिक महत्व है; क्योंकि सिर पर शरीर का जीवन सब से अधिक अवलम्बित है। इसी प्रकार राष्ट्र में ब्राह्मण का महत्व सब से अधिक इसलिये है कि उस पर राष्ट्र के जीवन की उन्नति सब से अधिक अवलम्बित है। वेद का यह ब्राह्मणादि का विभाग योग्यता, सेवा, सहयोग और प्रेम पर आश्रित है। इसमें घृणा और मानसिक तुच्छता का स्थान नहीं है। इस प्रकार इस मन्त्र में जो उपदेश

दिया गया है उसका निष्कृष्टार्थ यह है कि प्रत्येक राष्ट्र का जन-समाज ब्राह्मण, क्षत्रिय, वै
और शूद्र इन चार विभागों में विभक्त होना चाहिये। जो लोग भान्ति-भांति के विद्या-विज्ञ
के क्षेत्र में जीवन लगाकर ज्ञान के संग्रह और संगृहीत ज्ञान के प्रचार में लगे रहेंगे, तप
का जीवन व्यतीत करेंगे ; सहनशील, स्वार्थ हीन और परोपकारी होंगे वे ब्राह्मण कहलायें
जो लोग अपने अन्दर बल-वीर्य्य का विशेष सम्पादन करेंगे और इस सञ्चित शक्ति को र
के लोगों की अन्याय-अत्याचार से रक्षा करने में खर्च करेंगे उन्हें क्षत्रिय कहा जायगा।
लोग अपना जीवन भांति भांति के व्यापार-व्यवसाय करके भोजन वस्त्र आदि प्राकृतिक सम्प
उत्पन्न करने और इस सम्पत्ति द्वारा राष्ट्र के लोगों का भरण-पोषण करने में लगायेंगे उ
वैश्य कहा जायगा। जो लोग न तो ज्ञान-सञ्चय और ज्ञान-प्रचार का काम कर सकेंगे अ
न ही अन्याय-अत्याचार से राष्ट्र के लोगों की रक्षा तथा प्राकृतिक सम्पत्ति की उत्पत्ति क
उनके भरण-पोषण का काम कर सकेंगे, जो लोग केवल ब्राह्मण आदि की सेवा का ही क
कर सकेंगे उन्हें शूद्र कहा जायगा। दूसरे शब्दों में जो लोग राष्ट्र के अज्ञान से पैदा होने व
कष्टों को दूर करने का व्रत लेंगे वे क्षत्रिय कहलायेंगे। जो लोग सम्पत्ति के अभाव से होने वा
राष्ट्र के कष्टों को दूर करने का व्रत लेंगे वे वैश्य कहलायेंगे। और जो लोग इन तीनों कामों
से कोई भी न कर सकेंगे, केवल इन कामों को करने वाले लोगों की सेवा भर ही कर सकें
उन्हें शूद्र कहा जायेगा। इन चारों प्रकार के लोगों को परस्पर प्रेम से मिल कर रहना चाहिये
और सब को अपने आप को राष्ट्र के समाज-शरीर का अंग समझना चाहिए। ऐसा समझ क
उन्हें सामूहिक जीवन की उन्नति के लिये निरन्तर उद्योग शील रहना चाहिये।

इस प्रसंग में ऋग्वेद का निम्न मन्त्र भी देखने योग्य है।

> क्षत्राय त्वं श्रवसे त्वं महीया इष्टये त्वमर्थमिव त्वमित्यै।
> विसदृशा जीविताभि प्रचक्ष उषाअजीगर्भुवनानि विश्वा॥ ऋग् १। ११३।

मन्त्र का शब्दार्थ इस प्रकार है :—

"(त्वं) एक को (क्षत्राय[1]) बल और राष्ट्र सम्बन्धी (श्रवसे[2]) यश के लिये (त्वं) एव
को (महीयै) बड़े बड़े (इष्टये) यज्ञों के लिए (त्वं) एक को (अर्थम्) धन क (इव[3]) लिय
(त्वं) एक को (इत्यै) चलने फिरने के लिये इस प्रकार (विसदृशा) असमान स्वभाव वाले
(जीविता) प्राणियों को (अभि प्रचक्षे) अपने अपने काम करने के लिये प्रकाशित करने के
लिये (उषाः) उषा ने (विश्वा) सब (भुवनानि) लोकों को (अजीगः) उगल कर अन्धकार
से बाहर कर दिया है।

सब जगत् अन्धकार से निगला हुआ पड़ा था। प्रातः काल उषा आई और उसने जगत्

(१) ओजः क्षत्रम्। ऐ० ८। २, ३, ४॥ क्षत्रं हि राष्ट्रम्। ऐ ७। २२॥

(२) श्रवो यशः—श्रूयते इति श्रवः। ऋग् १। १२६। २ मन्त्र भाष्ये श्रवः कीर्तिं मिति सायणः।

(३) अर्थमिव अर्थं प्रति इति सायणः।

उगल कर अन्धकार से बाहर कर दिया। क्यों उषा ने जगत् को अन्धकार से बाहर कर
। ? इसलिए की विभिन्न स्वभाव वाले लोगों को प्रकाश मिल सके जिससे वे अपने अपने
ों को भली भांति कर सकें—कोई क्षत्र कर्म कर सके, कोई यज्ञ के कर्म कर सके, कोई
—सम्पादन के कर्म कर सके और कोई चल फिर कर साधारण सेवा आदि के कर्म
सके।

मन्त्र कहता है कि प्राणी विसदृश होते हैं। वे एक समान नहीं होते। उनके स्वभाव
न भिन्न होते हैं। और स्वभावों की भिन्नता के कारण वे कर्म्म भी भिन्न भिन्न प्रकार के
ते हैं। मनुष्य स्वभाव की भिन्नता के कारण किस प्रकार के भिन्न भिन्न काम किया करते हैं
का एक सामान्य वर्गीकरण मन्त्र के पूर्वार्द्ध में कर दिया है। कुछ लोगों को क्षात्र सम्बन्धी
से प्रेम होता है। क्षत्र शब्द वैदिक साहित्य में बल और राष्ट्र अर्थों में प्रयुक्त होता है।
त्रय अर्थ में भी यह शब्द वेद और दूसरे संस्कृत-साहित्य में खूब प्रयुक्त होता है। यहां यह
द श्रवः का विशेषण हो कर आया है। श्रवः यश को कहते हैं। इसलिये क्षत्र श्रवः का
 होगा बल सम्बन्धी, राष्ट्र सम्बन्धी और क्षत्रियों सम्बन्धी यश। कुछ लोगों को बल के,
ट्र रक्षा के क्षत्रियोचित कार्य्य करके यशस्वी बनने की इच्छा होती है। क्षत्रिय* का अर्थ
होता है जो क्षत्र अर्थात् राष्ट्र-रक्षा और बल वीरता के कार्यों में निपुण हो।

कुछ लोगों को इष्टियों से प्रेम होता है, भांति २ के यज्ञ, यागादि कर्मों में अभिरुचि
ी है। यज्ञ शब्द बहुत विस्तृत भाव को अपने भीतर लिये हुए है। एक तो यज्ञ शब्द
र्मिक क्रिया-कलाप का सूचक है। दूसरे यह शब्द अपने धात्वर्थ के बल से जितने भी देव-
ा, संगति करण और दान के कार्य हैं उन सब का बोधक है। देव पूजा से परमात्मा की
ाराधना और उपासना तथा अग्नि, जल, विद्युत आदि देवों के गुणों का परिज्ञान और
 से समुचित उपयोग लेना अभिप्रेत होता है। ज्ञानी विद्वान् पुरुषों की सेवा में उपस्थित
कर उन का मान-सत्कार करना तथा उन से विविध विद्या विज्ञानों को सीखना भी देव-
ा से अभिप्रेत होता है। संगतिकरण से विद्युत् जल आदि पदार्थों के मेल से तरह तरह के
ार्थों का निर्माण करने के लिये शिल्पशालायें स्थापित करना, राष्ट्र के लाभ के लिये मिल
र चलाये जाने वाले भांति-भांति के विद्यालय और दूसरे संघटनों की स्थापना करना,
विध बातों के विचार और प्रचार के लिये भांति-भांति की सभा समितियों की रचना
रना आदि लोकोपकारी कामों का ग्रहण होता हैं। दान से अपनी विद्या आदि शक्तियों को
ल्याण भावना से अन्यों को अर्पण करना अभिप्रेत होता है। मन्त्र का इष्टि शब्द इन सब
ावों का द्योतक है। कुछ लोगों की प्रवृत्ति स्वभाव से इष्टिमय, यज्ञ-मय होती है। उनकी
वृत्ति स्वभाव से धर्मप्रवण होती हैं। उनका चित्त अग्निहोत्रादि यज्ञ कर्मों में लगता है। पर-
ात्मा की आराधना और उपासना में उनकी अभिरुचि होती है। वे विद्वानों की संगति में

(१) क्षत्रे राष्ट्रे साधु, तस्यापत्यं जातौ वाघः। वाचस्पत्यम्

जाकर भांति-भाति के विद्या विज्ञानों को सीखते हैं अग्नि, वायु, जल, विद्युत आदि देवों के गुणों का परिज्ञान करके उनसे अनेक प्रकार के उपयोग लेने का उपाय सोचने उनका चित्त लगता है। लोगों के भले के लिये वे विविध विद्याओं और विचारों के लि गुरुकुलों और दूसरी संस्थाओं का निर्माण करते हैं। जो कुछ भी धर्म भावना और वि आदि शक्तियें उनके पास हैं उनको वे दूसरों को दान करने के लिये सदा तय्यार रहते हैं।

कुछ लोग इनसे भिन्न एक तीसरी प्रवृत्ति के होते हैं। उनका चित्त अर्थ की ओ जाता है, वे भांति-भांति की धन सम्पत्ति कमाना चाहते हैं। इसके लिये तरह तरह के व्याप व्यवसायों का अवलम्बन करते हैं। 25.2/55

एक चौथे प्रकार के लोग होते हैं। उनमें ऊपर कही हुई तीनों प्रवृत्तियों में से कोई नहीं होती। वे विशेष योग्यता से सबन्ध रखने वाला कोई भी कार्य नही कर सकते। उन जीवन में साधारण "इति"—चलना फिरना होती है।

विशेष कौशल उनमें किसी काम के लिये नहीं होता। सेवा आदि के साधारण काम जिनमें सामान्य चलना फिरना ही, शरीर और मन की सामान्य गति ही अपेक्षित होते वे लोग कर सकते हैं। जिन कामों में शरीर और मन की विशेष कौशलयुक्त गति की आवश्य कता होती है उन कामों को वे नहीं कर सकते। 28645

मनुष्यों की प्रवृत्तियों का सामान्य वर्गीकरण इन चार विभागों में ही हो सकता है जो पहली प्रवृत्ति के लोग हैं उन्हें क्षत्रिय कहा जाता है, जो दूसरी प्रवृत्ति के लोग हैं, उ ब्राह्मण कहा जाता है, जो तीसरी प्रवृत्ति के लोग हैं उन्हें वैश्य कहा जाता है और जो चौथ प्रवृत्ति के लोग हैं उन्हें शूद्र कहा जाता है।

पुरुष सूक्त के ऊपर उद्धृत ब्राह्मण आदि नामों और उनके मुखादि के साथ रूपक पुरुष-समाज के जिस विभाग की ओर निर्देश किया गया था उसी को मनुष्यों की स्वाभावि चार प्रवृत्तियों के वर्णन द्वारा प्रस्तुत मंत्र में प्रकारान्तर से बताया गया है। इन दोनों मन्त्रों के समन्वयात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वेद में समाज के जिस ब्राह्मण आदि विभाग की कल्पना की गई है वह मनुष्यों की प्रवृत्तियों के स्वाभाविक भेद पर आश्रित है और वह इसी लिये पूर्ण वैज्ञानिक है। यदि मनुष्यों को उनकी स्वाभाविक प्रवृत्तियों को ध्यान में रखकर शिक्षा दी जायगी और उन्हें राष्ट्र के लिये तय्यार किया जायगा तो राष्ट्र और व्यक्ति दोनों का ही बहुत अधिक कल्याण होगा।

वैदिक धर्म में, समाज की इस ब्राह्मणादि विभाग में की जाने वाली व्यवस्था को, वर्ण व्यवस्था कहते हैं। वर्ण* का अर्थ होता है जो चुने अथवा चुना जाय। ब्राह्मण ज्ञानार्जन और ज्ञान प्रचार को अपने जीवन के लक्ष के रूप में चुन लेता है इसी लिये वह ब्राह्मण वर्ण कहलाता है। अथवा ब्राह्मण के ज्ञानार्जन और ज्ञान प्रचार रूप ब्राह्मणत्व धर्म ब्राह्मण द्वारा

* वर्णो वृणोतेः। निरु० २।१।३ उणादि० ३।१०

ने जीवन के लक्ष्य के रूप में चुने जाते हैं इसलिये ब्राह्मण के धर्मों को वर्ण कहा जाता है
इन चुने हुए धर्मों (वर्ण) वाला होने से ब्राह्मण को ब्राह्मण वर्ण वाला कहा जाता है।
प्रकार क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र भी वर्ण कहे जाते हैं। ब्राह्मण आदि के साथ "वर्ण" शब्द
प्रयोग का यह भाव होता है कि उन्हें सदा स्मरण रहे कि उन्होंने अपने जीवन का एक विशेष
चुना है और इस लिये सदा उन्हें इस लक्ष की पूर्ति में यत्नशील रहना चाहिए। इस शब्द
प्रयोग से यह भी स्पष्ट ध्वनित होता है कि वर्ण व्यवस्था जन्म पर नहीं प्रत्युत गुण-कर्म पर
श्रित है। जो व्यक्ति जिस वर्ण के गुण-कर्मों का चुनाव अपने जीवन के लक्ष के रूप में कर
उसका वही वर्ण हो जायगा। इस प्रकार वर्णव्यवस्था का आधार समाज की सेवा की
ग्यता है, किसी विशेष वंश में उत्पन्न होना नहीं।

(२) क्या वेद में वर्ण व्यवस्था नहीं है ?

कई लोग वर्ण व्यवस्था पर यह आक्षेप करते है कि यह मनु आदि लोगों की अपनी
नत चीज है, इसका वेद में विधान नहीं है। इन लोगों के कथनानुसार ब्राह्मण आदि चार
ों का वेद में कहीं विधान नहीं है वेद में ब्राह्मण आदि के साथ कहीं भी "वर्ण" शब्द
ग नहीं हुआ है। इन लोगों के अनुसार वेद में दो ही वर्ण हैं। एक आर्य वर्ण और दूसरा
वर्ण। क्योंकि वेद में "वर्ण" शब्द का प्रयोग आर्य और दस्यु के साथ ही हुआ है।
ने अच्छे लोग है वे आर्य वर्ण हैं और जितने दुष्ट, अत्याचारी, लोग हैं वे दस्यु वर्ण हैं।
ष्य समाज के बस ये ही दो विभाग होने चाहियें। इससे अधिक विभागों में मनुष्य समाज
बांटना उसका अहित करना है। ऐसा इन लोगों का कहना है।

यह ठीक है कि वेद में कहीं भी ब्राह्मण आदि के साथ "वर्ण" शब्द का सीधा प्रयोग
ं हुआ है। परन्तु इतने से वेद में वर्ण व्यवस्था का विधान नहीं है ऐसा नहीं कहा जा
ता। प्रकारान्तर से वेद में ब्राह्मण आदि के साथ वर्ण शब्द के प्रयोग की सिद्धि हो जाती
वेद के निम्न मन्त्र—

> विजानी ह्यार्यान् ये च दस्यवो बर्हिष्मते रंधया शासद व्रतान्।
> शाकी भव यजमानस्य चोदिता विश्वेत्ता ते सधमादे चाकन ॥ ऋग्० १।५१।८॥

में मनुष्य समाज के दो विभाग किये गये हैं—आर्य और दस्यु।

मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है:—

"हे इन्द्र (सम्राट् और परमात्मन्) तुम आर्यों को और जो दस्यु हैं उनको जानो।
धर्मों का भंग करने वाले (अव्रतान्) दस्युओं का, उन पर शासन करता हुआ तू राष्ट्र यज्ञ
लगे हुये (बर्हिष्मते) मुझ प्रजा जन के लिये, नाश करदे और इस प्रकार हे शक्तिशाली
ाली) इन्द्र तू राष्ट्र यज्ञ में लगे हुये (यजमानस्य) मुझ प्रजाजन का उत्तम कर्मों में प्रेरणा
ने वाला बन। तेरे समग्र रक्षा कर्मों को हे इन्द्र! मैं मिलकर आनन्द देने वाले अपने
वहार यज्ञों में (सधमादेषु) प्राप्त करना चाहता हूं (चाकन)"

मन्त्र में प्रजाजन स्पष्ट रूप से इन्द्र से कहता है कि हे महाराज ! प्रजा में दो प्रकार के लोग हैं। एक आर्य और एक दस्यु। जो दस्यु हैं उन्हें आप दण्डित कीजिये और इस प्रकार आर्यों की रक्षा कीजिये। मैं आर्य हूं इस लिये मेरी भी रक्षा कीजिये। दस्यु किस प्रकार के लोगों को कहते है यह भी मन्त्र में उन्हें "अव्रत" कह कर स्पष्ट कर दिया गया है। जो समाज के व्रतों का, नियमों और कर्मों का, विघात करते हैं वे दस्यु हैं। इससे विपरीत जो लोग राष्ट्र के व्रतों का पालन करते हैं वे आर्य हैं। इस मन्त्र से मनुष्य समाज के दो भेद, एक आर्य अर्थात् अच्छे लोग और दूसरे दस्यु अर्थात् बुरे लोग, स्पष्ट सिद्ध हो गये।

अब इस प्रसंग में वेद का निम्न मन्त्र देखिये—

हत्वी दस्यून् आर्यं वर्णं मावत। ऋग्० ३।३४।६ ॥ अथर्व० २०।११।६ ॥

अर्थात्—"इन्द्र (सम्राट् और परमात्मा) दस्युओं को मार कर आर्य वर्ण की रक्षा कर लेता है।"

इस मन्त्र में भी दस्यु लोगों को दण्ड के योग्य बताया गया है और आर्य लोगों को रक्षा के योग्य कहा गया है। साथ ही इस मन्त्र में आर्य के साथ "वर्ण" शब्द का प्रयोग किया गया है। समग्रवेद में यहीं आर्य के साथ वर्ण शब्द का प्रयोग हुआ है।

इस मन्त्र को ध्यान में रख कर पुरुष सूक्त के ऊपर वर्णित "ब्राह्मणो ऽस्य मुखमासीत्" मन्त्र को पुनः ध्यान में लाइये। पाठक देख चुके हैं कि पुरुष सूक्त में पुरुष अर्थात् प्रभु द्वारा समग्र सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन है। उसी प्रसंग में मनुष्य समाज की उत्पत्ति का भी वर्णन हुआ है और इस "ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्" मन्त्र द्वारा वहां पर मनुष्य समाज के ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार विभाग किये गये हैं। इससे स्पष्ट है कि वेद को मनुष्य-समाज के ये चार विभाग अभीष्ट हैं। ऊपर ऊपर के दोनों मन्त्रों में हमने अभी देखा है कि वेद की सम्मति में मनुष्यों में दस्यु लोग मारने योग्य हैं और आर्य लोग रक्षा करने के योग्य हैं। पुरुष सूक्त में कहा गया ब्राह्मण आदि का विभाग वेद का अपना बताया हुआ विभाग है। इस लिये वेद के इन्द्र द्वारा ये ब्राह्मण आदि लोग तो रक्षा करने के योग्य होंगे ही। इस लिये स्पष्ट है कि ब्राह्मण आदि लोग दस्यु से भिन्न हैं। क्योंकि दस्यु दण्डनीय है और ब्राह्मण आदि रक्षणीय हैं। उद्धृत ऋग् ३।३४।६ में दस्यु के विपरीत आर्य लोगों को रक्षणीय बताया गया है। इसलिये रक्षणीय होने से आर्य्य लोग और ब्राह्मणादि लोग एक ही हो जाते हैं। अर्थात् ब्राह्मण आदि लोग आर्य्य हैं। अब इसी उद्धृत ऋग् ३। ३४। ६ मन्त्र में आर्य्य लोगों को वर्ण कहा गया है। परिणामतः ब्राह्मणादि लोग स्वयं ही वर्ण हो गये। सीधी स्थिति है। ब्राह्मणादि आर्य्य हैं, और, आर्य्य वर्ण हैं, इसलिये ब्राह्मण आदि वर्ण हैं। इस प्रकार ब्राह्मणादि के साथ वेद में वर्ण शब्द का सीधा प्रयोग न होने पर भी उन के साथ वर्ण शब्द की सिद्धि अनायास हो जाती है यह तो हुआ आर्य्य वर्ण के सम्बन्ध में। अब लीजिये दस्यु वर्ण को। जो लोग यह कहते हैं कि वेद में आर्य्य वर्ण के विपरीत दस्यु वर्ण का विधान है वे सर्वथा भ्रान्त कहते

है। वेद में कहीं भी दस्यु शब्द के साथ वर्ण शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है। वेद के निम्न मन्त्र । दासं वर्णमधरं गुहाकः । ऋग् २ । १२ । ४ अथर्व० २० । ३४ । ४ में दास के साथ वर्ण शब्द का प्रयोग हुआ है। ये लोग दास और दस्यु को पर्याय वाची समझ कर कह देते हैं कि वेद में दस्यु के साथ वर्ण शब्द का प्रयोग हुआ है और आर्य्य वर्ण के मुकाबले में दस्यु वर्ग की सत्ता वेद में मानी गई है। दस्यु और दास को पर्यायवाची समझना भारी भूल है। इस भूल का आधार सायणाचार्य्य का भाष्य है। सायणाचार्य्य ने दो-एक स्थलों को छोड़ कर प्रायः सर्वत्र दास का अर्थ दस्यु किया है। कितने ही स्थलों में वेद में दास का अर्थ सेवक या शूद्र होता है। वेद में दास के सेवक, शूद्र अर्थ को देख कर ही मनु आदि ने ने शूद्रों के नामों के साथ दास शब्द जोड़ने का विधान किया प्रतीत होता है। इसीलिये ऋषि दयानन्द ने अपने वेद भाष्य में अनेक स्थानों पर दास का अर्थ सेवक शूद्र, किया है। वेद में कई स्थल ऐसे आते हैं जहां दास का अर्थ सेवक ही करना पड़ेगा, वहां दस्यु अर्थ नहीं किया जा सकता। उदाहरण के लिये निम्न मन्त्र देखिये :—

अरं न दासो मीढुषे कराणी। ऋग् ७ । ८६ । ७

अर्थात्—"हे वरणीय भगवान् (वरुण) जैसे दास स्वामी की भक्ति करता है वैसे ही मैं भी आप की खूब भक्ति करू।"

इस मन्त्र में स्पष्ट ही दास का अर्थ सेवक है। दस्यु अर्थ यहां संगत नहीं हो सकता सायणाचार्य को भी यहां दास का अर्थ भृत्य अर्थात् सेवक ही करना पड़ा है। इसीप्रकार ऋग्वेद के चतुर्थ मण्डल के १६वें सूक्त से लेकर २४वें सूक्त तक के अन्तिम मन्त्र के अन्तिम चरण में। स्याम रथ्यः सदासाः ये शब्द आते हैं। इन शब्दों से ऊपर के मन्त्र भाग में कहा गया है कि "हे प्रभो (इन्द्र) हमने आप की वेदोक्त स्तुति करली है।" इस वाक्य के पश्चात् ये उद्धृत शब्द प्रार्थना रूप में आते हैं। इन में कहा गया है कि हे भगवान् आप की स्तुति के कारण हम रथों वाले और सदास अर्थात् दासों से युक्त हो जायें। "यहां दास का अर्थ दस्यु नहीं सेवक ही करना होगा। कोई भी भगवान् से अपने घर में दस्यु भेजने की प्रार्थना नहीं कर सकता। इसी भांति ऋग् ८ । ५१ । ६ में ये शब्द आते हैं:—यस्यायं विश्व आर्य्यो दासः शेवधिपाः

यह वाक्य इन्द्र का विशेषण है। इस का अर्थ है—"जिस इन्द्र का आर्य्य और दास सब जन-समुदाय शेवधिपा अर्थात् खज़ाने की रक्षा करने वाला है।" आर्य्य और दास दोनों मिल कर इन्द्र के—परमेश्वर के—शेवधि की, खज़ाने, की रक्षा करते हैं। यहां भी दास का अर्थ दस्यु नहीं हो सकता। दस्यु रक्षा नहीं करता वह विनाश करता है। दास का अर्थ यहां सेवक शूद्र ही करना होगा। यों आर्य्य में ऊपर प्रदर्शित रीति से चारों वर्ण आ जाते हैं। परन्तु यहां शूद्र का वाचक दास शब्द अलग आ जाने से आर्य्य का अर्थ शेष तीन वर्णों के लिये ही करना होगा।

इन और इन जैसे ही कितने ही अन्य स्थलों मे दास का अर्थ दस्यु किसी प्रकार भी नहीं हो सकता। इन स्थलों में यह शब्द सेवक का, शूद्र का, ही वाचक है। वस्तुतः वेद में दास शब्द का दो प्रकार का प्रयोग है। एक दास शब्द में कर्त्ता में प्रत्यय है। "यः दस्यति स दास":—जो दूसरों का क्षय करता है वह दास है। इस अर्थ में यह शब्द दस्यु का वाचक होता है। और दूसरे दास शब्द में कर्म प्रत्यय है "यः दस्यते स दासः":—जो क्षीण होता है वह दास है। इस अर्थ में यह शब्द सेवक का, शूद्र का, वाचक होता है। वास्तव में दस्यु और शूद्र के वाचक दास शब्द सर्वथा भिन्न शब्द हैं। लिखने में इनकी आकृति और सुनने में इनकी ध्वनि एक जैसी है। परन्तु प्रत्यय-भेद के कारण ये शब्द सर्वथा भिन्न दो शब्द हैं। कहां दास का अर्थ दस्यु करना है और कहा सेवक करना है इसका निर्णय प्रकरण को देखकर करना होगा। इस मर्म को न समझने के कारण कुछ लोग वेद के दास और दस्यु को एक ही समझने की भूल कर बैठे हैं। आर्य्य समाज में इस भूल के प्रचारक पं० शिवशंकर जी काव्यतीर्थ हैं। उनके पश्चात् कई और पंडितों ने भी आर्य्य समाज में यह भूल की है।

इसलिये "यो दासं वर्ण मधरं गुहाकः" इस मन्त्र खण्ड से वेद में दस्यु वर्ण की सिद्धि नहीं हो सकती। इस मन्त्र में प्रयुक्त दास शब्द दस्यु का वाचक नहीं है। यहां यह शब्द सेवक का शूद्र का, वाचक है। इस मन्त्र खण्ड का शब्दार्थ इस प्रकार है:—

"(यः) जो इन्द्र [सम्राट् परमेश्वर] (गुहा[1]) बुद्धि में (अधरं) नीचे पुरुष को (दासं वर्ण) दास वर्ण (कः) कर देता है।"

इस प्रकार इस मन्त्र में यह बताया गया है कि शूद्र किस प्रकार के व्यक्ति को कहते हैं। जो बुद्धि में नीचा है, जिसमें ज्ञान शक्ति कम है, ऐसे पुरुष को दास या शूद्र वर्ण का व्यक्ति कहा जाता है। किसी विशेष वंश में उत्पन्न होने से कोई व्यक्ति शूद्र वर्ण का नहीं होता। शूद्रत्व का निश्चायक ज्ञान शक्ति की हीनता है। किसी भी वंश का व्यक्ति ज्ञान-हीन होने की अवस्था में शूद्र कहलायेगा।

इस मन्त्र में दास का अर्थ दस्यु इस लिये भी नहीं हो सकता कि यहां इसके साथ वर्ण शब्द का प्रयोग हुआ है। वर्ण शब्द में चुनने का भाव है यह हम ऊपर देख चुके हैं। कोई समाज अपने में से किसी व्यक्ति को दस्युत्व के जीवन का चुनाव करने की स्वीकृति नहीं दे सकता। और न ही दस्युत्व कोई चुनाव करने योग्य वस्तु ही है। इसलिये जीवन के समाजोपयोगी लक्ष्य के चुनाव का बोधक आर्य्य लोगों के साथ प्रयुक्त होने वाला वर्ण शब्द

१. गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति। ऋग् १।१६४।४५ "त्रीणि पदानि निहिता गुहास्य। यजुः ३२।६"
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम्। महाभारतम्। एवं विभिषु स्थलेषु सर्वत्र गुहा शब्दो बुद्धेर्वाचको भवति।
तिस्त्रः प्रजा आर्य्या ज्योतिरग्राः। ऋग् ७।३३।७

वेद में दस्यु के लिये नहीं प्रयुक्त हो सकता था। इस प्रकार दास के साथ वर्ण शब्द के प्रयोग की ध्वनि भी यही है कि यहां दास शब्द दस्यु के लिए नहीं प्रत्युत शूद्र के लिये, जो कि आर्य्य लोगों का ही एक अंग है, आया है।

इस भांति वेद का गहरा अध्ययन करने पर यह स्पष्ट परिणाम निकलता है कि वेद के अनुसार मनुष्य जाति के दो भेद हैं —आर्य्य और दस्यु। आर्यों के चार भेद हैं—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। आर्य्य लोग वर्ण के लोग हैं। ये लोग स्वाभाविक प्रवृत्ति के अनुसार समाज की यथोचित सेवा की दृष्टि से ब्राह्मण आदि के जीवन का वरण (चुनाव) करके वर्ण-व्यवस्था की रीति से चार विभागों में बांट कर रहते हैं। फिर इन आर्य्यों में दो भेद हो जाते हैं—आर्य्य वर्ण और दास या शूद्र वर्ण। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन तीन को आर्य्य वर्ण कहते हैं और शूद्र को दास या शूद्र वर्ण कहते हैं। शूद्र की तुलना में ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य को आर्य्य क्यों कहते हैं इसका समाधान वेद के निम्न मन्त्र में किया गया है:—

अर्थात्—"तीन प्रकार की प्रजायें आर्य कहलाती हैं क्योंकि वे ज्योति में अर्थात् ज्ञान के प्रकाश में अग्रगामी होती हैं।"

पुरुष सूक्त में, जैसा हम ऊपर देख आये हैं, अच्छे लोगों के ब्राह्मण आदि चार भेद किये गये हैं। उनमें से पहले तीन ज्ञान में अधिक होने के कारण आर्य्य कहलाते हैं। और शूद्र के सम्बन्ध में अभी ऊपर हम देख ही आये हैं कि "यो दासं वर्ण मधरं गुहाकः" (ऋग् २।१२।४)—जो बुद्धि में, ज्ञान शक्ति में, हीन है वह दास या शूद्र वर्ण है। वेद के इसी आशय को ध्यान में रखकर ऋषि दयानन्द ने अपने मान्य ग्रन्थ सत्यार्थ प्रकाश में लिखा है—

"श्रेष्ठों का नाम आर्य्य, विद्वान, देव और दुष्टों के दस्यु अर्थात् डाकू, मूर्ख नाम होने से आर्य और दस्यु दो नाम हुये। आर्यों में पूर्वोक्त प्रकार से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चार भेद हुये। द्विज विद्वानों का नाम आर्य्य और मूर्खों का नाम शूद्र और अनार्य्य अर्थात् अनाड़ी नाम हुआ।" एक दूसरे स्थान पर उसी ग्रन्थ में लिखा है—"आर्य्य नाम धार्मिक, विद्वान्, आप्त पुरुषों का और इन से विपरीत जनों का नाम दस्यु अर्थात् डाकू, दुष्ट, अधार्मिक और अविद्वान का है तथा ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य, द्विजों, का नाम आर्य्य और शूद्र का नाम अनार्य्य अर्थात् अनाड़ी है। (स० प्र० अष्टम समु०)

वेद में, जैसा हम देख चुके हैं किसी घृणित वंश-विशेष में उत्पन्न होने के कारण किसी व्यक्ति को शूद्र नहीं कहा जाता। जिसमें ज्ञान शक्ति की कमी है वह शूद्र है, चाहे वह किसी भी वंश में क्यों न उत्पन्न हुआ हो। शूद्र के साथ किसी प्रकार की घृणा का सम्बन्ध नहीं है। प्रत्युत वह तो अनुकम्पा, दया और प्रेम का पात्र है दास और शूद्र नामों से ही यह बात प्रकट होती है। दास का शब्दार्थ हम अभी देख कर आ रहे हैं। जो उपदस्त है, क्षीण है, ज्ञानादि गुणों में हीन है, वह दास है। दास होने के, क्षीण होने के, कारण ही वह शूद्र

है। शूद्र का शब्दार्थ है—"शुचं द्रावयति"—जिसे देख कर दूसरों के मन में दया उत्पन्न हो कि देखो कुछ भी ज्ञान की योग्यता की, बात नहीं सीख सका। ज्ञान-क्षीण होने के कारण शूद्र दया और प्रेम का पात्र है, घृणा का नहीं है। इसीलिये वेद में अन्यत्र कहा गया है :—

रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु रुचं राजसु नस्कृधि।
रुचं वैश्येषु शूद्रेषु मयि धेहि रुचा रुचम् ॥ यजुः १८। ४८

अर्थात् "हे परमात्मन ! आप ब्राह्मणों में हमारा प्रेम कीजिये, क्षत्रियों में हमारा प्रेम कीजिये, वैश्यों में हमारा प्रेम कीजिये, और शूद्रों में हमारा प्रेम कीजिये, और प्रेम से मेरे अन्दर प्रेम कीजिये"

वर्तमान काल में जन्म पर आश्रित जो वर्ण व्यवस्था भारतीय हिन्दु समाज में प्रचलित हो गई है और उसमें जो शूद्रों के साथ घृणा के भाव पाये जाते हैं यह सब वेद के रहस्य को भूल जाने के कारण हुआ है।

ऊपर के पृष्ठों में जो विवेचन हुआ है उससे पाठक स्पष्ट रूप से इस परिणाम पर पहुंचेंगे कि वेद में वर्ण व्यवस्था का असंदिग्ध रूप से विधान है। जो लोग वर्तमान समय में यह कहने लग पड़े हैं कि वेद में वर्ण व्यवस्था नहीं है, वहां तो केवल आर्य और दस्यु इन दो वर्णों का ही विधान है, वे वेद के मर्म को न समझने के कारण ऐसा कहते हैं।

इस प्रकरण को समाप्त करते हुये हम वर्ण व्यवस्था के सम्बन्ध में एक बात और कह देना आवश्यक समझते हैं। यदि थोड़ी देर के लिये यह भी मान लिया जाय कि वेद से ब्राह्मण आदि के साथ वर्ण शब्द के प्रयोग की सिद्धि नहीं होती तो भी इससे यह नहीं सिद्ध होता कि वेद में ब्राह्मण आदि विभागों में समाज को विभक्त करने का विधान नहीं है। पुरुष सूक्त में और अन्यत्र ब्राह्मण आदि विभागों में समाज को विभक्त करने का वेद में स्पष्ट उल्लेख है ब्राह्मणादि के विभागो में समाज को विभक्त करके, व्यक्ति और राष्ट्र की उन्नति की दृष्टि से, समाज की व्यवस्था करना ही वर्ण व्यवस्था का वास्तविक तत्त्व हैं। इस तत्व का उपदेश वेद में स्पष्ट किया गया है। ब्राह्मण आदि के साथ वर्ण शब्द का प्रयोग वेद में न सही, ब्राह्मण आदि का विभाग वेद में विद्यमान है। ब्राह्मण आदि के साथ वर्ण शब्द का प्रयोग पीछे से ऋषियों ने कर दिया और समाज की इस ब्राह्मण आदि की व्यवस्था को वर्ण व्यवस्था का नाम दे दिया ऐसा स्वीकार कर लेने पर भी वर्ण व्यवस्था के तत्व की कोई हानि नहीं होती है। वर्ण एक सुन्दर भाव का द्योतक शब्द है। यदि उसे पीछे के ऋषियों और आचार्यों ने प्रचलित किया हो तो भी हमें उसका ग्रहण कर लेना चाहिये ; और ब्राह्मण आदि वेद-विहित व्यवस्था को वर्ण व्यवस्था के नाम से स्वीकार कर लेना चाहिये। क्योंकि वर्ण व्यवस्था का सिद्धांत तो वेद में विद्यमान है ही, भले ही उस सिद्धांत का नाम वर्ण व्यवस्था पीछे के आचार्यों ने रख दिया हो। यों जैसा हम ऊपर देख आये हैं ब्राह्मण आदि के साथ वर्ण शब्द के प्रयोग की सिद्धि वेद के द्वारा ही हो जाती है और वेद के आधार पर ही इस व्यवस्था को वर्ण व्यवस्था कहा जा सकता है।

दुःख की सुन्दरता

[लेखक—ला० पूर्णचन्द्र एडवोकेट, आगरा]

इस लेख के शीर्षक से ही पाठकों को आश्चर्य होगा कि दुःख का और सुन्दरता का सम्बन्ध कैसे हो सकता है। संसार में प्रचलित विचार तो यह है कि सुख और सुन्दरता का जोड़ा है। जो शुभ है वही सुन्दर है। प्रश्न हो सकता है कि मैंने इस प्रचलित विचार से विपरीत दुःख में सुन्दरता अनुभव करने और प्रगट करने का विचार क्यों किया। इस का एक विशेष कारण है। अभी कुछ दिन हुए मेरा व्याख्यान एक क्लब में हुआ। जिसका नाम शनिवार क्लब (Saturday Club) है, व्याख्यान का विषय था त्रैतवाद अर्थात ईश्वर, जीव और प्रकृति तीनों पदार्थ अनादि हैं और मैंने इस व्याख्यान में यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि जड़ और चेतन जगत् को ध्यान पूर्वक अवलोकन करने से एक तीसरी अनादि सत्ता की आवश्यकता स्वयमेव प्रतीत होती है और वह अनादि सत्ता ईश्वर की सत्ता है। ईश्वर जड़ जगत् में रचयिता या रचना का निमित्त कारण है। चेतन जगत् में शरीर निर्माण की दृष्टि से रचयिता है और शरीर व जीव के सम्बन्ध स्थापन करने की दृष्टि से न्यायकारी है और उसका न्याय न केवल शरीर निर्माण व योनि प्रदान करने तक सीमित है। परन्तु चेतन जगत् का सम्बन्ध जड़ जगत् के पदार्थों को उपभोग की दृष्टि से सारे देशों और तीनों कालों में प्रचलित है। उस व्याख्यान में जो उपस्थिति थी वह विशेष रूप से शिक्षा वा सायन्स के विशेषज्ञों की थी। उस क्लब की यह प्रथा है कि व्याख्यान के पश्चात् प्रेम पूर्वक प्रश्न और उत्तर होते हैं। उन उपस्थित सज्जनों में एक प्रोफैसर महोदय ने यह प्रश्न किया कि यदि इस विश्व में किसी सर्व शक्तिमान्, न्यायकारी, सत्ता का राज्य है तो इस संसार में यह पाप की समस्या क्यों है। और इस संसार में विशेष रूप से दुःख क्यों दृष्टिगोचर होता है। क्या इससे किसी दयालु न्यायकारी और शक्तिशाली, शक्ति की सत्ता असिद्ध नहीं होती। इस प्रश्न का उत्तर मैंने वहां समय की दृष्टि से संक्षेप से दिया। परन्तु यह प्रश्न कोई नया प्रश्न नहीं, ईश्वर की सत्ता पर विश्वास रखने वालों के सामने यह प्रश्न सदैव रहता रहा है और इसका समाधान करना आस्तिकों के लिये महान आवश्यक है, इस लिये मैंने इस प्रश्न के उत्तर पर व्याख्यान के पश्चात् विशेष रूप से विचार किया, और इस विचार से कि इस प्रश्न और इसके उत्तर का सम्बन्ध वैदिक धर्म और उसके सिद्धान्तों से विशेष और घनिष्ट है।

मैंने इस विषय पर लेख लिखना आवश्यक समझा। मैं इस प्रश्न का समाधान करने के पूर्व यह प्रकट करना आवश्यक समझता हूं कि संसार की दशा को देख कर ईश्वर की सत्ता में संशय करने वाले पाप और उसके परिणाम स्वरूप दुःख में भेद नहीं समझ सकते। और बहुधा दोनों में गड़बड़ कर देते हैं। अंग्रेजी भाषा में एक शब्द ईविल (Evil) जिसके दोनों अर्थ होते हैं, आचार के जगत् में (rthes) इसका अर्थ पाप या वह कर्म है जो करने योग्य नहीं और विश्व में अर्थात्

जगत् में इसका अर्थ वह घटनायें हैं जो प्राणियों के लिये रुचिकर व श्रेय नहीं हैं । अर्थात् ईविल दो प्रकार की है। एक को हम मौरल (Moral) अर्थात् सदाचार सम्बन्धी दूसरे को हम (Physical) अर्थात् भौतिक जगत् सम्बन्धी व दैविक घटनाओं सम्बन्धी कह सकते हैं। एक मे वह कारण रूप में उसका सम्बन्ध कर्तव्य व कर्ता से है । कार्य के रूप मे उस का सम्बन्ध साधारणतया सब से है। और इस सम्बन्ध को न समझ कर वह यह प्रश्न करते हैं कि यदि परमात्मा है और वह दुःख व पाप को नहीं मिटाता जब वह उसको मिटाने की शक्ति रखता है तो ईश्वर के गुणों और महान् सत्ता मे संशय होता है। इस प्रश्न को बहुत दिन पूर्व संत औगस्ताइन ने इस रूप में उठाया था। या तो परमात्मा पाप व दुःख को मिटा नहीं सकता या वह मिटाना नहीं चाहता। यदि वह मिटाने की शक्ति नहीं रखता तो वह सर्वशक्तिमान नहीं है और यदि वह मिटाना नही चाहता तो वह दयालु नहीं है। उसको ससार मे रहने वाले प्राणियो पर यदि परमात्मा ने जीवात्मा को बनाया और उसको पाप व अत्याचार करने वाली शक्ति और स्वतन्त्रता दे दी तो इसका उत्तरदायित्व भी ईश्वर पर ही है। ऐसे प्रश्न और उन के हेतु भ्रम मूलक हैं । हमें उनके समाधान के लिये इस दृश्य जगत् को सामूहिक रूप से अपने सामने रखना होगा।

दृश्य जगत—इस दृश्य जगतमें हम दो प्रकार के दृश्य देखते हैं। एक चेतन और दूसरा अचेतन (जड)। जड जगत् में हम देखते हैं कि पदार्थ परमाणुओं के संयोग से बनते हैं, बड़े होते हैं, और नाश को प्राप्त होते हैं। अर्थात् वह उत्पत्ति वृद्धि और नाश के चक्र में रहते हैं। इस उत्पत्ति, वृद्धि, और नाश के चक्र में कुछ अटल नियम काम कर रहे हैं । और इन नियमों में बुद्धिमत्ता और विशेष प्रयोजन की सिद्धि है। पदार्थ विज्ञान ने अपने अन्वेषण और परीक्षणों से यह सिद्ध कर दिया है कि इस सारे विश्व मे अटल नियम काम कर रहे हैं । पदार्थ विज्ञान विश्व के एक २ विभाग को लेकर परीक्षण करता है ; जैसे रसायन वाले पंच तत्वों पर परीक्षण करते हैं।

इसी प्रकार प्राणी विज्ञान वाले जीव अर्थात् जीवन की समस्या पर विचार करते हैं। यदि पदार्थ विज्ञान के हर विभाग के परीक्षणों को लक्ष्य मे रखा जावे तो यह विदित होगा कि इस विश्व मे अणु अणु हैं प्रत्येक परमाणु के संयोग व वियोग में रूप धारण करते और मिटने मे ऐसे नियम काम कर रहे हैं, जो देश और काल से बाहिर नहीं है। जिससे किसी विशेष प्रयोजन की सिद्धि होती है। नियमों के लिये निर्माण की आवश्यकता हैं। रचना के लिये रचयिता की। और रचयिता और निर्माण के लिये महान् ज्ञान वाला होना अनिवार्य है। वह सर्वव्यापक और सर्वज्ञाता होना चाहिये। इसी प्रकार दृश्य जगत के दूसरे चित्र से अर्थात् चेतन जगत् के अवलोकन से यह दृष्टिगोचर होता है कि चेतन जगत भी दो विभागों मे विभाजित किया जा सकता है । एक विभाग उनके शरीर हैं। और दूसरे वह जीव हैं, वह चेतन शक्ति है जो शरीर में विचरा करती है और इस शरीर को अपने कर्म करने का साधन बनाती है । जीव के लिये उसका शरीर कर्म करने वा भोग प्राप्त करने का साधन है और वह दृश्य जगत उसके कर्म करने का क्षेत्र है। शरीर और जीव के सम्बन्ध का नाम जन्म

। उस काल की अवधि का नाम, जब तक वह सम्बन्ध बना रहे आयु है । उस अवस्था का नाम
हां वह शरीरधारी जीव कर्म करे या निवास करे परिस्थिति अर्थात् (Envirenment) है ।
और उस शरीर से सम्बन्ध विच्छेद होने का नाम मृत्यु या जड़ जगत के दृष्टिकोण से रूप परिवर्तन
। नाश को प्राप्त होना है । चेतन जगत में भी जड़ जगत की भाँति उत्पत्ति, वृद्धि और नाश का
क्र है और इस चक्र में एक विषमता है और वह विषमता जाति, आयु, और भोग के दृष्टिकोण से
, अर्थात् कोई जीव किसी विशेष प्रकार के शरीर में कितने दिन कैसे और कहां रहे और कैसे रहने
ा सम्बन्ध उसके जड़ जगत् के पदार्थों को उपभोग में लाने के दृष्टिकोण से है। अर्थात् वह किस
कार के और कितने परिमाण में संसार के पदार्थों को उपभोग में ला सकता है। यह विषमता अकारण
हीं इसके अन्दर भी विशेष नियम काम कर रहे हैं । पदार्थ विज्ञान वालों ने विशेष कर विकास
ादियों ने अपने अन्वेषण और परीक्षणों से सिद्ध कर दिया है कि इस प्राणी जगत् में छोटे से प्राणी से
कर, मनुष्य तक विशेष नियम और अटल नियम काम कर रहे हैं और इस चेतन जगत् के निरीक्षण से
ावश्यकता होती है कि इस विषय में भी कोई ऐसी व्यवस्थात्मक शक्ति चाहिए जो इन विषमताओं से
वयम मुक्त हो। अर्थात् जो अजर, अमर, अनादि और अनन्त होनी चाहिये । जो निराकार होनी
ाहिए। जो इन विषमताओं में जो मर्यादा है उनको स्थापित और नियमित रख सके। हमने देखा कि
श्य जगत के दोनों विभागों को अर्थात् जड़ और चेतन की व्यवस्था को देख कर हम ईश्वर की
त्ता को भली भांति सिद्ध कर सकते हैं और न्याय और तर्क के आधार पर ईश्वर के गुणों को
र्धारित कर सकते हैं। जिस विषमता का ऊपर वर्णन किया गया है । उसको ही समझ लेने से
स प्रश्न का समाधान हो जायगा, जिसके सम्बन्ध में यह लेख लिखा गया है।

एक विचित्र बात

यहां हम पदार्थ विज्ञान वालों की एक ज्ञान शून्य या विज्ञान शून्य बात पर प्रकाश डालना
ाहते हैं। पदार्थ विज्ञान वाले और विशेष रूप से विकास वाद वाले इस जाति, आयु, भोग की विष-
ता और जीवन संघर्ष और योग्यता की विजय आदि को लक्ष्य में रख कर यह सिद्ध करना चाहते
कि सारी शृंखला में एक मर्यादा है । समानता और नियम है। वह प्रतिकूल परिस्थिति को ही
िकास का साधन मानते हैं । प्रतिकूल परिस्थिति का नाम दुःख है । विकास, नाम, सुन्दरता को
ाप्त करना है । विकसित होना अधिक सुन्दर होता है। इस लिये दुःख के आधार पर हम विषय
ोग चक्र को सुंदरता शून्य नहीं मान सकते। दूसरी ओर इस विषमता को लक्ष्य में रख कर इस
तिकूल परिस्थिति को लक्ष्य में रखकर ईश्वर की सत्ता को असिद्ध करना चाहते हैं। यह उनकी
हान् भूल है। उनकी यह बात ज्ञान से शून्य है। उन्होंने यह भूल क्यों की इसमें उनके दृष्टिकोण
ा दोष है। तत्वज्ञान अर्थात् (Philosphy) के अभिप्राय से जो भूल उपरोक्त प्रश्न के उठाने
ालों ने की है । उनके कुछ अंशों पर हम यहाँ प्रकाश डालना चाहते हैं और यह भी सिद्ध करने
ा यत्न करेंगे कि एक वैदिक सचाई से विमुख होकर बड़े २ तत्व ज्ञानियों को कैसे भ्रान्ति पूर्ण
और दोषयुक्त सिद्धान्त प्रचलित करने पड़े।

तीन अनादि पदार्थ

जैसा हमने ऊपर लिखा है, कि विश्व की पहेली तीन अनादि पदार्थों के मानने से ही सि: हो सकती है और सुलझ सकती है। यह एक न्याय का प्रसिद्ध सिद्धान्त है कि गुण और गुणी व अटूट और अनिवार्य सम्बन्ध है। ईश्वर के गुण दो ही प्रकार के हैं। या तो प्रकृति के सम्बन्ध या जीवात्मा के सम्बन्ध से। यदि काल की दृष्टि से कोई भी काल ऐसा माना जावे जहां केवल पर मात्मा हो और जीव और प्रकृति न हों तो ईश्वर ही नहीं रहेगा। ईश्वर में वह गुण नहीं रहेंगे जं इनके सम्बन्ध से है। यदि ईश्वर न्यायकारी है तो न्याय करने के लिये जीव और न्याय के क्षेत्र वे लिये दृश्य जगत चाहिये। इस लिये सब से बड़ी भूल यह की जाती है वह यह कि तीनों पदार्थ अनादि नहीं माने जाते इसलिये यदि यह भ्रम दूर हो जाय कि ईश्वर ने जीव को उत्पन्न किया तो जीव के गुणों और अवस्था का उत्तरदायित्व ईश्वर पर नहीं। जीव जैसा है अपने गुण कर्म स्वभाव से है, ईश्वर तं केवल अवस्थाओं को अर्पित करने वाला है।

दूसरी भूल

इस सम्बन्ध में जो दूसरी बात भूल की की जाती है वह यह कि जीव मानसिक दृष्टि से अनादि है, परन्तु है तो परमात्मा के संचालन के आधीन। यदि परमात्मा सर्व शक्तिमान है तो भी इस अनादि जीव की दैनिक दशा और विषमता का अन्त कर सक्ता है। यदि नहीं करता तो उस पर लाँछन आता है। इस शंका का साधन एक कल्पना के आधार पर हो सक्ता है।

कठपुतली

वर्षा ऋतु मे राजपूताने में कठपुतली के तमाशा करने बहुत से आ जाते हैं। इस तमाशे में दो अंग हैं। एक तमाशा करने वाले मारवाड़ी। दूसरे वह कठपुतलियां जिनके द्वारा और जिनके आधार पर तमाशा दिखाया जाता है। तमाशा दिखाने वाला तमाशा दिखाने या न दिखाने मे स्वतन्त्र है। अर्थात् यदि उसकी इच्छा हो और उसकी इच्छा के अनुकूल पैसा मिले तो वह दिखायेंगे। कठ-पुतली के सामने ऐसा कोई पेच नहीं है। चाहे उसको नचाने वाला नचादे तो उसे नाचना ही पड़ेगा। अब प्रश्न यह है कि आनन्द कठपुतली बनने मे है या स्वतन्त्र रहने में। जीव स्वतन्त्र कर्त्ता है। यदि वह स्वतन्त्रता से विहीन होगा तो कठपुतली के समान जड़ और निर्जीव रहेगा।

स्वतन्त्रता और आनन्द

आनन्द खुशी व सुख स्वतन्त्रता मे है। आनन्द का परिमाण स्वतन्त्रता के परिमाण पर आश्रित है। स्वतन्त्र रहने में स्वतन्त्रता नहीं है। स्वतन्त्रता तो जीवन के साथ है। परन्तु जो तन्त्र हमारे लिये प्रिय है वह स्वतन्त्र है। नियमों को पालन करते रहना और उन नियमों के पालन करने में स्वतन्त्रता का अवकाश होना ही जीवन का आनन्द है। मनुष्य के लिये उसके सामाजिक व्यक्तिगत जीवन मे निर्वाह के लिये तीन चीज़ें अनिवार्य है। एक वह नियम हैं जिनका प्रत्येक जीव को पालन करना आवश्यक है। प्रत्येक शरीर धारी जीव के लिये अन्य शरीरधारी जीवों के साथ जीवन निर्वाह

के सिल-सिले में संघर्ष व सम्पर्क मे आना अनिवार्य है । और इस संघर्ष और सम्पर्क के नियम अनादि व अनन्त होने चाहिये । प्रत्येक जीव अपने लिये मनमाने नियम नहीं बना सकता । क्योंकि उसके बनाये हुये नियम को दूसरा जीव क्यों माने । इसलिये नियम होने चाहिये और जीवों के अतिरेक उन नियमों का कोई निर्माता होना चाहिये और उस निर्माता में दंड विधान की शक्ति होनी चाहिये । अर्थात् जीव, नियम, पालन करने में स्वतन्त्र तो हो परन्तु नियमों को उल्लंघन करने की दशा में उन्हें पुनः नियमों की ओर लाने के लिये आकर्षण शक्ति होनी चाहिये । इसका ही नाम दंड विधान है । यदि सब जीव एक समान होंगे तो कोई आनन्द न होगा । जिस प्रकार स्वतन्त्रता में आनन्द है बिना स्वतन्त्रता के केवल जीव कठपुतली के समान है । इसी प्रकार विषमता में आनन्द है, इस विषमता के आनन्द को समझने के लिये दो एक उदाहरण अपने लक्ष्य में रखने होंगे ।

भीख और मजदूरी

यदि हम यह कल्पना करें कि कोई ऐसा नगर है जहां सब नगर निवासियों को बिना किसी परिश्रम और भेद भाव के एक सा खाना कपड़ा और एकसा रहने का स्थान मिल जाता है तो वहां आनन्द न होगा । तब वहां आनन्द होगा जहां परिश्रम की स्वतन्त्रता और परिणाम में न्याय हो । मनो विज्ञान की दृष्टि से आनन्द तो विषमता में ही है ।

परीक्षा और विद्यार्थी

यदि कोई ऐसा शिक्षणालय हो जहां परीक्षा का प्रश्न न हो जहां उत्तीर्ण होने की आशा और उत्तीर्ण न होने का भय न हो । जहां सब को एक से अङ्क अपने अपने आप मिल जांय तो उस शिक्षणालय में न तो विद्यार्थियों को उत्साह होगा और न उनके ज्ञान में वृद्धि ।

विषमता और विकाश

जहां स्वतन्त्रता और आनन्द को हमारे में विषमता अनिवार्य है वहां विकास की दृष्टि से भी अनिवार्य है । ज्ञान और सामर्थ दोनों के आधार पर जीव को उन्नति और विकास के लिये क्षेत्र मिलना चाहिये । जीव का स्वभाविक गुण ज्ञान हैं । अर्थात् वह ज्ञान प्राप्त कर सक्ता है किन्तु उसको स्वयम् ज्ञान प्राप्त करने और पदार्थों के उत्पन्न करने और ज्ञान के साधनों के एकत्रित करने में पूरी स्वतन्त्रता नहीं है । इसके लिये निमित्त और बाह्य साधनों की आवश्यकता है । और यही हाल उसकी सामर्थ का है । और उसके ज्ञान और सामर्थ के आधार पर ही उसके भोग की दशा अर्थात् शक्ति और बल आश्रित है उन्नति के लिये उत्साह चाहिये । अवकाश चाहिये । आदर्श चाहिये । और आदर्श संचालन करने के लिए मर्यादा चाहिये । अनादि जीव स्वयम् अपने कर्मों के आधार पर बड़ी से बड़ी उन्नति अर्थात् पूर्ण अभ्युदय और निश्रेयस प्राप्त कर सकता है, और उसकी अवनति की भी कोई सीमा नहीं हैं ।

खाने में स्वाद

जैसे भोजन को रुचिकर बनाने के लिये नमक और मीठे दोनों की आवश्यकता है इसी

प्रकार जीवन को आनन्दमय बनाने के उन्नति के लिये जीवात्मा को पूर्ण अवसर होना चाहिये किसी कमी को पूरा करना ही उन्नति करना है। कमी न हो तो उन्नति का प्रश्न ही नहीं है। यदि गरीब न हों तो करोड़ मित्र बनने में क्या आनन्द। यदि सूरदास और शुक्र देवता न होंगे तो दोनों आंखों का आनन्द कब अनुभव होगा।

एक चेतावनी

उपरोक्त उदाहरणों को समझने के लिये यह महान् आवश्यक है कि कमी या त्रुटि अपने ही कारण से हो तो सहन की जा सक्ती है। यदि कोई दूसरा व्यक्ति त्रुटि को उत्पन्न करे और फि हम से उस त्रुटि को पूरा करने के लिये कहा जाय तो उसमें आनन्द नहीं होगा।

परिणाम

केवल कहने का अभिप्राय यह है कि संसार की प्रचलित दशा को देख कर उसके शु सुन्दर और सत्य होने में कोई सन्देह नहीं हो सकता। यदि तीनों पदार्थों को अनादि मानें जी को स्वतन्त्रकर्ता मानें परमात्मा को आदर्श और शक्ति का पुञ्ज माने और इस शृंखला को अनादि अनन्त माने और कमी को किसी और द्वारा उत्पन्न की हुई न मानें।

भ्रम मूलक बात

उपरोक्त सचाई को भूल जाने से अल्प ज्ञान वालों को बहुत से मनमाने सिद्धान्त मानने पडे हम तत्व ज्ञान वालों को दो विभागों में विभाजित कर सक्ते हैं। एक द्वैतवादी और दूसरे अद्वैतवादी अद्वैतवादी वह है जो केवल एक सत्ता को मानते हैं और उनमें से मुख्य वह हैं जो केवल एक ईश्व की सत्ता को मानते हैं। वह भाव को ईश्वर की माया से आच्छादित रूप मानते हैं। और प्रकृति क केवल भ्रम और माया। उनकी दृष्टि में दुःख का प्रश्न केवल माया भ्रम या लीला है। विचार क दृष्टि से यह कोई समाधान नहीं। दुःख ऐसी भयंकर चीज की सत्ता को, दूसरे शब्दों में दुःख ऐस आवश्यक चीज को केवल माया कह कर नहीं टाला जा सकता।

Duoliest द्वैतवादियों की दृष्टि में

जो दो सत्ताओं को मानते हैं अर्थात् एक से अधिक सत्ता को मानते हैं उनमें से कुछ व हैं, जो ईश्वर और प्रकृति को मानते हैं। कुछ जीव और प्रकृति को मानते हैं। जो द्वैतवादी जी की स्वतन्त्र सत्ता को नहीं मानते दुःख और उसके कारण पाप के स्वरूप को समझने के लि बहुत टटोल से काम लेना पड़ा है।

हजरते शैतान

जब यह देखा कि पाप की उत्पत्ति और दुःख की सत्ता ईश्वर के मत्थे पड़ती है, तो उन्हों एक कल्पित बराबर की शक्ति शैतान की कल्पना कर ली। और कहने लगे कि सुख और पुण्य ईश्व की तरफ से आया और पाप और दुःख शैतान की तरफ से। इस प्रकार की कल्पना करने वाले य

ईं समझते कि वह एक ईश्वर के स्थान में दो ईश्वरों की सत्ता मान रहे हैं । इनको अंग्रेजी में Ditheism) दो विरोधी ईश्वरों की सत्ता मानने वाले कहते हैं । यह समाधान उपहास जनक है, न कोई सत्ता नहीं शैतान को ईश्वर के बराबरी की पदवी देना महान् पाप है । जो ईश्वर और कृति को मान्ते हैं, उनका यह कहना है कि परमात्मा ने संसार को अनादि प्रकृति से वा है । और जीवात्मा केवल प्रकृति का विकसित रूप है इसलिये जो संघर्ष जीव और प्रकृति दीखता है उसका कारण प्रकृति है, न कि ईश्वर । यह भी समाधान भ्रम मूलक है । प्रकृति जड़ है, ारण नहीं हो सकती यदि कारण हो भी तो चेतन के निमित्त से । इस वाद को (Manicheism) हते हैं । शैलिन (Schelling) को एक और कल्पना करनी पड़ी । उनका कहना है कि ईश्वर ाप के लिये उत्तर दाता नहीं । परन्तु ईश्वर के स्वभाव में एक दूषित भाग है वह उसका उत्तर दाता । आस्तिक जातिय में भी इस दुःख और पाप के सम्बन्धों में अनेक वाद फैलेहु ये हैं । हम उनको स्तृत विवेचना इस लेख में नहीं कर सकते । कहने का तात्पर्य यह है, कि जीव को अनादि और वतन्त्रकर्ता न मानने से उपरोक्त प्रकार के भ्रम मूलक विचार उत्पन्न होते हैं और जिनके कारण न वल दुःख और पाप के प्रश्न का ही समाधान नहीं होता वल्कि विश्व की सारी पहेली उलझी रह ाती है ।

जीव और स्वतन्त्र कर्ता

जीव के स्वतन्त्र कर्ता होने में भ्रम क्यों होता है और प्रश्न क्यों उठता है इस पर भी कुछ ंक्षेप से विचार करना आवश्यक है । जीव की समस्या पर तीन प्रकार से विचार किया जाता है । क प्रसिद्ध प्राचीन वैदिक पद्धति है । जिसके अनुसार जीवात्मा को एक स्वतन्त्र, अनादि, सत्ता ान कर विचार किया जाता है । दूसरी पश्चिमी व पूर्वीय तत्व ज्ञान वालों की विधि है । जिसके नुसार जीव को अनादि न मानकर उसका सम्बन्ध प्रकृति या परमात्मा से मान कर कल्पना की ाती है ।

प्राकृतिक नियम

हम विश्व में यह देखते हैं कि अटल नियम काम कर रहे हैं । हम उन नियमों में कोई परिवर्तन हीं कर सके हैं । उन नियमों से जीवात्मा अपने कर्म करने और भोग प्राप्त करने में प्रभावित होता है । दि उन नियमों को कोई नहीं मिटा सका, और जीव उनके चक्र में रहता है, इसलिये यह भ्रम ो जाता है कि जीव स्वतन्त्र कर्ता नहीं है, परन्तु परतंत्र है । यह परतंत्रता अवश्य है । परन्तु चारणीय है । जीव के न्याय दर्शन के अनुसार तीन विशेष लक्षण हैं अर्थात् ज्ञान कर्म, और ोग । यदि हम ज्ञान इच्छा, द्वेष प्रयत्न सुख दुःख आदि गुणों की विवेचना करें तो इच्छा द्वेष ौर प्रयत्न मिलकर कर्म का स्थान लेते हैं सुख और दुःख भोग का । ज्ञान दोनों में सम्मिलित है । र्म की दृष्टि से अर्थात् इच्छा और द्वेष के अभिप्राय से जीव पूरा स्वतन्त्र है । यदि मैं चाहूँ तो आप ादशाह बनने की इच्छा कर सक्ता हूँ और किसी बड़े से बड़े योद्धा को मारने की चेष्टा भी कर

सकता है हूं परन्तु फल प्राप्ति में मैं परवश हूं। क्योंकि इसमें जो मेरे कर्मों का परिणाम होगा उनके अनुसार ही मिलेगा। और मेरा यह परवस में होना भी एक प्रकार से मेरे ही अधिकार मे है, मेरी सामर्थ, मेरे ज्ञान, और मेरे प्रयत्न के समुदाय का नाम है। और मेरा ज्ञान और मेरा प्रयत्न मेरे ही अनेक जन्मो के कर्मों के आधार पर बना है। इसलिये यदि त्रुटि है और योग प्राप्ति मेरी इच्छा के अनुकूल नहीं तो इसमे मेरे स्वतन्त्र कर्ता होने मे कोई प्रश्न नहीं हो सकता। तीसरी शक्ति जो न्याय के अटल नियम रखती है उसकी सचाई मर्यादा के लिये है, मुझे परतन्त्र बनाने लिये नहीं। कैसी विचित्र बात है यदि कोई नियम नहीं तो परमात्मा पर अराजकता (Anarchy) का दोष आता है। यदि अटल और पूर्ण नियम हो तो स्वाधीनता के लिये स्थान नहीं रहता। यही समझ लेने की बात है। स्वाधीन और पराधीन जैसे मैं ऊपर कह चुका हूं एक ही चीज़ के दो रूप हैं। आधीनता जीवन है, और आवश्यक है। परन्तु आधीनता ऐसी होनी चाहिये जिसके साथ हम स्वः शब्द को जोड़ सकें। स्वः से अभिप्राय आनन्द उज्वल (ज्ञान) और अपने से है। जीव के पास अपनी शक्ति है उसका अपना स्वभाव है, वह स्वभाव और शक्ति के आधार पर कर्म करता है। और उसका फल किन्ही अटल नियमों के अनुसार मिल जाता हैं। कर्म के फल से युक्त करने वाली शक्ति की सत्ता से कर्म करने वाले की सत्ता में कोई भेद नहीं है।

कर्म फल प्रदाता

इस स्थान पर ईश्वर के कर्म फल प्रदाता होने पर भी कुछ विचार कर लेना आवश्यक है। ईश्वर कर्मों का फल कैसे प्रदान करता है। वह अर्थात् ईश्वर अपनी दैविक शक्तियों के आधार पर संसार के जड़ पदार्थों से संसार के प्राणियों द्वारा जीवों को कर्मों का फल प्रदान करता है। संसार की दैवी शक्तियाँ अर्थात् अग्नि जल वायु, पृथ्वी, और आकाश ही संसार मे सुख के साधन और दुःख के कारण हैं। इन्हीं पच तत्वों के आधार पर उत्पन्न हुई चीज़ें जीवात्माओं को उपयोग मे लाने के लिये मिलती है। और इन चीज़ों के मिलने और न मिलने के साधन संसार के अन्य प्राणी भी हैं। इसलिये तीन प्रकार के दुःख और तीन ही प्रकार के पाप माने गये हैं। अर्थात् आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक। शरीर धारी जीव को यदि सुख होगा, चाहे दुःख होगा इन दोनों की विधि एक ही है। ससार मे हम जल के उदाहरण को लें। जब कि समय अनुकूल वृष्टि से महान सुख और अति वृष्टि और अनावृष्टि से महान दुःख होगा। यही दशा वायु और अग्नि की है। परमात्मा कर्म फल प्रदान का निमित्त है अर्थात् उसके बनाये हुये नियम कर्म और फल के संयोग को मर्यादित और संचालित करते हैं।

सर्व शक्तिमान्

इस स्थल पर अब हम ईश्वर की महान दैविक शक्तियों की ओर संकेत कर रहे हैं तो यह भी आवश्यक है कि ईश्वर के प्रसिद्ध गुण सर्व शक्ति मान पर भी कुछ प्रकाश डाला जाय।

जो चाहे करना

जिसको कोई दूसरा रोक न सके वह बड़ा है। यह भ्रम है। बड़प्पन विचार की दृष्टि से मनमानी करने में नहीं है। परन्तु जो चाहिये अर्थात् जो करना चाहिये उसके करने में है। ईश्वर इसलिये सब से बड़ा है कि वह जो चाहिये (Which is to be done) उसे कर सकता है। और स्वयम् अपनीशक्ति से कर सक्ता है। वह स्वयम्भू है। किसी दूसरी शक्ति का मुहताज नहीं है। और इसी अंश में वह सर्व शक्तिमान है। ईश्वर जो चाहे वह नहीं कर सक्ता। ईश्वर अपने को मार नहीं सक्ता। अपने बराबर दूसरा ईश्वर पैदा नही कर सक्ता। बुराई और पाप नहीं कर सकता और इसलिये वहीं ईश्वर अपने नियमों के अनुसार कर्म फल प्रदान करने की मर्यादा को सुरचत रखता है। और अनादि जीव के कर्म करने और भोग प्राप्त करने की विधि में अकारण हस्तक्षेप नहीं करता। इसीलिये उसक सर्व शक्ति मान होने में कोई संशय उत्पन्न नहीं होता।

न्यायकारी और दयालु

ईश्वर के यह दोनों गुण एक दूसरे से प्रतिकूल नहीं। ईश्वर का जीवात्मा को एक बार नहीं, अनेक बार अनेक प्रकार के शरीर प्रदान करना और अनेक बार कर्म करने के साधन प्रदान करना और कर्म करने के लिये स्वतंत्र देना उसकी दया है, और जैसा कर्म वैसा फल प्रदान करना उसका न्याय है।

तीन महान भूलें

इसी स्थल पर धार्मिक जगत, और तत्व ज्ञान के जगत की तीन प्रचलित भूलों के ऊपर भी प्रकाश डालना आवश्यक है। इनसे हमारे प्रश्न के समाधान का सम्बन्ध है।

चमत्कार में विश्वास

धार्मिक जगत में एक प्रचलित विचार यह है कि धार्मिक नेता या मतों के बड़े संस्थापक वह हैं जो चमत्कार या करामात, (Miracles) से अपने महत्व का परिचय दे सकें। दुनियां में अनहोनी बात को कर दें। चांद के दो टुकड़े करदे, सूर्य (sun) को मुंह में धरले। यह विचित्र भूल है। ईश्वर के नियम कोई उल्लंघन नहीं कर सकता न वह स्वयम् करता है न किसी को करने देता है। जब ईश्वर के दूतों की प्रशंसा ईश्वर के नियमों के उल्लंघन में है; तो साधारण जनता ईश्वर की प्रशंसा इसमें समझती है कि वह चाहे जिस नियम का स्वयम उल्लंघन कर दें; या जो चाहे करदे। ईश्वर के सम्बन्ध में और ईश्वर के दूतों के सम्बन्ध में चमत्कार और करामात का प्रश्न भ्रम मूलक है।

पाप क्षमा हो जाते हैं

दूसरी भूल जो प्रचलित है वह यह है कि ईश्वर के दूतों की प्रशंसा इसमें है कि वह पापों के फल से अपने अनुयाइयों को बचाले। यह भी भूल है। यह समझना कि ईसामसीह यदि अपने भक्त ईसाइयों के पाप क्षमा करा सकता है तो ईश्वर जिसको चाहे पापों के फल से बचा सकता है। यह न्याय और तर्क के प्रतिकूल बात है। जब मनुष्य अपने कर्मों के फल के परिणाम से बचना चाहते हैं तो ऐसी कल्पनाएं कर लेते हैं। और यह भ्रम बढ़ते २ ईश्वर तक पहुंच जाता है।

पूर्व जन्म और पुनर्जन्म

तीसरी भयंकर भूल यह है कि जीव और उसके संबन्धी समस्याओं पर विचार करते समय बहुधा केवल एक वर्तमान जन्म पर ही दृष्टि रख कर सब शंकाओं का समाधान करने का यत्न किया जाता है। वर्तमान भूत और भविष्यत के बीच में है। इसका आगे पीछे से सम्बन्ध है । जो आदमी बिना आगा पीछा विचार किये बात करता है वह बुद्धिमान नहीं समझा जाता है।

मृत्यु का प्रश्न

पूर्व जन्म और पुनर्जन्म के साथ-साथ मृत्यु के सम्बन्ध में भी दो शब्द लिखने आवश्यक हैं। संसार में सबसे बड़ा दुःख मृत्यु और मृत्यु का भय है। बाकी सब दुःख इस लिये हैं कि उनसे मरने का भय उत्पन्न होता है । मृत्यु महान दुःख है। मृत्यु से बचना महान सुख है। इस ही का नाम मुक्ति है। दुःख का और मृत्यु का घनिष्ट सम्बन्ध है । देखो इस दुःख रूपी मृत्यु में भी कोई सुन्दरता है या नहीं। मृत्यु में सुन्दरता को देखने के लिये एक विशेष प्रकार के मनोविज्ञान और तैयारी की आवश्यकता है। मृत्यु संसार की विषमता का समाधान है। मृत्यु ईश्वर की महान् शक्ति का परिचायक है। मौत से कोई नहीं बचता। मृत्यु से समानता की शिक्षा मिलती है। मरने में सब बराबर हैं। मृत्यु विकास का साधन है। बन्दर मर कर ही तो मनुष्य बन सकता है । मृत्यु नवीन अवकाश मिलन का उपाय है। मृत्यु मोक्ष का घर है। मृत्यु दुःख से छुटकारा है। मृत्यु जीवन रूपी ड्रामा का पटाक्षेप है। मृत्यु से भयंकर, मृत्यु का भय है।

मृत्यु से निर्भय

मृत्यु से निर्भय होना या भयभीत होना मानसिक दशा पर आश्रित है । ऋषि दयानन्द मृत्यु को ईश्वर की इच्छापूर्ति का साधन समझते हैं। सुकरात ने हंस कर ज़हर का प्याला पी लिया मृत्यु का भय मानसिक भावनाओं से सम्बन्धित है। काम, क्रोध, लोभ और मोह के अभिमान से दूषित मनोवृत्ति मृत्यु के सम्बन्ध में भय उत्पन्न करती है। मृत्यु को देख कर ईश्वर की प्रबन्ध व्यवस्था पर आक्षेप करना महान भूल है। यदि मृत्यु न होती तो आज संसार में तिलभर पैर रखने को भी जगह न होती न मृत्यु होती और न जन्म होता । इस संसार के इस चक्र का ही अन्त हो जाता। यदि मृत्यु न हो तो जीवन का आनन्द क्या । जीवन आनन्द में मौत के झटके से है । उर्दू के कवि ग़ालिब ने ठीक ही कहा है—'न हो मरना, तो जीने का मज़ा क्या।'

विश्व

अंग्रेज़ी में इस दुनियां को (Universe) कहते हैं (Universe) में शब्द (uni) एकता का द्योतक संसार में एकता स्थापन करना ईश्वर की सत्ता के आधार पर ही हो सकता है। ईश्वर जड़ और चेतन जगत को संयुक्त भयरहित करता है। संसार की वर्तमान और प्रचलित दशा प्राकृतिक नियम, कर्म व्यवस्था, दैनिक प्रक्रिया, आचार, शास्त्र सब एक दूसरे से सम्बन्धित हैं। जिनको एक-एक करके देखे और समझे वह पदार्थ विज्ञान वाला; और जो इनका समन्वय करे वह तत्वज्ञानी और

जो इनके अन्तिम रहस्य को समझ ले वह ऋषि । चित्र को समझने के लिये चित्र के सब अंग देखने होंगे। चित्र के एक अंग को लेकर आक्षेप करना और समालोचना करना बचपन है। सारे चित्र को समझ कर अपनी समझ पर अभिमान करना भी भूल है। चित्र को देखकर चित्रकार तक न पहुंचना भी भूल है। ईश्वर इस ब्रह्माण्ड रूपी चित्र का चित्रकार है प्रकृति इसकी (Back ground) या आधारभूत है। जीवात्मा इस चित्र का अंग है । यह दृश्य जगत् रूपी चित्र परमात्मा रूपी चित्र यानी जीवात्मा रूपी चित्रों के चरित्रों के चरितार्थ होने के लिये रचा है । इसमें पाप की पहेली कर्तव्य और अकर्तव्य के प्रश्न से सम्बन्धित है। आचार शास्त्र इस पर प्रकाश डालता है । प्राकृतिक घटनाएं आचारों के परिणाम स्वरूप हैं। जीव के स्वरूप को समझ लेने से इसको स्वतन्त्रकर्ता मान लेने से संसार की पहेली, संसार की विषमता स्पष्ट हो जाती है। दुःख और दुःख सूचक घटनाओं से ईश्वर की सत्ता पर ईश्वर के महत्व में कोई संशय उत्पन्न नहीं कर सकते । जिन्हें हम दुःख और दुःखसूचक समझते हैं वह दूर की दृष्टि से सुख और सुख उपार्जन के लिये हैं उनके आधार पर भूत का भय फिर आता है । भविष्य के लिये आशा बंधती है और वर्तमान में भ्रम दूर होकर पुरुषार्थ के लिये उत्साह पैदा होता है । पुरुषार्थ और प्रारब्ध का प्रश्न भी इसके साथ ही सुलझ गया। लेख बहुत लम्बा हो गया, पर विचार इतने हैं कि एक पुस्तक लिखी जा सकती है। यदि ईश्वर ने शक्ति दी और आर्य जगत् ने प्रोत्साहन दिया तो इस प्रश्न के समाधान में एक विस्तृत पुस्तक लिखूंगा जिस में त्रैतवाद और कर्म व्यवस्था के ऊपर पश्चिमी और पूर्वी तत्व ज्ञान के आधार पर पूरा २ प्रकाश डालने का यत्न करूंगा।

ऋषि दयानन्द का महान उपकार है जिन्होंने वैदिक सिद्धान्तों को पुनः हमारे सामने शुद्ध और स्पष्ट रूप में रख कर अनेक शंकाओं से निवृत्त किया और अनेक शंकाओं के समाधान के योग्य बनाया। ऋषि कृत सत्यार्थप्रकाश और उनकी अन्य पुस्तकों में ऐसे अनेक प्रश्नों के समाधान संक्षिप्त मे दिये हुए हैं। आवश्यकता इस बात की है कि एक वैदिक सिद्धान्त विश्व कोष नामी बहुत बड़ी पुस्तक माला छापी जावे। जिसमें हर एक सिद्धान्त पर विस्तार से तर्क और प्रमाणों के आधार पर विवेचन किया जावे।

आर्य अखबार का सिद्धान्त अंक निकालना एक प्रशंसनीय कार्य है । परन्तु वैदिक धर्म का प्रचार भारतवर्ष में शिक्षित समुदाय के सन्मुख और संसार के अन्य देशों में तभी होगा जब एक विशाल अन्वेषण विभाग खोल कर सारे आर्य जगत् के उद्योग से साहित्य प्रकाशन का काम किया जाय। जिस प्रश्न के समाधान में यह लेख है वह बहुधा अंग्रेज़ी पढ़े लिखों में आता है और मैं लेख हिन्दी में लिख रहा हूं सम्भव है यह उन तक न पहुंचे । अंग्रेज़ी के साहित्य तय्यार करने की ओर भी ध्यान देना चाहिए। अंग्रेज़ी में एक अच्छी रूपरेखा की मासिक पत्रिका प्रकाशित होनी चाहिए।

अन्तिम निवेदन

दुःख में सुन्दरता मान लेना एक कवि की कल्पना नहीं है, न योगी की धारणा—यह तो

साधारण मनुष्य के लिये भी एक स्वाभाविक सत्य है। इस से कर्म करने में, उत्साह-फल प्रा करने में संतोष प्राप्त होता है। यदि हम यह मान लें कि अपने दुःख का हम साधन ही कारण हैं तो दुष्ट भाव (Enmity) मिट सकता है—कलह का अन्त हो सकता है, यदि अपने दुःख का कारण हम ही हैं तो हम उसको दूर करने का भी प्रयास कर सकते हैं। संसार में Virtue and Vice पुण्य औ पाप स्वतंत्र एकान्त absolute हैं। अनादि व अटल हैं।—Pleasure and pain सुख व दुःख Relative हैं सापेक्ष हैं। इन दोनों में कारण कार्य सम्भव है—वैसे दोनों पृथक है। जो सम्बन्ध किसी राज्य में Law कानून और कानून के मानने या न मानने से वह ही सम्बन्ध इन दोनों में है।

आपत्ति का आवाहन

नमोऽस्तुते निर्ऋते तिग्मतेजो अयस्मयान् विचृता बन्धपाशान्।

यमो मह्यं पुनरित् त्वां ददाति तस्मै यमाय नमो अस्तु मृत्यवे। अथ० ६।६३।२

अर्थ—हे फलप्रद! हे कष्टदातः हे यम—मैं तुझे प्रणाम करता हूं। हे तीक्ष्ण तेज वाली—त मेरी सदा बाँधने वाली बेड़ियों को काट डाल। नियमित करने वाला परमेश्वर फिर भी मेरे लिये तुझे दे रहा है। उस मृत्यु कारक व संहारक नियन्त्रण करने वाले परमेश्वर को भी मेरा नमस्कार है। इस वेद मन्त्र में कैसी सुन्दर शिक्षा है—तथा दुनिया वाले बड़ी आपत्ति से बचना चाहते हैं। यहाँ उसके आवाहन की शिक्षा है—कहीं इसलिये कि किये हुए कर्मों का फल माँग लेने से भविष्य के लिये उस माँग को मांगने का भय जाता रहता है।

साबुन और मैल

जिस प्रकार साबुन से मैल हट जाता है। उस ही प्रकार कष्ट उठाना या कर्म का फल माँगना पुरानी मैल, जीवन रूपी वस्त्र में लगी हुई को धोने का साधन है।

वह सब कब

मृत्यु और मृत्यु रूपी नियमन करने वाले परमात्मा का आवाहन कब होगा जब मनोविज्ञान की ठीक शिक्षा होगी तभी दृष्टिकोण ठीक होगा। जीवन में धर्म प्रधान अंग होगा। निर्वेद या निःश्रेयस रूपी सूर्य का प्रकाश होगा। संशय और अज्ञान का अन्धकार मिट जावेगा।

वैदिक प्रश्नोत्तर

ब्रह्मोद्य

[श्री नरदेव जी शास्त्री, वेद तीर्थ आचार्य महाविद्यालय ज्वालापुर]

वेदों में प्रश्नोत्तर रूप में अनेक मन्त्र आते हैं। बड़े ही बोध प्रद एवं मनोरञ्जक हैं। प्रश्न भी स्पष्ट हैं, और उत्तर भी। कहीं कहीं प्रश्न ही प्रश्न हैं उत्तर नहीं। कहीं प्रश्न स्पष्ट और उत्तर अति गूढ़, कहीं दोनों गूढ़। कहीं किसी अध्याय में प्रश्न है तो उत्तर किसी अन्य अध्याय में मिलता है। कहीं वैदिक प्रयोग की विचित्रता के कारण साधारण पुरुष, जिसको लौकिक व्याकरण का बोध तो है पर वैदिक व्याकरण नहीं आता; समझ भी नहीं सकता। इस प्रकार के प्रश्नोत्तरों को वैदिक शब्दावली में वाकोवाक कहते हैं। ब्रह्मोद्य भी कहते हैं।

पाठकों के मनोरञ्जनार्थ आज हम कतिपय सरल मन्त्रों का दिग्दर्शन करेंगे—

प्रश्न—यजु: २३—७

[१] कः स्विदेकाकी चरति

कौन अकेला अकेला घूमता है (नभोमण्डल में)।

[२] क उ स्विज्जायते पुनः

(गुम होकर, अदृश्य रहकर) फिर कौन उत्पन्न होता है अथवा आजाता है?

[३] किं स्विद्धिमस्य भेषजम्

हिम की, जाड़े की क्या औषधि है।

[४] किं वावपनं महत्

अन्न रखने का सब से बड़ा स्थान कौनसा है।

उत्तर—यजु: २३—१०

[१] सूर्य एकाकी चरति

सूर्य ही अकेला नभोमण्डल में घूमता है।

[२] चन्द्रमा जायते पुनः

कृष्ण पक्ष में गुम रह कर चन्द्रमा फिर शुक्ल पक्ष में आजाता है अथवा उत्पन्न-सा प्रतीत होता है।

[३] अग्निर्हिमस्य भेषजम्

हिम की, जाड़े की औषधि है अग्नि।

[४] भूमिरावपनं महत्

भूमि ही सबसे बड़ी आवपन (बोरी) है जिस में अनन्त धान्य राशि रख सकते हैं अर्थात् भूमि ही अनन्त धान्यदात्री है।

प्रश्न—यजु: २३—४

[१] किं स्वित्सूर्यसमं ज्योतिः

सूर्य के समान ज्योति किसकी है।

[२] किं समुद्रसमं सरः

समुद्र के सदृश और कौन सा तालाब है।

उत्तर—यजु: २३—४८

[१] ब्रह्म सूर्यसमं ज्योतिः

सूर्य के समान ज्योति वाला है ब्रह्म

[२] द्यौः समुद्रसमं सरः

पार्थिव समुद्र जैसा दूसरा समुद्र है द्यौ, अर्थात् अन्तरिक्ष। क्योंकि (वहीं से जल गिरता है तब पार्थिव समुद्र बनता है। इसलिये अन्तरिक्ष को भी ऊपर का समुद्र माना गया है, वैदिक शब्दावली में)

[३] किं स्वित्पृथिव्यै वर्षीयः

पृथिवी से बड़ा कौन।

[४] कस्य मात्रा न विद्यते।

किसकी मात्रा कोई नहीं अर्थात् जिसके तुल्य कोई नहीं।

[३] इन्द्रः पृथिव्यै वर्षीयः

इन्द्र ही पृथिवी के लिये बड़ा है क्योंकि इ मेघ) न बरसे तो सब व्यर्थ (मेघ प्रेरक, द्वारक व का नाम इन्द्र है)।

[४] गोस्तु मात्रा न विद्यते

गोधन से बढ़ कर कोई धन नहीं (स्पष्ट है)

प्रश्न—यजुः २३—५१

[१] केष्वन्तः पुरुष आविवेश

यह पुरुष (जीवात्मा) किसमें घुसा हुआ है

[२] कान्यन्तः पुरुषे अर्पितानि

पुरुष का सहारा लिए कौन कौन हैं

[३] एतद्ब्रह्मन्नुप वल्हामसि त्वा

इस बात को मैं आपसे जानना चाहता हूं

[४] किं स्विन्नः प्रतिवोचास्यत्र

इसका उत्तर इधर उधर न कर देना अर्थात् टालना मत। देखें आप क्या उत्तर देते हैं।

उत्तर—यजुः २३-५२

[१] पञ्चस्वन्तः पुरुष आविवेश

इस पाँच तत्व वाले शरीर में जीवात्मा घु पड़ा है अर्थात् रहता है।

[२] तान्यन्तः पुरुषे अर्पितानि

कर्मेन्द्रियें, ज्ञानेन्द्रियें सब उसके अधीन । अर्पित हैं।

[३] एतत्त्वा प्रतिमन्वानो अस्मि

मैं इस बातको तेरेलिये स्थूलरूप से कह रहा हूं

[४] न मायया भवस्युत्तरो मत्

आगे तुम कपट छल से कुछ मत पूछना

प्रश्न—यजुः २३-५९

[१] को अस्य वेद भुवनस्य नाभिं

इस भुवन की नाभि (मध्यस्थान) को कौन जानता है?

[२] को द्यावा पृथिवी अन्तरिक्षम्

और कौन जानता है इस द्यौ पृथिवी और अन्तरिक्ष को।

[३] कः सूर्यस्य वेद बृहतो जनित्रम्

और सूर्य के बड़े जन्मस्थान को कौन जानता है

[४] को वेद चन्द्रमसं यतोजाः

और चन्द्रमा कहां से हुआ, यह भी कौन जानता है।

उत्तर—यजुः २३-६०

[१-४] वेदाहमस्य भुवनस्य नाभिम्
वेद द्यावा पृथिवी अन्तरिक्षम्
वेद सूर्यस्य बृहतो जनित्रम्
अथो वेद चन्द्रमसं यतोजाः

उस विषय का ज्ञाता उत्तर देता है कि—

(१) मैं भुवन की नाभि को, (२) द्यौ पृथि अन्तरिक्ष को, (३,४) सूर्य चन्द्रमा जहां से हुए उसको जानता हूं।

कर्म फल मीमांसा

[लेखक विश्वनाथ जी आर्योपदेशक जडांवाला]

एक सत्यवादी और मिथ्याभाषी में यह भेद स्पष्ट है कि सत्यवादी पर जो प्रश्न किया जावेगा, उसका यथार्थ उत्तर प्राप्त हो जावेगा। परन्तु मिथ्याभाषी यथार्थ उत्तर न देकर झूठ का जाल बिछायेगा। यही अन्तर सत्य सनातन वैदिक धर्म और अन्य मतों में है। कर्म फल के सम्बन्ध में जीव को उत्पन्न हुआ और कर्म का फल सदा के लिये दुःख का स्थान दोजख और सुख का स्थान बहिश्त के मानने वालों से पूछें, कि कर्म फल के चक्र में डालने के लिय जीव को क्यों उत्पन्न किया? और जब जैसा किसी जीव को उत्पन्न किया स्वभाव से अच्छा बुरा अथवा जिस अवस्था में उत्पन्न किया मोमन या काफर के घर में, उसने उसी प्रकार के कर्म करने हैं, अतः इसकी जुम्मेदारी उत्पन्न करने वाले ईश्वर पर ही हो सकती है जीव को कर्म का फल क्यों दिया जाता है? जब कर्म फल का उद्देश्य जीव का सुधार ही हो सकता हैं, तो कर्म का फल सदा का नरक स्वर्ग क्यों? इन प्रश्नों का कोई उत्तर नहीं दिया जा सकता, परन्तु वैदिक धर्म जो कर्म फल का सिद्धांत उपस्थित करता है उस पर कोई आक्षेप नहीं हो सकता।

वैदिक धर्म जीव को अनादि और भगवान् की अमर प्रजा मानता है। प्रभु तो नित्य शुद्ध मुक्त स्वभाव आनन्द स्वरूप हैं, परन्तु जीवात्मा अल्पज्ञ और सुख दुःख दोनों गुण रखने वाला है। यद्यपि इसे दुःख से घृणा और सुख की इच्छा सदा बनी रहती है, परन्तु यह इस

प्रश्न—यजुः २३-६१

[१] पृच्छामि त्वा परमन्तं पृथिव्याः

मैं तुझे पृथिवी का सिरा पूछ रहा हूं।

[२] पृच्छामि यत्र भुवनस्य नाभिः

यह पूछ रहा हूं भुवन की नाभि कहां है।

[३] पृच्छामि त्वा वृष्णो अश्वस्य रेतः

और पूछ रहा हूं उस वर्षणशील और गति शील अश्व अर्थात् सूर्य के रेत से कौन उत्पन्न हुआ।

[४] पृच्छामि वाचः परमं व्योम

और पूछ रहा हूं वाचा का सर्वोत्कृष्ट स्थान।

उत्तर—यजुः २३-६२

[१] इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्याः

यह वेदि ही पृथिवी का सिरा है

[२] अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः

यह यज्ञ ही भुवन की नाभि है

[३] अयं सोमो वृष्णो अश्वस्य रेतः

यह चन्द्रमा ही सूर्य से उत्पन्न हुआ है अर्थात् इसी के प्रकाश से प्रकाशित होता है।

[४] ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम

ब्रह्म अर्थात् परमात्मा ही वेदरूपी वाचा का उत्तम स्थान है। अथवा वेद ही वाचा का उत्कृष्ट स्थान है।

प्रत्येक मन्त्र के प्रश्न और उत्तर के लिए विस्तृत व्याख्या अपेक्षित है, इसलिये संक्षेप से ही विवेचन किया गया है जिससे साधारण बुद्धि वाला पाठक भी समझ सके।

शम्

के बस की बात नहीं। अतएव प्रजा प्रिय भगवान् सृष्टि का निर्माण करके जीवों के इस लोक में सुखोपभोग और परमानन्द मोक्ष का सुख प्राप्त करने का प्रबन्ध करते हैं। वेद भगवान् का उपदेश है:—याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः। यजु० ४०८

अर्थ—भगवान् अपनी अनादि प्रजा जीवों के सृष्टि द्वारा समुचित अर्थ अर्थात् लोक और परलोक के सुखों का प्रबन्ध करते हैं। कपिलमुनि सांख्य दर्शन में लिखते है-भोगापवर्गार्थं दृश्यम्।

अर्थ— यह संसार भगवान् ने जीवों के सुखोपभोग और मोक्ष प्राप्ति के लिये बनाया है। अवैदिकमत यह भी नहीं वतला सकते कि प्रभु के सृष्टि बनाने का क्या उद्देश्य है।

भगवान् जीवात्मा को इस उद्देश्य के पूरा करने के लिये मनुष्य जन्म देते हैं। एक जन्म में मोक्ष की सिद्धि नहीं हो सकती, बार बार २ जन्म होता है और यदि यह सांसारिक भोगों में फँस कर अपने आप को गिरा लेता है, तो इसे नीची योनियों—पशु पक्षी आदि में जाना पड़ता है, जिससे जीवात्मा का सुधार और सृष्टि की आवश्यकतायें पूरी होती है वेद में कहा है।

अस्मात्त्वमधिजातोसि त्वदयं जायतां पुनः। असौ स्वर्गाय लोकाय स्वाहा। यजु० ३५।२२

अर्थ—इससे तू उत्पन्न हुआ पुनः तुझसे यह उत्पन्न हो। उस मोक्ष पद की प्राप्ति क लिये। भावार्थ यह है कि जीवात्माओं का आपस में पिता प्रजादि का कोई सम्बन्ध नहीं, और पुनर्जन्म द्वारा कर्म फल का सिद्धांत जीवात्मा की मोक्ष प्राप्ति के लिये है।

कर्म फल की व्यवस्था—उद्देश्य के ज्ञात हो जाने पर अब यह देखना है कि कर्म फल की व्यवस्था क्या है। न्याय दर्शन में गौतम जी का वचन है।

प्रवृत्ति दोष जनितोऽर्थः फलम्। न्याय १–१–२०

अर्थ—मनवाणी शरीर से होने वाली प्रवृत्ति, और प्रवर्त्तन करने वाला दोष इससे उत्पन्न होने वाला फल कहलाता है। कोष में इसका अर्थ है।

सत्ये हेतु कृते फलम्। अमर ३-३-२००

अर्थ—हेतु के परिणाम का नाम फल है।

यह कर्म फल मनुष्य को दो प्रकार का प्राप्त होता है, एक सयोग वियोग प्रभाव जन्य शरीरोत्पत्तिनिमित्तवत्संयोगोत्पत्ति निमित्तं कर्म। न्याय ३-२ ७० (अर्थ) शरीरोत्पत्ति की तरह संयोग का निमित्त भी कर्म है और दूसरा न्याय जन्य। एक पुरुष आग को छू देता है उससे हाथ जल जाता है यह अग्नि संयोग जन्य फल है। एक पुरुष ग्रीष्म ऋतु में पर्वत की ठंडी वायु से गरम देश में आकर सुख से वंचित होकर गरमी से दुःख उठाता है यह संयोग वियोग जन्य फल है। कर्म संयोग वियोग में अनपेक्ष कारण होता है, अतएव उससे उत्पन्न होने वाले दुःख सुख इन्हीं का परिणाम हैं और न्याय जन्य फल, जन्म विना न्यायाधीश के प्राप्त नहीं हो सकता। कोई चोर अपने आप कारागार में नहीं पहुंच जाता। इसी प्रकार मरने पर जीवात्मा परमात्मा की व्यवस्था ही से कर्म फल प्राप्त कर सकता है और लेख का लक्ष्य भी यही कर्म फल है।

परमात्मा जीव का क्या देखता है। वेद का कथन है।

जीवो मृतस्य चरतिस्वधाभि रमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः। १-१६४-३०

अर्थ—अमर जीव शरीर के नाश होने पर अपनी स्वधा अर्थात् कर्म और संस्कारों से अन्य नाशवान योनि को प्राप्त करता है। मरने के पीछे शुभाशुभ कर्म और संस्कार ही साथ जाते हैं। जीव इन्हीं को अपने में धारण करता है अत यह स्वधा हैं। परमात्मा इनके अनुसार ही आत्म सुधार अथवा आत्मोन्नति के लिये यथोचित फल प्रदान करता है। उपनिषद् में भी है योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः। स्थानमन्येऽनु संयन्ति यथाकर्म यथा श्रुतम्। कठ ३०५-७

अर्थ—जो जीव मरने पर मुक्त नहीं होते वह अपने कर्म और संस्कारों के अनुसार अन्य योनि में शरीर धारण करते हैं मनुष्य अपने जीवन में जो भी शुभाशुभ कर्म वा अन्य साधारण चेष्टा करता है अथवा सुनता देखता अनुभव करता है उसका सूक्ष्म संस्कार आत्मा पर पड़ता है। यह संस्कार मरने पर साथ ही जाते हैं। यदि अत्यन्त दूषित संस्कार हों, तो विस्मरण के लिये वृक्षादि योनि में भेज दिया जाता है। यदि अत्युत्तम संस्कार हों; तो विशेष आत्मोन्नति के लिये पवित्र गृहों में जन्म होता है, जो बालक प्रतिभाशाली होते हैं उसका कारण भी पिछले उत्तम संस्कार होते हैं।

कर्म का तात्पर्य परोपकार के पुण्य कर्म और पर हानि के पाप कर्म हैं। इनसे उत्तम वा निकृष्ट जाति रुचिर वा कुरूप शरीर धनादि भोग अथवा निर्धनता रूप फलों की प्राप्ति होती है।

कर्म फल के रूप में क्या मिलता है

वेद का आदेश है।

आयो धर्माणि प्रथमं ससाद ततो वपूंषि कृणुषे पुरूणि। अथर्व ५-१-२

अर्थ—जो धर्म पहले जन्म में किये तदनुसार इसे शरीर मिलते हैं।

असुनीते पुन रस्मासु चक्षुः पुनः प्राण मिह नो धेहि भोगम्।

ज्योक् पश्यम सूर्य मुच्चरंत मनुमते मृडया नः स्वस्ति। ऋ० १०-५६-६

अर्थ—प्राणदाता जगदीश्वर हमें फिर चक्षु आदि इन्द्रियां, प्राण जीवन और भोग प्रदान करें। हम चिरकाल तक जीयें। हे कर्म फल प्रदाता भगवन् हमें सुख की प्राप्ति हो। हमारा कल्याण करें। इन मन्त्रों में दूसरे जन्म में कर्म फल के रूप में शरीर योनि भोग, आयु की प्राप्ति का स्पष्ट वर्णन है तदनुसार ही योग दर्शन में—सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः। योग २-१६

अर्थ—पूर्वजन्म में मूल संस्कारों और कर्मों के स्थिर रहने से इसका फल जाति आयु और भोग के रूप में प्राप्त होता है। न्याय दर्शन में आया है।

पूर्वकृत फलानुबन्धादुत्पत्तिः। न्याय ३-२-६४

अर्थ—जन्म के कर्म फल के अनुसार जन्म मिलता है। भावार्थ यह कि उत्पत्ति के साथ सम्बन्ध रखने वाले सब पदार्थ पूर्व जन्म के कर्म के फल होते हैं।

वर्णाश्रमेषु स्वकर्मनिष्ठाः प्रेत्य कर्म फल मनुभूय ततः शेषेण।
विशिष्ट देश जाति कुल रूपायः श्रुति वृत्ति विज्ञ सुखम् ॥
मेधसो जन्म प्रति पद्यते। गौतम संहिता अ० ११

अर्थ—स्वकर्मनिष्ठ वर्णाश्रमी मर कर अपने शेष कर्मों का फल विशेष देश जाति कुल रूप आयु आचार धन सुख मेधा के रूप में जन्म प्राप्ति से प्राप्त करते हैं। इन सब प्रमाणों का सार यही है कि कर्मफल जिसे प्रारब्ध भी कहते हैं वह वह केवल जन्म है, और बस जन्म के निमित्त से जाति आयु भोग रूप में जो कुछ इसे प्राप्त होता है वही कर्म फल कहलाता है। परन्तु हमारी हिन्दु जाति में इसके सम्बन्ध में बहुत सा भ्रम फैला हुआ है और प्रायः आर्य महानुभाव भी ऐसा ही मानने लगे हैं और जन्म के साथ सम्बन्ध न रखने वाली घटनाओं को भी प्रारब्ध कह देते हैं। किसी को व्यापार में घाटा वा लाभ हो, रोगी हो चोट लगे घर को आग लगे भूचाल आंधी बर्षा से हानि लाभ हो किसी प्रकार का सुख दुःख हो सब प्रारब्ध के गले मढ़ते हैं। यह विचार नहीं करते कि प्रारब्ध एक न्याय-जन्य कर्म फल है जो न्यायाधीश की प्रेरणा के रूप में ही प्राप्त हो सकता है। प्रारब्ध का न्यायाधीश परमात्मा है और उसकी जीव को प्रेरणा केवल दूसरा जन्म है, अतः उस जन्म से सम्बन्ध रखने वाले पदार्थ से प्रारब्ध हो सकती है।

प्रारब्ध और पुरुषार्थ—हमें इस जन्म में जो कुछ मिलता है वह केवल प्रारब्ध ही नहीं होता, अधिक पुरुषार्थ का होता है। अब बहुत से पुरुष प्रारब्ध अथवा दैव को पुरुषार्थ से बड़ा समझते हैं परन्तु वेद शास्त्र पुरुषार्थ को मुख्य मानते हैं वेद भगवान् का उपदेश है।

अप क्रामन् पौरुषेयाद् वृणा नो दैव्यं वचः।
प्रणीतिरभ्या वर्तस्व विश्वेभिः सह ॥ अथर्व वेद ७। १०५। १

अर्थ—हे मनुष्य ! दैव की बात को न मानता हुआ पुरुषार्थ से उसे पीछे डालदे और अपने मित्रों के साथ प्रत्येक कार्य को अच्छी रीति से आरम्भ कर। महाभारत में लिखा है।

यथा बीजं बिना क्षेत्र मुप्तं भवति निष्फलम्, तथा पुरुषकारणं विना दैवं न सिध्यति। ७
कृतं पुरुषकारस्तु दैव मेवाऽत्र वर्तते। न दैवम कृते किंचित् कस्य चिद्दातु मर्हति। २२
पांडवानां हृतं राज्यं धार्तराष्ट्रैर्महाबलैः। पुनः प्रत्याहृतं चैव न दैवाद्भुजसंजयाद्। ४०
यद्यग्निः पवनोद्धतः स सूक्ष्मोपि महान् भवेत्। तथा कर्म समायुक्तं दैवं साधु द्विवर्धते। ४३
यथा तैल क्षयाद्दीपः प्रहास मुप गच्छति। तथा कर्म क्षयाद्दैवं प्रहास मुपगच्छति। ४४ महाभारत

(अर्थ) जैसे खेत के बिना बीज निष्फल है वैसे ही पुरुषार्थ के बिना दैव सिद्ध नहीं होता। दैव पुरुषार्थ का अनुकरण करता है। बिना पुरुषार्थ दैव किसी को कुछ नहीं दे सकता। पांडवों का राज्य दुर्योधन ने लिया उन्होंने उसे भुजबल से वापस लिया न कि दैव से। जैसे अग्नि वायु के बल से बढ़ती है, ऐसे ही पुरुषार्थ के बल से दैव बढ़ता है। जैसे दीप तेल की

समाप्ति मे बुझ जाता है, ऐसे ही पुरुषार्थ के विना दैव नष्ट हो जाता। रामायण में लक्ष्मण जी राम को कहते हैं।

दैवं पुरुषकारेण यः समर्थः प्रबाधितुम्। न दैवक विपन्नार्थः पुरुषः सोऽवसीदति। अद्य मे पौरुषहतं दैवं द्रक्ष्यन्ति मानवाः॥

अर्थ—जो अपने पुरुपार्थ से दैव को रोक सकता है दैव उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकता। आज मेरे पुरुपार्थ से दैव को मरा हुआ लोग देखेंगे। चरक विमान स्थान अध्याय ३ में है।

दैवं पुरुषकारेण दुर्बलं ह्युपहन्यते। दैवेन चेतरत्कर्म विशिष्टे नोपहन्यते। ४२

अर्थ—दुर्बल दैव पुरुषार्थ से नष्ट हो जाता हैं। और प्रबल दैव पुरुषार्थ को निष्फल बना देता है। इन प्रमाणों का सार यह है कि प्रारब्ध या दैव पूर्व जन्म के कर्म फल के रूप में वह शक्ति है, जो मनुष्य को जन्म के सम्बन्ध में मिलती है। यह शक्ति पुरुषार्थ की सहायक होती है। उदाहरण के लिये दो युवक पाठशाला में पढ़ते हैं। दोनों एक जैसा परिश्रम करते हैं। परन्तु एक लड़के को प्रतिभा जन्म से उत्तम मिली है अतएव वह परीक्षा में मुख्य रहता रहता है। यह दैव का प्रभाव है। परन्तु एक बालक जिसकी प्रतिभा तो उत्तम है परन्तु उसने पढ़ने में श्रम नहीं किया तो वह मूर्ख ही रह जावेगा। दूसरा थोड़ी प्रतिभा वाला बालक पढ़ने का श्रम करके उससे अधिक विद्वान् और बुद्धिमान बन जाता है। यहां पुरुषार्थ ने दैव को पीछे डाल दिया। कई लड़के सर्वथा प्रतिभा हीन होते हैं। वह पढ़ने का बड़ा परिश्रम करते हैं परन्तु उनकी समझ में कुछ नहीं बैठता अन्ततः वह पढ़ना छोड़ कर मूर्ख ही रह जाते हैं। यहां दैव प्रबल है, जिस से पुरुषार्थ नष्ट हो जाता है। ऐसे ही धन बल आदि में व्यवस्था है।

पुरुषार्थ और दैव पर देश काल की अवस्था का भी प्रभाव पड़ता है। एक पुरुष प्रातः काल जिस सुहूलित से ग्रीष्म ऋतु में यात्रा कर सकता है उतना दोपहर को नहीं और जितनी पर्वत की उतराई में कर सकता है चढ़ाई में नहीं। दैव प्रदत्त बल और पुरुषार्थ दोनों में इससे तारतम्य उत्पन्न हो जाता है। अतएव महाभारत में कार्य सिद्धि में दैव पुरुषार्थ और तात्कालिक अवस्था को निमित्त माना गया है। यथा—

एवं हठाच्च दैवाच्च स्वभावात् कर्मणः फलम्। महा. वन. ३२। २०

अर्थ—इस प्रकार हठ (अवस्था) दैव और कर्म-पुरुषार्थ फल को उत्पन्न करते हैं। सचमुच संसार का कोई भी परिणाम अकेले पुरुषार्थ वा दैव का फल नहीं होता उसमें दैव हठ और पुरुषार्थ तीनों की कुछ न कुछ मात्रा मिली रहती है इसमें हठ (अवस्था) क्षेत्र है दैव शक्ति है और पुरुषार्थ प्रयत्न है परन्तु शास्त्रों ने मुख्य पुरुषार्थ ही को माना है क्योंकि उत्कट पुरुषार्थ दैव और हठ दोनों की सीमाओं को पार कर जाता है, अतएव महाभारत में उसी स्थान पर कहा गया है।

यश्च दिष्टिपरोलोके यश्चापि हठ वाचकः। उभौहितु कृपणौ लोके कर्म बुद्धिः प्रशस्यते ३२, १

अर्थ—दैव और हठ परायण पुरुष कायर है, कर्म परायण पुरुष ही प्रशंसनीय है महर्षि दयानन्द जी ने भी स्वमन्तव्यामन्तव्य के २५ वें अंक में लिखा है।

पुरुषार्थ प्रारब्ध से बड़ा इसलिये है कि जिससे संचित प्रारब्ध बनते, जिसके सुधार से सुधरते और जिसके बिगाड़ने से सब बिगड़ते हैं।

संचित-जो कर्म एक जन्म में भोगने से शेष रह जाते हैं वह संचित रूप में दूसरे जन्म में प्रारब्ध में सम्मिलित हो जाते हैं अतएव यह एक प्रारब्ध ही का रूप है।

कर्म फल पर एक विचित्र प्रश्न

कई लोग यह प्रश्न करते हैं कि पापी को तो दण्ड मिला परन्तु पापी ने जिसको दुःख दिया उसको निरपराध क्यों दुःख मिला इस प्रश्न का उत्तर कई विद्वान् यह देते हैं, कि उसे किसी पूर्वजन्म के कर्म का फल मिला। इस पर प्रश्न होगा कि क्या पापी को दुःख देने की प्रेरणा परमात्मा ने की। यदि नहीं तो यह दुःख न्यायाधीश की प्रेरणा से न होने से पूर्व जन्म के कर्म का फल कैसे ? यदि प्रेरक परमात्मा माना जावे तो पापी के स्वतन्त्र न रहने से उसे पाप कर्म का कर्त्ता कैसे माना जावे ? और उसे दण्ड क्यों दिया जावे ? इस अवसर में कई विद्वान् यह कह देते हैं कि परमात्मा की ओर से उसे दुःख मिलना था परन्तु पापी ने उसी समय उसे उतना ही दुःख दे दिया। अतएव पापी भी अपराधी है और उसे स्वकर्म फल रूपी दुःख भी मिल गया। परन्तु प्रश्न होता है कि ऐसी लाखों घटनायें प्रतिदिन होती रहती हैं और उनमें अचानक अपराधी तत्काल पहुंच जाते हैं, और दुःख भी उतना ही देते जितना उसकी प्रारब्ध में है। यह सर्वथा असम्भव है। सांसारिक न्यायाधीशों के अपराधियों को तत्काल अपनी स्वतन्त्रता से उतना ही दण्ड देने वाला, सहस्रों वर्षों में एक भी मिले। परन्तु परमात्मा के अपराधियों के साथ प्रतिदिन लाखों ऐसी घटनायें हो जावें, इसे कौन स्वीकार करेगा। इसके अतिरिक्त अपराधी के बिना कोई ऐसा हेतु भी हमें दृष्टि गोचर नहीं होता जिससे माना जावे, कि सचमुच ईश्वर की ओर से दुःख का कोई प्रबन्ध हो चुका था और उपयुक्त प्रमाणों से यह भी सिद्ध होता है कि प्रभु की ओर से कर्म फल देने के लिये केवल जन्म दिया जाता है अतएव जन्म के सम्बन्ध से ही जीव को जो भोग प्राप्त होता है वह प्रारब्ध है अन्य कुछ नहीं। इस पर कुछ महानुभावों का यह विचार है कि उस दुःखी को उस दुःख के बदले कोई सुख परमात्मा की ओर से दे दिया जावेगा। यदि ऐसा मानें तो क्या उपकारी से उपकृत मनुष्य को जो सुख मिला है, उसके बदले उसे इतना दुःख भी मिलना चाहिये ? वास्तव में यह बात निरर्थक है, अतएव वेद शास्त्र ने इस पर कोई प्रकाश नहीं डाला। क्योंकि पाप का अर्थ निरपराध को सताना और पुण्य का अर्थ भी कर्म फल के बिना ही सुख पहुंचाना है। यदि ऐसा न माना जावे तो कोई पुण्यात्मा पुण्य फल का भागी और पापी पाप कर्म का भागी न हो सकेगा।

यह प्रश्न होगा कि यदि अपने कर्मों के बिना भी सुख दुःख हो सकता है तो ईसाई सलमान जो यह मानते है कि प्रभु बिना कर्म के ही जन्म देकर जीव को सुख दुःख भी ता है उससे क्या दोष होगा। इसका उत्तर यह है कि जिस तरह वह अपराधी पापी मझा जाता है विना कर्म के दुख देने से परमात्मा भी अपराधी होगा। और जैसे एक 'जा व पिता बिना कर्म के अपनी प्रजा को दुःख सुख देने से अन्यायी कहलाता है, ऐसे श्वर पर भी दोष लगेगा।

एक ईसाई पादरी ने प्रश्न किया था कि वैदिक धर्म में कर्म का फल आवश्यक है, । मुक्ति नहीं हो सकती क्योंकि जीवन मुक्त जीव से भी कर्म अवश्य होते हैं। इसका उत्तर द ने दिया है कि—न कर्म लिप्यते नरे। यजुः ४०। २

जीवन मुक्त निष्काम कर्म करने से कर्मों में लिप्त नहीं होता। श्वेताश्वतरोप ाषद् में है।

आरभ्य कर्माणि गुणान्वितानि। भावांश्च सर्वान् विनियोजयेद्यः ॥
तेषामभावे कृतकर्म नाशः। कर्म क्षयो याति सतत्वतोऽन्यः ॥ ६। ४

मनुष्य उत्तम कर्मो को करे और उनसे संसार में होने वाले सुखों की भावना का ाग करदे। इस प्रकार कर्मों के नाश होने से तत्व ज्ञान से यह मुक्त हो जावेगा।

क्या वेद अपौरुषेय है ?

[लेखक—पं० चन्द्रकान्त जी वेदवाचस्पति, वेदमनीषी आचार्य गुरुकुल विद्यामन्दिर सूपा बारडोली, गुजरात]
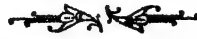
इस लेखमें तात्विक दृष्टिसे ईश्वरीय ज्ञान विषयक विचार किया गया है। वनस्पति, पशु पक्षी, मनुष्य आदि योनियां परमात्मा की विशेष रचनायें हैं। पाश्चात्य विचारकों की दृष्टि से पशु, जगत को मानव जगत से पृथक करने वाली निम्न तीन बातें है।

(१) शस्त्र व्यवहार (Use of tools) (२) अग्नि व्यवहार (Use of fire) (३) व्यक्त भाषा प्रयोग (Use of Articulate Language)

अत्यन्त असंस्कारी मानव समाज में भी व्यक्त भाषा के अभाव का विचार करना कल्पनातीत बात मानी जा सकती है। हमारे सामने सबसे पहिले प्रश्न यह उपस्थित होता है कि मनुष्य में अपने भावों को दूसरे के सामने व्यक्त करने की और दूसरे के साथ विचार करने की शक्ति आई कहां से ?

नवजात शिशु प्रारंभ में तो कुछ भी बोल नहीं सकता या विचार नहीं सकता है उम्र की वृद्धि के साथ उसमें मां-बाप या गुरु इत्यादि के संसर्ग द्वारा विचारने की और अपना हिताहित समझने की शक्ति आती है। क्या मनुष्य, क्या पशु-पक्षी, सबमें खाने पीने सम्बन्धी सामान्य ज्ञान अवश्य होता है। परन्तु विशिष्ट ज्ञान भिन्न २ जातियों में भिन्न २ कोटि के मनुष्यों में विशेष निमित्त से ही आता है। पशु और मनुष्य में भोग शक्ति समान रूप से ही है परन्तु आदमी के सिवाय दूसरे किसी भी प्राणी में भोग्य पदार्थ की उत्पत्ति, रक्षा और वृद्धि का ज्ञान नहीं होता। यदि आत्मा के स्वाभाविक ज्ञान से ही यह सब हो जाता हो तो पशु में भी आत्मा है, वह क्यों भोग्य पदार्थों की वृद्धि, उत्पत्ति तथा रक्षा का कार्य नहीं कर सकता ? अकेला मनुष्य ही अन्य चेतनादियों की सहायता से स्वाभाविक ज्ञान में वृद्धि करता है। घर बनाना, वस्त्र बनाना आदि अनेक क्रियायें वह नैमित्तिक ज्ञान के आधार पर ही करता है। हम देखते हैं कि गाय, भैंस आदि के बच्चे स्वाभाविक तौर से ही तैरना जानते हैं परन्तु मनुष्य बिना सीखे नहीं तैर सकता। संभव है कि स्वाभाविक ज्ञान अथवा सामान्य-सहज ज्ञान पशुओं में मनुष्य से अधिक हो, परन्तु मनुष्य नैमित्तिक ज्ञान की प्राप्ति तथा वृद्धि की योग्यता से ही पशु से उच्च गिना जाता है। जीवात्मा का ज्ञान* चैतन्य एक गुण है। जीवात्मा ज्ञान प्राप्त कर सकता है परन्तु कैसे ? हमारी आंखों में दृष्टि शक्ति है परन्तु वह सूर्य ज्योति के सिवाय उपयोग में नहीं आ सकती और आंख के बिना सूर्य का प्रकाश भी निरर्थक और अस्तित्व हीन सा लगता है। इस तरह जीवात्मा में शक्ति होने पर भी अन्य निमित्त से

---

*इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुखदुःख ज्ञानान्यात्मनो लिंगम्।। न्या०द०

ज्ञान उत्पन्न नहीं होता। मानव देह में भोग तथा कर्म दोनों के लिये ज्ञान अपेक्षित है। यह ज्ञान आज भी हजारों प्रयत्न करने पर भी माता-पिता इत्यादि चेतनों के बिना नहीं मिल सकता तो फिर सृष्टि के प्रारंभ में जीवात्माओं को किसी भी चेतन निमित्त के बिना ज्ञान कैसे उपलब्ध हुआ होगा ?

कुछ विकासवादी विचारक मानते हैं कि मनुष्यों में आवश्यकतानुसार विचार उत्पन्न हुए और उसमें वृद्धि होती गई। परन्तु इस विषय में कोई भी पुष्ट प्रमाण नहीं है। महान् से महान् आपत्ति में भी मानव शिशु ने दूसरे के पास से शिक्षा लिये बिना ज्ञान का आविष्कार नहीं किया है। इस विषय को अर्वाचीन समय में किये गये अनेकों परीक्षणों से प्रमाणित किया जा सकता है। *एक बच्चा एक धनिक के घर जन्म लेता है परन्तु जब तक उसको शिक्षण न दिया जाय तब तक वह कुछ भी नहीं सीख सकता। आवश्यकता अवसर और परिस्थिति अपने आप स्वतंत्र रूप से ज्ञानोत्पत्ति में कारण रूप नहीं बन सकते। यदि कोई चेतन शक्ति ज्ञान को उद्भूत करने में निमित्त रूप बनती है तो आवश्यकता अवसर और परिस्थिति ज्ञान की वृद्धि में कारण रूप बनते हैं। इसी लिये सृष्टि के आरंभ में भी जीवात्माओं ने भी किसी निमित्तभूत चेतन शक्ति द्वारा ही ज्ञान प्राप्त किया होगा। ऐसा कहना संभव नहीं अपितु युक्तियुक्त है। इसीलिये पतंजलि मुनि ने समाधि पाद के २६ वें सूत्र में प्रभु को "पूर्वेषामपि गुरुः" कहा है अर्थात् प्रभु में काल कृत सीमायें न होने से ब्रह्मा, अग्नि, वायु, आदित्य, अंगिरा आदि ऋषियों का भी वह गुरु है। वेदांत शास्त्र में इसी से प्रभु को शास्त्रयोनि ("शास्त्रयोनित्वात्"........१-१-३ में) कहा है-

हमने देखा कि सृष्टि के प्रारंभ में जीवात्माओं को नैमित्तिक ज्ञान की आवश्यकता है और नैमित्तिक ज्ञान चेतन की सहायता से ही मिल सकता है। वह चेतन "परमात्मा" है। दूसरे शब्दों में कहें तो सृष्टि के आदि में ईश्वर प्रेरित अर्थात् अपौरुषेय (पुरुष—मनुष्य) ज्ञान की सत्ता अवश्य होनी ही चाहिये।

सामान्यतः ज्ञान के तीन विभाग किये जा सकते हैं (१) स्वाभाविक (२) †नैमित्तिक (३) काल्पनिक। इसमें सृष्टि के आरंभ का ईश्वरीय ज्ञान नैमित्तिक कोटि का है। स्वाभाविक ज्ञान

---

* ग्रीक के समेटिकल बादशाह ने, स्कॉटलैण्ड के जेम्स चतुर्थ ने, हिन्दुस्तान में अकबर ने परीक्षण किये हैं। विशेष विवरण के लिये देखो—Transactions of the Victoria Institute १५ वें वॉल्युम में ३३६ वां पृष्ठ।

†(१) Mr. Maurice phillips की पुस्तक The Teaching of the Vedas ज्ञानोत्पत्ति प्रकरण पृष्ठ १०४। सृष्टि के आदि में ईश्वरीय ज्ञान की आवश्यकता है। ज्ञानोत्पत्ति की समस्या का हल इसमें ही है। (B) महाशय पेरी (Perry) ने Children of the Sun में (१२८ पृ० ६०) लिखा है कि मनुष्य में क्रमशः ज्ञान उत्पन्न होने का विचार सर्वथा त्याज्य है।

(C) Elliot Smith अपनी Evolution in the Light of Modern Knowledge में विकासवाद से विरुद्ध अपने विचारों को प्रदर्शित करता है।

से मनुष्य के दिमाग में ऐसी शक्ति उत्पन्न नहीं हो सकती कि जिससे वह अपना ज्ञान विस्तृत बना सके ? संस्कार हीन और जंगली जातियां इसकी साक्षी स्वरूप हैं। हम संसार में विशाल ज्ञान देखते हैं वह ज्ञान प्रथम श्रेणी के ज्ञान का विकास नहीं है। इसी तरह प्रारंभिक ज्ञान काल्पनिक ज्ञान की कोटि का भी नहीं है। क्योंकि यदि प्रभु की ओर से सब कुछ बता दिया गया हो तो मनुष्य की स्वतन्त्र शक्ति तथा व्यक्तित्व का कोई भी अर्थ नहीं है। मानवीय विचार का प्रवेशद्वार ही उस अवस्था में बंद हो जाता है। इस लिये सृष्टि के आदि में ईश्वरप्रदत्त ज्ञान नैमित्तिक कोटि का अर्थात् प्रवेशक ज्ञान की कोटि का होना चाहिये। ईश्वरीय ज्ञान के विषय में हम तीन प्रकार की कल्पनायें कर सकते हैं।

(१) यह ज्ञान सृष्टि के प्रारंभ में ही मिला। तत्कालीन मनुष्यों के लिये यह ज्ञान गुरु स्वरूप हुआ।

(२) कालक्रम से विशिष्ट व्यक्तियों के द्वारा विशेष ग्रन्थों के स्वरूप में ईश्वरीय ज्ञान प्रादुर्भूत होता है।

(३) किसी भी प्रकार के माध्यम के बिना ही समय समय पर विशिष्ट व्यक्तियों को ईश्वरीय ज्ञान प्राप्त होता है।

इन तीनों कल्पनाओं में प्रथम कल्पना ही बुद्धि-संगत है। क्योंकि सृष्टि के प्रारंभ में आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये ईश्वरीय ज्ञान के प्राप्त होने के बाद भी ऐसे ज्ञान की पुनः उपलब्धि होवे, ऐसी कल्पना में ईश्वर की सर्वज्ञता तथा न्यायप्रियता खंडित हो जाती है। साथ ही ईश्वरप्रेरित ज्ञान में थोड़ा बहुत कम-ज्यादा करना, कुछ निकाल देना (Abrogate) यह वस्तु तो ईश्वरत्व में ही बाधा पहुँचायेगी। इसी लिये सर्व प्रथम कल्पना ही बुद्धि-संगत और अधिक युक्तियुक्त भी है।

अब हमारे सामने प्रश्न उपस्थित होता है कि निराकार और निरंजन प्रभु जीवात्माओं को ज्ञान कैसे देता है ? मनुष्य जब कोई शुभ कार्य करना चाहता है तब उसके संकल्प करने के साथ ही उसमें उत्साह और प्रसन्नता उत्पन्न होती है और जब अशुभ कर्म करना चाहता है तब संकल्प मात्र से ही भय शंका उत्पन्न होती है। दोनों अवस्थाओं में मनुष्य में उत्पन्न हुए उत्साह अनुत्साहादि भावों को हम वाणी से कह नहीं सकते और कानों से सुन भी नहीं सकते। यह भाव केवल हृदय में ही उत्पन्न होता है। इस अन्तः करण की प्रेरणा के अनुरूप ही ईश्वरीय ज्ञान भी ऋषियों के हृदय में उत्पन्न होता है। ऋषि भी उसे हृदय से ही समझते हैं। इस विषय में अनेकों *तत्वज्ञों की सहमति है। जैसे हिप्नोटाइज़र सामने उपस्थित मनुष्य के

* (क) "Science of Language" के दूसरे भाग में २६६ पृष्ठ पर मेक्समूलर ने पाइथोगोरस का विचार करते लिखा है "But there is a Voice of Conscience Within us, the Utterance of a divine Law, independent of human Statutes and traditons, self raident, irrefragable"

मुख से केवल मानसिक प्रेरणा के ही आधार से ऐसी २ भाषाओं के शब्दों को बुलवाता है जो शब्द उस व्यक्ति ने कभी भी सुने नहीं हैं । इसी तरह सर्वव्यापक और सर्वशक्तिमान् परमात्मा सृष्टि के आदि में आदि मानवों के हृदयों में ज्ञान का प्रकाश करता है ।

आदि ज्ञान तथा आदि भाषा

ज्ञान शब्द से हम दो प्रकार के भावों को समझ सकते हैं । एक तो विचार अथवा भाव और दूसरा उस विचार की सूचक-भाषा । मनुष्य में किसी भी प्रकार के विचार किसी विशिष्ट भाषा के आधार के बिना उत्पन्न नहीं होते । केवल दूसरे के सामने अपने भावों को व्यक्त करने के लिये ही भाषा की आवश्यकता है यह बात नहीं । परन्तु हमारे अन्तरात्मा में भी विचार भाषा के बिना नहीं रह सकते । प्रसिद्ध भाषा शास्त्री प्रो० मेक्समूलर अपनी पुस्तक भाषा विज्ञान में लिखते हैं:—(पृष्ठ ९९)

We never meet With articulate Sounds Except as Wedded to determinate ideas, no do we ever I believe, meet with determinate ideas except as embodied forth in articulate Sounds. I therefore, declare my Conviction as explicitly as posssble, that thought in the sense of reasoning is not possible without language

इसी प्रकार Schelling भी लिखता है कि—

Without language, it is impossible to conceive philosophical nay even any human consciousness. (मैक्समूलर कृत the science of Language P.99)

अर्थात् भाषा के आधार के बिना मानवीय ज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता । भाषा से यहां पर किसी देश, जाति या काल विशेष की भाषा का तात्पर्य नहीं हैं । परन्तु भाषा से यहां बोलने की शक्ति का अर्थ अभिप्रेत है । जो शक्ति मनुष्य को सृष्टि के प्रारंभ में प्राप्त हुई है । यह शक्ति आई कैसे ? अनुभव और दृष्टान्त हमें बताते हैं कि बालक कोई भी भाषा बिना सिखाये नहीं बोल सकता । माता-पिता आदि के द्वारा सुनकर ही वह मातृभाषा को बोलने में और समझने में समर्थ होता है ।

सामान्यतः हम जानते हैं कि संसार में एक दूसरे से भिन्न ऐसी हजारों भाषायें हैं । जिससे हम विचार करते हैं कि आवश्यकता और परिस्थितियों में भिन्न २ जातियों ने भिन्न २ समय में ये भाषायें प्रचलित की हैं और ऐसे ही प्रारंभ में भी भाषा विकसित हुई होगी । परन्तु यह धारणा गलत है क्योंकि भाषा विज्ञान वेत्ताओं ने f किया है कि संसार में प्रच-

(ख) ग्रीक तत्वज्ञ एपीक्युरस के विचार में सबसे प्रथम भाषा को प्रगट करने में मनुष्य ने ईश्वरीय प्रेरणा से अबोधता से कार्य किया । जैसे उसने छींक ली, और खांसी खाई तथा दुःख से उछवास भरा (Materialism by is Thanja Page 5, 2)

(ग) "अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतत्" "बृहदारण्यक उपनिषद्"

लित कोई भी भाषा सर्वथा नई नहीं है। उन सबकी उत्पत्ति एक ही किसी मातृभाषा में से हुई है। अब हमारे सामने विचारणीय प्रश्न है कि सब भाषाओं की मूलभाषा कौनसी है? और उसका विकास कैसे हुआ?

भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में थोड़े मतों का पर्यालोचन

इस विषय की चर्चा करते समय हमारे सामने दो विचार उपस्थित होते हैं। एक तो यह कि भाषा का विकास क्रमशः हुआ है और दूसरा यह कि ज्ञान की तरह भाषा भी कोई दैवी शक्ति द्वारा हमको मिली है। विकासवादी अपने मत को सिद्ध करते हुए निम्न तीन कल्पनायें उपस्थित करते हैं:—

(१) भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में सर्व प्रथम कल्पना (Theory of convention) सांकेतिक भाषा, सिद्धांत की है। इसके आविष्कर्ता महाशय लॉक थे। एडमस्मिथ ने भी इसका भली भांति समर्थन किया है। इसके अनुसार तो प्रारम्भ में सब प्राणी मूक थे। अपने भावों को व्यक्त करने के लिये वे शरीर के भिन्न २ संकेत करते थे। पीछे से विचार इतने बढ़े कि संकेतों से प्रकट करना असंभव हुआ तब थोड़े कृत्रिम चिह्न निश्चित किये गये। और उनके अर्थ पारस्परिक अनुभूति से निश्चित हुए। यह कल्पना विचारने से अपूर्ण लगती है क्योंकि जब शब्द और अर्थ दोनों अपूर्ण थे तो परस्पर की अनुभूति किस माध्यम पर स्वीकृत हुई थी? यह प्रश्न बना रहता है।

(२) दूसरी कल्पना (Gnomatopoetid theory) नाम से कही जाती है। इस कल्पना के आधार पर माना जाता है कि प्रारम्भ में जब मनुष्य ने बोलना शुरू किया तब उसने अपने आस पास के, जीवधारी चेतन प्राणियों की आवाज़ का अनुकरण किया और पीछे से वे शब्द जिसके अनुकरण से बने थे उस पदार्थ के लिये प्रयोग में आने लगे।

परन्तु किसी भी भाषा का इतिहास हमें इस कल्पना की पुष्टि नहीं करता, हम चाहे जिस भाषा का विचार करें, उसमें प्राकृतिक जगत में उत्पन्न होने वाली आवाज़ के साथ साम्य धारण करने वाले शब्द बहुत ही कम दीखते हैं। शायद् एकाध शब्द मिल भी जाय तो भी उससे यह मत सिद्ध नहीं होता।

(३) तीसरी कल्पना (Bow Vow) तथा (Interjectional Theory) के नाम से प्रसिद्ध है। इसके अनुसार मनुष्य के मानसिक भाव वेगयुक्त बन कर उसके मुख में से स्वाभाविक शब्दों द्वारा व्यक्त होते गये और इस प्रकार धीरे धीरे भाषा की उत्पत्ति हुई। मनुष्य दुःख में हा! हा!! और आनन्द में वाह! वाह!! करने लगा। इस विषय में केवल इतना लिखना ही पर्याप्त है कि जगत् की प्रत्येक भाषा में ऐसे शब्द नाममात्र को ही मिलते हैं। वे शब्द भी भाषा के अनिवार्य अंगभूत नहीं हैं। साथ में यह वस्तु भी अकल्प्य लगती है कि मनुष्य के मुख में से उल्टे-सीधे जो भी शब्द निकल पड़े उनको दूसरे मनुष्यों ने एक निश्चित अर्थ में ही कैसे जाना? अन्त में स्वभावतः हम इस परिणाम पर आते हैं कि सृष्टि

में प्रभु ने शब्द और उनके अर्थ तथा दोनों के सम्बन्धों को जोड़ सकने का ज्ञान दिया है। प्रो० मेक्समूलर ने इसी सत्य को अपने भाषाविज्ञान नामक पुस्तक में स्वीकृत किया है। वे लिखते हैं कि मनुष्यों में और प्राणियों में भाषा का भेद ऐसा है कि उसको हम कभी दूर नहीं कर सकते। संसार में ऐसा एक भी प्रमाण नहीं मिलता कि जिससे ज्ञात हो कि अमुक पशु उन्नति करता करता मनुष्य की स्थिति तक पहुँचा हो और मानव भाषा का प्रयोग करता हो। इससे विपरीत यह बात स्पष्ट है कि मनुष्य अभ्यास से पशुओं की भाषा बोल सकता है। परन्तु पशु का ऐसा अनुकरण असंभव है। (भाषा-विज्ञान १ भाग पृ० १३)

हम आगे यह देख चुके हैं कि शब्दों में विशेष अर्थ निर्धारित करने की शक्ति प्रभु ने दी है। इससे हम कह सकते हैं कि सृष्टि के आरम्भ में प्राणियों को प्रभु की ओर से नैमित्तिक ज्ञान और भाषा भी दी गई है। अब हमारे विचारने का विषय यह है कि अपौरुषेय ज्ञान कैसा और कौन सा है? और वह किस भाषा में प्रगट हुआ है? युक्ति और प्रमाणों के आधार पर विचारने से हमें यह प्रतीत होता है कि ईश्वरीय ज्ञान वेद ही है। वेद के सिवाय अन्य ग्रन्थ ईश्वरीय ज्ञान रूप सिद्ध नहीं होते क्योंकि ईश्वरीय ज्ञान की निम्न परीक्षा में वेद ही सत्य रूप से टिके हैं।

(१) चारों वेदों की अन्तः साक्षी तथा अन्य शास्त्रों की अन्तःसाक्षी से स्पष्ट होता है कि वेद ईश्वरप्रेरित ज्ञान हैं।

(२) ईश्वरीय ज्ञान का प्रकाश सृष्टि के प्रारम्भ में ही होना चाहिये। यदि ऐसा न माना जाय तो ईश्वर की न्याययुक्तता खंडित हो जाती है।

(३) ईश्वरीय ज्ञान किसी देश विशेष की भाषा में नहीं होना चाहिये जिससे कि उसको समझने में सब को समान श्रम करना पड़े।

वेद ऐसी भाषा में है जो सब आर्य भाषाओं की जननी है। भाषा विज्ञान के विद्वानों ने यह बात सिद्ध कर दी है कि अब तक की प्रचलित सब भाषाओं में प्राचीनतम भाषा वैदिक भाषा है। और इस वैदिक भाषा में से ही अनेक भाषाओं का विकास हुआ है। इससे हमें यह प्रतीत होता है कि प्रारम्भ में ईश्वर की ओर से दिया हुआ ज्ञान वैदिक भाषा में दिया हो यह असंभव नहीं।

(४) यह ज्ञान सृष्टि के नियमों से विपरीत नहीं होना चाहिये।

(५) इस ज्ञान में सब सत्य विद्याओं के मूल भूत सिद्धान्तों का होना जरूरी है। वेद उपर्युक्त पांचों परीक्षाओं के आधार पर ईश्वरीय ज्ञान की योग्यता सिद्ध करता है। ब्राह्मण ग्रन्थ वेदों के व्याख्यान ग्रन्थ हैं जो कि याज्ञवल्क्य आदि ऋषियों द्वारा बनाये गये हैं। इस प्रकार वे मनुष्यकृत होने से ईश्वरीय ज्ञान की कोटि में नहीं आ सकते।

यहां पर एक स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि यदि ईश्वर को ही वेदों का कर्ता

माना जाय तो मंत्रों में आने वाले ऋषियों को क्या माना जायगा ? ऋषियों के नाम मन्त्रों और सूक्तों के साथ सम्बन्ध रखते हैं। क्या उनको मन्त्रों का कर्ता नहीं मान सकते ? इस विषय में इतना ही कहेंगे कि हम ऋषियों को वेद के कर्ता नहीं, परन्तु द्रष्टा मानते हैं। वे वेदों के ज्ञाता हैं परन्तु निर्माता नहीं। इस विषय में थोड़े प्रमाण नीचे दिये जाते हैं।

(१) नमो ऋषिभ्यो मंत्रकृद्भ्यो मंत्रपतिभ्यः । (तैत्तिरीयारण्यक-४-१७) इस पर आचार्य सायण ने निम्न भाष्य किया है। मंत्रकृद्भ्यः मंत्रं कुर्वन्तीति मंत्रकृतः। यद्यप्यपौरुषेय वेदे कर्तारो न सन्ति तथापि कल्पनादावीश्वरानुग्रहेण मंत्राणां लब्धारो मंत्रकृत-इत्युच्यन्ते। इसमें सायण मंत्रग्रहणकर्ता ऋषियों को मंत्रकर्ता शब्द से संबोधित करते हैं।

(२) सर्वऋषिर्मन्त्रकृतः (ऐ० ब्रा० ६-१-१)

इसकी टीका सायण यों करते हैं ऋषि अतीन्द्रियार्थमंत्रकृत्। कृ धातुस्त्वत्र दर्शनार्थः मंत्रस्य द्रष्टा। अर्थात् मंत्रकृत का अर्थ मंत्रद्रष्टा है।

(३) आचार्य यास्क ने लिखा है कि—

ऋषिःदर्शनात् स्तोमान् दर्शत्यौपमन्यवस्तद् यदेनान् तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयंभू: अभ्या-नर्षत् तत् ऋषयोऽभवन् तदृषीणामृषित्वमिति विज्ञायते।

इसमें भी यास्क ने ऋषियों को मंत्रद्रष्टा रूप से ही स्वीकृत किया है। ऐसे अनेक प्रमाणों से स्पष्ट होता कि वेद मंत्रों के कर्ता ऋषि नहीं हैं परन्तु वेद ईश्वर प्रेरित हैं। ऋषि संसार के गुप्त रहस्य रूप मंत्रों (Secret Ideas) के ज्ञाता है द्रष्टा हैं। "सिद्धान्त सार" नामक अपनी प्रसिद्ध पुस्तक में भी मणिभाई मनुभाई लिखते हैं कि:—

"सप्तसिंधु प्रदेश में आकर बसी हुई आर्य शाखा का मूल धर्म पुस्तक "वेद" संज्ञा से प्रसिद्ध है। कुरान, बाईबल आदि शब्द जैसे पुस्तक वाचक हैं, वैसे "वेद" शब्द पुस्तक वाचक नहीं है 'विद्' अर्थात् जानना, ज्ञान प्राप्त होना, इस धातु से व्युत्पन्न वेद शब्द ज्ञान मात्र का भंडार, ऐसे अर्थ का वाचक है। सर्वज्ञता का स्वरूप ही वेद है। इसीलिये ईश्वरप्रणीत कहते हैं। मूसा पयगम्बर को ईश्वर ने अपने आप दस आज्ञायें दी थीं। तथा मुहम्मद साहेब को जिब्राइल नामक फरिश्ते ने कुरान के संदर्भ के संदर्भ प्रसंग प्रसंग पर कहे थे। परन्तु वेद ऐसे उतरा नहीं कहा जाता। वेद तो ईश्वरदत्त नहीं परन्तु ईश्वर प्रेरित कहाता है। और वेद मंत्र भिन्न २ ऋषियों के ज्ञान में प्रेरित होते हैं। दृष्ट हुए हैं, इसलिये उनको मंत्रद्रष्टा कहते हैं। ऋषियों के ज्ञान में प्रतीत होना और ऋषियों द्वारा ही बनाया जाना इन दोनों अर्थों में इस प्रकार सूक्ष्म भेद मानकर प्राचीन पंडित ऐसा कहते हैं कि वेद मंत्र अनादि हैं। अर्थात् ज्ञान में प्रगट हो सकते हैं परन्तु बनाये नहीं जा सकते। अनंत युग, अनंत कल्प, बीत चुके परन्तु वेद वही का वही है। उसका कर्ता किसी के स्मृति पट पर नहीं अतः वह नित्य है, अनादि हैं, अपौरुषेय है। ईश्वर प्रणीत है, ईश्वर रूप है। मीमांसक तो शब्द की नित्यता सिद्ध कर, शब्द अर्थात् ब्रह्म और ब्रह्म अर्थात् वेद उसकी भी नित्यता सिद्ध करता है इसलिये

उसे अनादि मानना पड़ता है। ऐसी पूज्य अनादिता के लिये यह पुस्तक सर्वथा योग्य-पात्र है क्योंकि मनुष्य के विचार का प्राचीनतम इतिहास उसके बिना मिलना हमें दुष्कर था।" (५७ पृष्ठ)

उपर्युक्त उद्धरण से भी स्पष्ट होता है कि वेद ईश्वर प्रेरित है। ऋषि मुनियों की स्वतंत्र कृति न होने से पौरुषेय नहीं अपितु अपौरुषेय हैं। इसीलिये सायणाचार्य ने ऋग्वेद "भाष्योपक्रमणिका" में वेद का लक्षण करते हुए लिखा है कि "अपौरुषेयं वाक्यं वेदः" वेद शब्द ज्ञान वाचक है। मनुष्य जाति के सब से पुरातन इस ग्रन्थ में समस्त विद्याओं के तत्व बीजरूप से विद्यमान हैं। ऋषियों ने अपनी स्वतन्त्र बुद्धि से यह ज्ञान नहीं पैदा किया, परन्तु अन्तर्यामी रूप से विद्यमान सर्व व्यापक प्रभु द्वारा हृदय की प्रेरणा रूप से यह ज्ञान उपलब्ध हुआ है। इसीलिये उसे 'श्रुति' भी कहा जाता है।

हमारे प्राचीन दर्शन ग्रन्थों में भी वेद की पौरुषेयता-अपौरुषेयता के ऊपर अनेक विचार भिन्न २ दृष्टि से उपस्थित किये गये हैं। मीमांसक कहते हैं कि नित्य शब्दमय वेद किसी से पैदा नहीं हुए। ऋषियों ने उनका दर्शन किया है। उपलब्धि की है। परन्तु ऋषियों ने उन्हें बनाया नहीं। इसी से वेद अकर्तृक-नित्य और अपौरुषेय हैं। सांख्यकार मानता है कि सूर्यचन्द्रादि की तरह वेद भी प्रकृति के नियमानुसार उत्पन्न हुए हैं। उनके रचयिता ज्ञाता न होने से वे अपौरुषेय हैं। सांख्यकार के मतानुसार वेद स्वतः प्रमाण हैं क्योंकि वे ईश्वर रूप 'पुरुष' द्वारा प्रादुर्भूत हुए हैं। (५-५) "निजशक्त्यभिव्यक्तेः स्वतः प्रामाण्यम्" अर्थात् वेदों में स्वाभाविक शक्ति है कि जिससे वे अपना अर्थ सिद्ध करने में अन्य प्रमाणों की अपेक्षा नहीं रखते। उनके बनाने वाले ज्ञात न होने से अपौरुषेय गिने जाते हैं। (नापौरुषेयः तत्कर्तुः पुरुषस्याभावात् ५-४५) प्राचीन नैयायिकों के मतानुसार वैदिक शब्दों को लौकिक भाषा के शब्दों के समान ही मानना चाहिये। वेद के शब्द कूटस्थ नित्य नहीं है। परन्तु प्रवाह नित्य अवश्य हैं। जसे आयुर्वेद आप्त भी है और उसका प्रत्यक्ष प्रमाण भी है वैसे ही वेद के विषय में भी समझना चाहिये। उनके मतानुसार वेद पौरुषेय हैं। (मंत्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्चतत्-प्रामाण्यं आप्त प्रामाण्यात् २-१-६८ न्यायसूत्र) इससे मिलता हुआ मत वैशेषिक का प्रतीत होता है, उसके अनुसार शब्द स्वरूप वेद अनित्य और अपौरुषेय हैं। परन्तु अर्थ रूप में विद्यमान विद्यायें नित्य हैं और अपौरुषेय हैं। (तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम् १-१-३ वै. सू.) वैयाकरणों में से पतंजलि तथा कैयट का भी ऐसा विचार है। ऐसे ही हमारे प्राचीन दर्शनों में भी अपौरुषेयता शब्द का व्यवहार हमने देखा। सब ने विभिन्न दृष्टियों से अर्थ किये हैं। ऐसी अवस्था में शायद हमको उपरिदृष्टि से दर्शनों में एकवाक्यता का अभाव प्रतीत होवे परन्तु यदि तात्विक बुद्धि से विचारेंगे तो प्रतीत होगा कि वेद ईश्वर प्रेरित हैं इसी लिये पौरुषेय नहीं हैं। पुरुष शब्द को यदि ईश्वर परक समझा जावे तो पौरुषेय कह सकते हैं। परन्तु यदि उससे ऋषि मुनियों का ग्रहण किया जावे तो पौरुषेयता में दोष आता है।

इस तरह हमने वास्तविक दृष्टि से इस बात का प्रतिपादन करने का प्रयत्न किया कि वेद ईश्वर प्रेरित हैं अपौरुषेय हैं। इससे विपरीत ब्राह्मण ग्रन्थ मनुष्य निर्मित होने से ईश्वर प्रेरित नहीं हैं। संसार के समस्त आधार भूत ज्ञान का भंडार वेद ही है। (महत ऋग्वेदादे······ अनेक विद्या स्थानोपबृंहितस्व सर्वज्ञकल्पस्य) इसके द्वारा ही जगत् में ज्ञान का विकास हुआ है।

एडवर्ड कार्पेन्टर ने अपनी पुस्तक "Art of creation'" के ७ वें पृष्ठ पर लिखा है कि:—

A new philosophy we can hardly expect or wish for since, indeed the same germinal thoughts of the Vedic authors Come all the way down history even to Schopenhour and Whitman inspiring philosophy after philosophy and religion............ and it is only to-day that science with its huge conquests in the material plane is able to provide for these world-old principles............, somewhat of a new form and so wonderfull a garment of illustration and expression as it does.

इस उद्धरण से वेदों की महत्ता स्पष्ट होती है। अपौरुषेय ईश्वर प्रेरित ज्ञान की महत्ता किस लिये इस प्रकार न गाई जावे ?

वैदिक वर्णव्यवस्था

[ले०—विद्याभूषण शिवकुमार शास्त्री काव्य-व्याकरणतीर्थ मुख्याधिष्ठाता महाविद्यालय,
गुरुकुल ग्राम जेहलम]

शिक्षा दीक्षा, रीति नीति, सभ्यता संस्कृति और आचार व्यवहार में आर्यों की गुरुता को आज प्रायः समस्त सभ्य संसार स्वीकार कर चुका है। आर्यों की सांस्कृतिक दीक्षा (Cultural instruction) और साम्राज्य के समय भूमण्डल ने जिन स्वर्गीय दृश्यों को देखा वे अब कहां ? वे वास्तव में मनुष्य थे और मनुष्य बनने बनाने के उत्तम सिद्धान्तों का पालन करते कराते थे। आइये, उस पुराने काल की आप को भी एक झांकी दिखावें।

अपने काल का वर्णन करते हुए आदि कवि श्री वाल्मीकि जी लिखते हैं कि इस राष्ट्र के निवासी सभी पवित्रात्मा हैं। समान रूप से सब की बुद्धियां सर्वाङ्गीण उन्नति में संलग्न हैं। सभी ज्ञानी हैं। कोई झूठ नहीं बोलता। न कोई व्यभिचारी है न व्यभिचारिणी। लड़ाई झगड़ा और अशान्ति कहीं नहीं है। नाना विषयों के विशेषज्ञ (Specialists) धर्मात्मा विद्वान् हैं। सभी अपने अपने धनों पर सन्तुष्ट हैं। लोभी कोई नहीं है। सभी गृहस्थी धन-धान्य घी दुग्धादि उपभोग्य सामग्री से संपन्न हैं। दरिद्री कोई नहीं है। कामी, कंजूस, नास्तिक और मूर्खों का सर्वथा अभाव है। सभी स्त्री पुरुष धर्मात्मा संयत और समयनिष्ठ (Punctual) हैं। सब के आहार विहार ऋषियों के से हैं। सभी यज्ञ करते हैं। क्षुद्र और चोर कोई नहीं है। ब्राह्मणादि सभी वर्ण अपने अपने कर्तव्य में रत हैं। सभी स्वस्थ सुन्दर और देशभक्त हैं। राजद्रोही और देशद्रोही कोई नहीं। वा० रा० बालकांड सर्ग ७॥

है न स्वर्गीय दृश्य ? कोई कह सकता है कि बात बहुत पुरानी है, क्या पता किस रूप में थी ? किन्तु इतने कथनमात्र से इस बात का प्रभाव कम नहीं हो सकता। क्योंकि जिस विद्वान् के परिष्कृत मस्तिष्क में ये भाव थे, वह उनके प्रभाव और वास्तविकता से सुपरिचित था। उसे यह भी ज्ञात था कि इन मर्यादाओं से हीन राज्य को राज्य नहीं कह सकते और न उसके स्वामी राजा को राजा (व्यवस्थापक)। न मान व मर्यादाविहीन उक्त गुणों से शून्य मनुष्य को मनुष्य ही कहा जा सकता है। अन्यच्च बहुत पीछे के पाश्चात्य ऐतिहासिकों के उद्धरणों से भी आर्यों के उस प्राचीन उदात्त चरित में कोई सन्देह नहीं रहता। क्योंकि ये लोग भारतीय उत्तमताओं को घटाकर दिखाते आये हैं—दिखा सकते हैं बढ़ाकर नहीं। देखिए, एक ऐतिहासिक आर्यों के उस समय के चरित की आलोचना करता है। जब कि वे बहुत नीचे गिरकर आर्य के स्थान में हिन्दू शब्द से बोले जाने लगे थे।

They (Hindus) are so honest as neither to require locks to their doors, nor writings to bind their agreements.

कि वे हिन्दू इतने ईमानदार हैं कि न तो उनके घरों में ताला लगता है और न आपस के व्यवहार में लेख्य (Documents) लिखते हैं।

आर्यों का इतना उच्च चरित्र, इतना सुव्यवस्थित राज्य और वह स्वर्गीय वातावरण कि जिसमें चौदह चौदह वर्ष तक जूता ही राज्य करता रहा, क्यों हो सका ? इसका मूलकारण था उनका समाज संघटनात्मक उच्च कोटि का ज्ञान । जिसको शास्त्रीय शब्दों में वर्णाश्रम धर्म कहते हैं । वर्ण धर्म समाज में समानता (Equality), महानुभूति Syampathy), और समवेदना (Commor feelings) की भावना को उत्पन्न करने के लिए जादू है। और आश्रम धर्म, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य को जड़ से उखाड़ कर शांति स्थापन के लिये निष्फल न जाने वाली दिव्यौषधि है। अत: आइये, आज कुछ वर्णधर्म पर विचार करें—

मनुष्य सामाजिक प्राणी (Social being) है, बिना समाज के उसका निर्वाह नहीं हो सकता। अकेला मनुष्य तो अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति भी नहीं कर सकता । आप ही देखें कि मनुष्य यदि स्वयं ही कृषि करके अन्न उत्पन्न करे, स्वयं ही अन्न निकाले, स्वयं ही पीसे, स्वयं ही पकावे, स्वयं कपास उत्पन्न करे, स्वय काते, स्वयं बुने, स्वयं कपड़ा सीवे, स्वयं चमड़ा तयार करे, और स्वयं जूता बनावे तो एक क्षण बिना विश्राम किये भी, वह अपने ही कार्य में लगा रहे तो भी अपने कार्यों को भी पूर्ण रूप से करने में समर्थ न होगा । पुनः सभ्यता का विकसित होना तो दूर की बात है । अत: आर्यों ने मानव विकास तथा सामाजिक कार्यों का सुचारु रूप से संपादन करने के लिये वेद के आदेशानुसार संपूर्ण मनुष्य समाज को चार विभागों में विभक्त किया था, और यह विभाजन नितान्त वैज्ञानिक है।

यथा—ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्य: कृत: ।
ऊरू तदस्य यद्वैश्य: पद्भ्याᳯशूद्रो अजायत ॥ यजु० ३१।११

इस मनुष्य समाज शरीर का ब्राह्मण मुख सदृश है, क्षत्रिय बाहु तुल्य है, वैश्य जंघाओं के समान है और शूद्र पैरों के सदृश हैं । अर्थात् मानव शरीर में जो कार्य मुख करता है उसको समाज में ब्राह्मण करे । जैसे कान, आंख, नाक, और रसना ये चार ज्ञानेन्द्रियां शिर (मुख) में ही हैं और पांचवीं त्वचा (खाल) सारे शरीर पर है । ठीक इसी प्रकार ब्राह्मण समुदाय ज्ञान और विद्या का केन्द्र हो । अन्य पुरुषों की भांति सामान्य ज्ञान रखने पर मुख से उसकी उपमा उचित न रहेगी । अत: मुख जिस प्रकार ज्ञानेन्द्रियों का केन्द्र है, उसी प्रकार विविध विषयों की विद्या से विभूषित विप्र का होना अनिवार्य है।

शरीर में मुख को मुख्य होने के कारण ही मुख कहा जाता है। अशक्त बाहू वाले और लूले लंगड़े भी अपना जीवन सम्मान और सुख से व्यतीत कर लेते हैं । यदि उनके ब्राह्मण देवता (मस्तिष्क) सही सलामत हैं और मस्तिष्क विकृत होने पर तो मनुष्य मनुष्य ही नहीं रहता, संसार उसको पागल कहता है । ठीक इसी प्रकार जहां परिष्कृत मार्गाभिमर्शी तत्त्वदर्शी (Scientist) नेता ब्राह्मण नहीं हैं, उस समाज का संसार में कोई मूल्य नहीं। अन्यच्च मुख शरीर की रक्षा और पोषण के लिये प्रतिपल प्रतिक्षण ध्यान रखता है । उसके सुख साधन के लिये अनेक प्रकार के आहार विहार की चिन्ता करता है । शरीर के रोगी होने पर अपनी

सब इन्द्रियों से असहयोग करके कड़वी से कड़वी औषधी को प्रथम स्वयं खाता है । इसी प्रकार समाज की उन्नति और विकास के लिये, सुख सम्पत्ति की वृद्धि और दुख दारिद्रय के नाश के लिये प्रतिपल प्रतिक्षण विचार करना—सतर्क रहना ब्राह्मण का कर्तव्य है । स्वस्थावस्था में मुख जैसे सुन्दर दृश्य देखकर, उत्तम शब्द सुनकर, बढ़िया सुगन्ध सूघकर और नाना प्रकार के स्वादु पदार्थ खाकर अपने को आनन्दित करता है । इसी प्रकार सामाजिक अवस्था अच्छी होने पर ब्राह्मण स्वान्तः सुखाय चाहे जितना आत्म-चिन्तन और साहित्यिक विवेचन करते हुए सुख पूर्वक अपना जीवन व्यतीत करे । किन्तु शरीर के अस्वस्थ होने पर मुख ने जैसे सब कुछ भुला कर कटु औषधि का सेवन किया । इसी प्रकार से समाज के लिये ब्राह्मण को कष्ट सहन करने के लिये उद्यत हो जाना चाहिये । इस कार्य के संपादनार्थ उसे सदैव प्राणों की बाजी लगाने को उद्यत रहना चाहिए । इसके अतिरिक्त मुख कार्य करता है, प्राप्त ज्ञान को वाणी से कहने का। ब्राह्मण भी शास्त्रों का अनुशीलन करके समाज को बढ़ावे, उपदेश करे। वेद भी ब्राह्मणों के इन्हीं कर्मों का निर्देश करता है। यथा—

सम्वत्सरं शशयाणा ब्राह्मणाव्रतचारिणः ।
वाचं पर्जन्यजिन्वितां प्रमण्डूका अवादिषु ॥ ऋ० ७।१०३।१॥

सम्पूर्ण वर्ष समाधि की शान्तवृत्ति में रहते हुए मर्यादानुसार आचरण करने वाले तथा सत्य का मण्डन और असत्य का खण्डन करने वाले ब्राह्मण, कामनाओं को पूर्ण करने वाली वाणी को ओजस्वी शब्दों में बोले ।

ब्राह्मणासः सोमिनो वाचमक्रत ब्रह्मकृण्वन्तः परिवत्सरीणम् ।
अध्वर्यवोधर्मिणः सिष्विदाना आविर्भवन्ति गुह्य न केचिन ॥ ऋ० ७।१०३।८॥

सौम्य शान्त सर्वोपकारक, तपस्वी ब्राह्मण, वेद को समग्र संसार में फैलाने वाले, ज्ञान का विस्तार करने वाले, संसार के कार्य क्षेत्र में आते हैं और उपदेश देते हैं। अर्थात् शीतल स्वभाव, किसी से द्वेष न करने वाला, ज्ञान-विज्ञान का अधिकारियों को उपदेश देने वाला (पढ़ाने वाला) सत्यासत्य के निर्णय के लिए मनुष्य मात्र को उपदेश देने वाला ब्राह्मण को होना चाहिए। मानव धर्म शास्त्र भी इन्हीं कर्मों का प्रतिपादन करता है।

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनन्तथा ।
दानं प्रतिग्रहश्चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ॥ मनु० १।८८॥

पढ़ना, पढ़ाना, यज्ञ करना, गुरुदक्षिणा देना और लेना अथवा दान देना और लेना ब्राह्मणों का कर्तव्य है। भगवद्‌गीता भी ब्राह्मण के गुण कर्म पर अच्छा प्रकाश डालती है।

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्म कर्म स्वभावजम् ॥ भ० गी० १८।४२॥

शम, दम, तप, पवित्रता, सहन शक्ति, सरलता, ज्ञान, विज्ञान वेद शास्त्रों पर श्रद्धा, ये ब्राह्मण के स्वाभाविक कार्य हैं ।

(२) दूसरा नम्बर बाहुओं का है। बाहु बल के प्रतिनिधि हैं। शतपथ ब्राह्मण 'बाहुवै वीर्यम्' 'बाहुवैंबलम्' कहकर यह स्पष्ट कह रहा है कि शरीर में जो बाहु हैं, इनमें शरीर की रक्षा करने योग्य शक्ति होने के कारण ही इनका नाम बाहु पड़ा है। इसी प्रकार बलाधिक्य से समाज की रक्षा करने वालों को क्षत्रिय कहेंगे। बाहु सारे शरीर की रक्षा का कार्य करते हैं। शिर पर आघात हो, जंघा और पैरों पर हो उनकी रक्षा करने के लिए बाहुओं को चौकन्ना रहना पड़ता है। और बाहु इस सम्पूर्ण रक्षा कार्य को मस्तिष्क की सहायता से करते हैं। तथैव समाज में क्षत्रिय ब्राह्मण की सम्मत्यनुसार कार्यों के सम्पादन को क्षात्र और ब्राह्मण शक्ति यदि दोनों मिल कर कार्य न करेंगी तो काम ऊटपटांग और हानिप्रद होकर लोकहितकर न हो सकेगा वेद इस बात को कितने सुन्दर शब्दों में कहता है। 'यत्र ब्रह्मच क्षत्रञ्च सम्यञ्चौ चरतः सह।

तं लोकं पुण्यं प्रज्ञेषं यत्र देवा, सहाग्निना। यजुः २०।२५

(भाव) कि जहां ब्रह्म और क्षत्रशक्ति परस्पर के सहयोग से कार्य करती हैं। वह सब काम पूर्ण और निर्विघ्न समाप्त होते हैं। इस स्थल में एक बात और विशेष ध्यान देने योग्य है कि शरीर में पांच वायु प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान होते हैं। इन पांचों वस्तुओं को व्यवस्थित रखना तथा जीवन शक्ति के केन्द्र प्राण, बाहुओं की रक्षा में, हृदय प्रदेश में बेखटके रहते हैं। इसी प्रकार जिस समय समाज अथवा राष्ट्र का क्षेत्र बल जितना सशक्त और व्यवस्थित होगा उसका जीवन उतना ही सुरक्षित होगा। इसके विपरीत जहां इस अंग में निर्बलता है, उनके प्राण प्रत्येक समय जाने की बाट जोहते रहते हैं। वेद भी क्षत्रिय के निम्न गुण कर्तव्य बताता है। 'ये शुभ्रा घोरवर्पसः सुक्षत्रासोरिशादसः। मरुद्भिरग्न ॥ अर्थव ।१।१६।५॥

गौर वर्ण वाले, विशालकाय, शत्रु को मार गिराने वाले, मृत्यु से भी निडर उक्त क्षत्रिय के साथ रक्षार्थ आ।

अर्थात् शारीरिक बल सम्पन्न तथा ओजस्वी होना, निर्भयता, तथा प्रबन्ध रुचि आदि गुणों को रखने वाला क्षत्रिय होता है।

इममिन्द्र वर्धय क्षत्रिय म इमं विशामेकवृषं कृणु त्वम्।
निरमित्रानक्ष्णुह्यस्य सर्वांस्तानरंधयास्मा अहमुत्तरेषु ॥ अर्थव ।४।०६।१॥

प्रभो इस क्षत्रिय 'रक्षक' को तू बढ़ा, मेरी प्रजा में इसको सब से बलिष्ठ कर, इसके शत्रु इसके समक्ष न ठहर सकें और इसमें प्रतिस्पर्धा करने पर भी मुँह की खावें अर्थात् नष्ट हो जावें। यह मन्त्र भी यही बता रहा है कि क्षत्रिय में प्रबन्ध की योग्यता के बल से विरोधियों को जीतने की असाधारण शक्ति होनी चाहिए।

अयमस्तुधनपतिर्धनानामयं विशां विशपतिरस्तुराजा ।
अस्मिन्निद महिर्वचासि धेह्यवर्चसं कृणुहि शत्रुमस्य ॥ अथर्व ४।२२।३

यह क्षत्रिय धनों का स्वामी हो, प्रजाओं तथा व्यापारियों का योग्य पालक होने के कारण राजा होवे। हे प्रभो ! इसको इतना तेजस्वी कर कि शत्रु इसके सामने आते ही फीके

हो जावें। इन्ही गुणों को मनु ने इस प्रकार लिखा।

प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययन मेवच। विषयेष्व प्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः॥ मनु १।८६॥

समाज की रक्षा करना, पात्रों की सहायता करना, यज्ञ तथा अध्ययन करना संयमी होना ये क्षत्रियों के संक्षेप से गुण और कर्म हैं। गीता ने भी यही लिखा।

शौर्यं तेजोधृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।

दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्मस्वभावजम्॥ भ. गी. १८।४३॥

शूरता, तेजस्विता, धैर्य, राजनीतिक ज्ञान, युद्ध में दृढ़ता, दान देना, प्रबन्ध करना ये क्षत्रिय के स्वाभाविक कर्म है।

(३) तीसरा क्रम है जंघाओं का। जाने आने आदि का कार्य इनके सहारे पर ही होता है, कृषि सम्बन्धी तथा व्यापार सम्बन्धी सम्पूर्ण कार्यों का सम्पादन बिना पुष्ट जङ्घाओं के असम्भव है। इस ओर रुचि रखने वाले मानव समुदाय को वैश्य नाम से पुकारेंगे। वेद वैश्यों के कर्म का इस प्रकार निर्देश करता है।

'इन्द्रमहं वणिजं चोदयामि स न ऐतु पुर एता नो अस्तु। नुदन्नराति परिपन्थिनं मृगं स ईशानो धनदा अस्तु मह्यम्'॥ अथर्व ३।१५।१॥

मैं ऐश्वर्य सम्पन्न वैश्य को आगे करता हूँ। वह हमारे पास आवे, और हमारी आर्थिक कठिनाइयों को सुलझाने के लिये हमारा अगुआ बने। कंजूस व्यापार विरोधी और पशु वृत्ति वाले शत्रु को दूर करके वह हमें धन देने वाला हो। इस मन्त्र ने यह बताया कि (१) व्यापार की ओर रुचि रखने वाला मानव समुदाय, व्यापार के योग्य पूँजी से सम्पन्न होना चाहिए। (२) दूसरी बात यह कि उसके समक्ष केवल अपने स्वार्थ का ही प्रश्न नहीं होना चाहिये अपितु मानव मात्र की आर्थिक कठिनाइयों का हल करना उसका कर्तव्य है। (३) तीसरी बात यह कि लाभ नियत हो, मनमाने निरख लगाकर लेने देने वाला कोई न हो। (४) चौथी बात यह कि वैश्य अपनी सम्पत्ति को राष्ट्र की सम्पत्ति समझे और उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति यथाशक्ति अवश्य करता रहे। वैश्य के कर्मों का कितना सुन्दर विवेचन है। यही बात मानव धर्म-शास्त्र बताता है।

पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययन मेवच।

वणिक्पथं कुसीदञ्च वैश्यस्य कृषिमेवच। मनु १।६०।

गो आदि हितकारी पशुओं का पालन, शुभ कर्मों में दान यज्ञ करना, वेदादि शास्त्रों का अध्ययन करना व्यापार करना, उचित व्याज लेना, खेती करना ये वैश्य के कर्म हैं।

(४) शरीर में चौथा भाग पैरों का है। यह सारा भव्य भवन (शरीर) इन्हीं के ऊपर खड़ा है। मुख का कार्य हो, बाहुओं का हो, जंघाओं का हो, यह सबकी आज्ञा पालन करने को उद्यत रहते हैं। ठीक इसी प्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य की सेवा करना शूद्रों का कार्य है।

एकमेव तु शूद्रस्य शुभं कर्म समादिशत्। एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया॥ मनु० १।६१।

प्रेम से ब्राह्मणादि तीनों वर्णों की सेवा करना शूद्र का यही प्रधान कार्य है। जिस प्रकार शरीर के ये चारों भाग, मिलकर किसी को ऊँच नीच न समझते हुए, समान भाव से उसकी रक्षा करते हैं। उसी प्रकार अपने गुण और कर्म के आधार पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों को प्रेम एवं परस्पर के सहयोग से राष्ट्र रक्षा करनी चाहिए। शरीर में शिर से पैर तक किसी भाग पर आघात पहुँचने पर जैसे सारे शरीर में उथल पुथल मच जाती है और उस अंग के कष्ट को अपना समझ कर दूर करने के लिये उद्यत हो जाते हैं, ऐसे ही चारों वर्णों में परस्पर प्रेम और सहानुभूति की भावना भरपूर होनी चाहिए। पारस्परिक प्रेम सूत्र को सुदृढ़ बनाने के लिए गुण और कर्म के आधार पर मानव समुदाय का, सर्वथा निर्दोष यह वैज्ञानिक विभाजन है।

किन्तु भारत के दुर्भाग्य से कुछ औंधी खोपड़ियों ने इसको भी उल्टा ही समझा। जहां वर्णों का व्यवस्थापक यह मन्त्र प्रेम का पुनीत सन्देश देता है वहां उन्होंने इसके आधार पर वर्णों में विराग और द्वेष की वे गहरी खाईयां खोदीं कि जिनका पाटना आज कठिनतम कार्य हो रहा है। जहां वर्ण प्राचीन काल में अपने कर्मों की कमाई समझा जाता था, वहां मध्य काल में उसपर जन्म की मुहर लग गई और भारत के पतन के अन्यान्य कारणों में से यह प्रमुख कारण बना। जन्ममूलक जात पात के झगड़े बखेड़ों ने, इस देश को जो हानि पहुँचाई उसका अनुमान लगाना भी कठिन है।

सारे आर्यावर्त का मानव समाज प्याज और केले के छिलके के समान सार विहीन हो गया। ब्राह्मणों में, क्षत्रियों में, वैश्यों में और शूद्रों में हज़ारों प्रकार की बिरादरियों का निर्माण हुआ। एक दूसरा एक दूसरे को नीच समझने लगा। बहुत से क्षत्रियों में कन्या को उत्पन्न होते ही इस लिये मारते रहे कि उनसे बड़ा क्षत्रिय और कोई नहीं है। वे अपनी कन्या देकर किसके सामने झुकेंगे। इस प्रवाह की बाढ़ के अत्याचारों ने शूद्रों की तो आत्मा को ही मसल डाला। वे बेचारे अपने आप को स्वयं न छूने योग्य और घृणित समझने लगे। उनको यह विश्वास हो गया कि वस्तुतः हम पतित हैं और हमारा उद्धार नहीं हो सकता। आश्चर्य की बात है कि ब्राह्मणादि वर्णों के समान आकार प्रकार रखने वाला एक मानव कुत्ते और बिल्ली से भी बदतर समझा गया। अन्ततः उनका अपराध क्या है ? जिसके कारण उनको न छूने योग्य और घृणित समझते हो। यही न कि वे आपकी सेवा करते हैं। ऊँच नीच की कसौटी देखिये कैसी हास्यास्पद है। पंडित जी, ठाकुर साहब, लाला जी इस लिए ऊँचे हैं कि कपड़ा मैला कर देते हैं और धोबी इस लिये नीचा है कि कपड़ा साफ कर देता है। ये सब इस लिये ऊँचे है कि ये गन्दगी फैला देते हैं और मेहतर इसलिये नीच हैं कि गन्दगी दूर कर हमें शुद्ध वायु प्राप्त होने में सहायता देते हैं। है न परिष्कृत एवं परिमार्जित मस्तिष्क की उपज ! ये भूलें और असावधानियां साधारण समुदाय ने की हों, यह भी बात नहीं है। आचार्य शंकर जैसे उद्भट विद्वान् और तार्किक इस ओर अपनी योग्यता और प्रतिभा का दिवाला निकाल बैठे।

श्रवणाध्ययनार्थ प्रतिषेधात् स्मृतेश्च । वेदांत दर्शन १।३।३८॥

पर भाष्य करते हुए शंकराचार्य जी शूद्र को अध्ययन का अनधिकारी सिद्ध करते हुए लेखते हैं—(१) "अथास्य वेदमुपशृण्वतस्त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रप्रतिपूरणम्"।

कि शूद्र यदि वेद को सुन ले तो रांगा और लाख उसके कान में भर देनी चाहिए। (२) शूद्र श्मशान के समान है उसके समीप बैठ कर अध्ययन भी नहीं करना चाहिए। (३) शूद्र को उपदेश भी नहीं देना चाहिए। यह है भाष्यकारों की योग्यता और उदारता। प्रवाह ही ऐसा था। किसी ने इस ओर विचारने के लिये बुद्धि पर बल नहीं दिया। गोतम अपने धर्म सूत्र में इन से भी दस कदम आगे निकल गए। आप लिखते हैं कि—

अथ हास्यवेदमुपशृण्वतस्त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रप्रतिपूरणम् उदाहरणे जिह्वाच्छेदो धारणे शरीर भेद: ॥२।३।४॥

कि शूद्र यदि वेद को सुन ले तो कानों में रांगा और लाख भरवा दें, बोले तो जिह्वा काट दें, और स्मरण करले तो बध करा दें, एक स्थान पर और लिखते हैं कि—

जीर्णान्युपानच्छत्रवास: कूर्चादीनि ॥२।१।६०॥

कि शूद्रों को फटे पुराने कपड़े जूते आदि पहनने को दें और वे दाढ़ी रखें अर्थात् उन को केश कटवाने का अधिकार नहीं है। किन्तु वेद यह बताता है कि किन्हीं भी ग्रन्थों का कोई ठेकेदार वर्ण विशेष नहीं है। जिनके पास बुद्धि है जो उनको समझ सकता है। वही उनके पढ़ने का अधिकारी है। वेद स्पष्ट घोषणा करता है कि—

'यथेमां वाचं कल्याणी मावदानि जनेभ्य: । ब्रह्म राजन्याभ्याᳬशूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय ॥ यजु० २६।२॥

यथेमां कल्याणीं वाचं जनेभ्य आवदानि—कि जिस प्रकार मैं इस कल्याणी वाणी को मनुष्य मात्र को देता हूं। इसी प्रकार तुम भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र अपने सगे संबन्धी और अति शूद्रों को भी इसका उपदेश करो। दु:ख है और शास्त्रों की दुहाई देने वाले (सनातनी) वेद के कथन का शतांश भी पालन करते तो भारत का इतिहास ही और कुछ होता। औरों के पठन पाठन पर प्रतिबन्ध लगाते लगाते स्वयं भी मूर्ख रह गये। पढ़ने की आवश्यकता भी क्या थी? जब बिना पढ़े लिखे ही वही सम्मान और अधिकार प्राप्त था। अविद्या के कारण भारत में वह धांधली मची कि जिसका वर्णन करते हुए महान् कष्ट होता है। जन्ममूलक वर्णव्यवस्था ने योग्य और अयोग्य की पहिचान खो दी। विशाल और उदार दृष्टिकोण कतिपय बिरादरी के मनुष्यों के आदर तक ही सीमित रह गया। परस्पर की समवेदना और सहानुभूति सर्वथा नष्ट हो गई। इसी चक्र में जब मुसलमानों ने भारत पर आक्रमण किया तो एक राजा ने दूसरे राजा का साथ नहीं दिया। क्योंकि उनमें से कोई तोमर, कोई चौहान, कोई परमार, कोई परिहार, कोई प्रतिहार, कोई गुर्जर, कोई सीसोदिया, कोई राठौर और कुशवाहा थे, बिरादरी के झँझटों ने ही प्रेम बन्धन शिथिल कर दिए थे। जब चौहानों पर आक्रमण हुआ

तो राठौर यह सोचते रहे कि हम क्यों सहायता करें ; कौन सा हमारी बिरादरी का है । उनपः हुआ तो औरों की भी यही धारणा रही । परिणाम यह निकला कि एक एक करके सभी कुचले गये । अस्तु 'सवेरे का भूला यदि शाम तक घर आजावे तो भूले में शुमार नहीं है' की कहावत के अनुसार आज भी सब पुरानी संकीर्णताओं का मुंह काला करके वैदिक वर्णव्यवस्था के आधार पर पुनः संघटित होकर देश का उद्धार करें तो सब बिगड़े हुए खेल को बनने में देर न लगे । पर भारत का इतना सौभाग्य कहां ? यहां तो अब भी 'अपनी २ ढपली और अपना २ राग' हो रहा है । अब भी यही दावा किया जाता है कि ब्राह्मण का पुत्र चाहे कितना ही निकृष्ट और मूर्ख क्यों न हो ? ब्राह्मण ही रहेगा और एक शूद्र का पुत्र चाहे कितना ही गुणवान और विद्वान् क्यों न हो ? शूद्र ही रहेगा । यह है अंधेर । हमारी समझ में नहीं आता कि जब डाक्टर का पुत्र बिना योग्यता के डाक्टर, वकील का पुत्र बिना श्रम के वकील, शास्त्री का पुत्र बिना श्रम के शास्त्री, एम. ए. का पुत्र बिना पढ़े एम. ए. नहीं हो सकता तो केवल पुत्र होने के कारण, बिना किसी योग्यता के ब्राह्मणादि वर्ण का कैसे अधिकारी हो सकेगा ? इस पर भी यह तुर्रा कि सब वेद शास्त्र यही कहते हैं ? अतः इस प्रसंग में वेद और शास्त्रों का पर्यालोचन तथा इनका यौक्तिक क्रम दोनों को देख लेना और विचार लेना अधिक समीचीन होगा ।

पाठक गण ! वर्णों के गुण कर्म निर्देश प्रसंग में हम कई वेद मन्त्रों द्वारा यह दिखा चुके हैं कि वेद के समस्त मन्त्र गुण और कर्म की योग्यता पर वर्ण निर्णय करते हैं । उनमें एक भी शब्द ऐसा नहीं है जो बिना योग्यता के वर्ण निर्णय करते हैं । उनमें एक भी शब्द ऐसा नहीं है जो बिना योग्यता के केवल किसी का पुत्र होने के कारण वर्ण की उपाधि देने का संकेत करता हो । अब आप जन्म से वर्ण मानने वालों की युक्तियों को तोलिए और फिर प्रमाणों की पड़ताल कीजिए सबसे प्रथम इसके पोषक कहते हैं कि ईश्वर की सब रचनाओं में भेद हैं, वृक्षों में आम, पीपल अमरूद, अनार आदि; पशुओं में गौ, भैंस, गधा, घोड़ा, आदि; पक्षियों में तोता, मैना, मयूर, हंसादि । इसी प्रकार मनुष्यों में ब्राह्मण, क्षत्रियादि भेद हैं । (समाधान) ये लोग वर्ण और जाति को एक वस्तु समझकर भारी भूल करते हैं । अथवा स्वयम् वास्तविकता को जानते हुए भी स्वार्थ वश साधारण जनता को भ्रम में डालते हैं । आइये जाति का लक्षण भगवान् गौतम से पूँछे, आप न्याय शास्त्र में आकृति का लक्षण करते हुए लिखते हैं कि "आकृति रिति लिङ्गाख्या ।" न्या. द. अ. २। अ. २।६८।। इस पर वात्स्यायन मुनि भाष्य करते हैं । यया जाति जाति लिङ्गानि च प्रत्याख्यायन्ते तामाकृतिं विद्यात् । कि जिससे जाति और जाति के चिन्ह बताये जाते हैं उसे आकृति कहते हैं । अब जिज्ञासा होती है । कि जाति किसे कहते हैं ? तो लिखते हैं—समान प्रसवात्मिका जातिः न्या. २।२।६९।।

इस पर वात्स्यायन मुनि भाष्य करते हैं । या समानां बुद्धिं प्रसूते भिन्नेष्वधिकरणेषु, यया बहूनीतरेतरतो न व्यावर्तन्ते, योऽर्थोऽनेकत्र प्रत्ययानुवृत्ति निमित्तं तत् सामान्यम् । यच्च केषाञ्चिद्-भेदं कुतश्चिद्भेदं करोति तत् सामान्य विशेषो जातिरिति ।। अर्थात् भिन्न भिन्न वस्तुओं में

समानता उत्पन्न करने वाली जाति है। इसी जाति के आधार पर अनेक वस्तुएं आपस में पृथक् पृथक् नहीं होती। अर्थात् एक ही नाम से बोली जाती है। जैसे गौएं पृथक् कितनी भी हों, सब को गौ कहते हैं। यह एकता जाति के कारण ही उत्पन्न हुई। जाति भी दो प्रकार की होती है एक सामान्य और दूसरी सामान्य विशेष। जो अनेक वस्तुओं में एक आकार की प्रतीत होती है वह सामान्य जाति है। जैसे पशु जाति सामान्य है। यह पशुत्व गौ भैंस घोड़े आदि सभी पशु मात्र में सामान्य (एक जैसे) है और जो किसी से भेद और किसी से अभेद कराती है। वह सामान्य विशेष जाति है। जैसे गौ-गौ की प्रतीति सब गौओं में एक जैसी होती है यह तो हुआ अभेद और घोड़े को गौ से नहीं समझ सकते यहां हुआ भेद तो इसका नाम सामान्य विशेष जाति है। उक्त दोनों जातियों में से मनुष्य सामान्य जाति है। मनुष्यत्व की दृष्टि से सभी वर्ण मनुष्य हैं, न उनमें कोई ज्येष्ठ है न कनिष्ठ। ज्येष्ठता और कनिष्ठता लाने वाले तो गुण होते हैं। मनुष्य योनि क्योंकि कर्म और भोग दोनों की योनि हैं, अतः इसमें गुणों के साथ कर्म पर भी ध्यान देना अनिवार्य है अतः ब्राह्मणादि वर्णों का निर्णय गुणों और कर्म के आधार पर पर होने के कारण ही वर्णों का नाम वर्ण पड़ा। क्योंकि वर्ण शब्द का अर्थ गुण और कर्म है। वरणीया वरितुमर्हा, गुणकर्माणि च दृष्ट्वा यथायोग्यं व्रियन्ते ये ते वर्णाः। गुण और कर्म को देखकर जो किसी समुदाय विशेष में स्वीकार किये जावें वे वर्ण कहलाते हैं। निरुक्त को वर्ण का अर्थ कर्म अभीष्ट नहीं। उनको "वृतमिति कर्म नाम वृणोतीति सतः।" नि. अ. २। पा. ४॥ को देखना चाहिए। यहां 'वृञ्' धातु से बनने वाले व्रत शब्द का अर्थ स्पष्ट कर्म किया है और साथ ही हेतु दिया है वृणोतीति सतः क्योंकि शुभ-कर्म मनुष्य को ढक लेते हैं, अतः व्रत का अर्थ कर्म हैं। इसी प्रकार इसी धातु से निष्पन्न हुए वर्ण शब्द का अर्थ भी कर्म है। अतः स्पष्ट है कि वर्ण शब्द का अर्थ वर्णो 'वृणोतेः' के आधार पर गुण और कर्म है। वर्ण शब्द गुण और रंग के अर्थ में तो अब तक प्रचलित है। वह गौर वर्ण है पीत वर्ण है ऐसा प्रयोग बहुधा लोक में होता है। अतः सारांश यह निकला कि वृक्ष, पशु, पक्षी, सामान्यविशेषजाति का केवल सामान्य जाति वाले मनुष्य के साथ उदाहरण सामञ्जस्य नहीं घटता। पशु कहने से सब प्रकार के पशु, पक्षी कहने से सब प्रकार के पक्षी, वृक्ष कहने से सब प्रकार के वृक्ष गृहीत होते हैं; किन्तु गौ कहने से गौ जाति के पशुओं का, तोता कहने से तोता जाति के पक्षियों का ही, आम्र कहने से आम्र जाति के वृक्षों का ही ग्रहण होता है; अन्य का नहीं। मनुष्य सामान्य जाति है। मनुष्य कहने से सब मनुष्यों का ग्रहण हो जाता है। अतः सामान्य जाति का सामान्य विशेष जाति के साथ मिलान करना भारी भूल है। हां जिस प्रकार आम्र में खट्टे मीठे आदि गुणों का भेद होता है, वैसे तोते तोते में पढ़ने न पढ़ने के गुण का भेद होता है गौ गौ में न्यून और अधिक दूध आदि देने के गुण का भेद होता है उसी प्रकार मनुष्यों में अच्छे और बुरे गुण और कर्मों के आधार पर भेद है। इसी को शास्त्रों ने वर्ण कहा है। यदि सामान्य विशेष जाति पशु, वृक्ष, पक्षियों का सा मनुष्य

में भी कोई भेद होता तो जिस प्रकार भिन्न २ प्रकार के पशुओं क झुण्ड में से गौ भैंस आदि को पृथक् पृथक् पहचान लेते हैं वृक्षों और पक्षियों को पृथक् पहिचान लेते हैं इसी प्रकार मनुष्यों के झुण्ड में से ब्राह्मण क्षत्रियादि को पहिचान लेते। किन्तु कोई नहीं पहचान सकता सभी नये मनुष्य से मिलने पर बहुधा पूँछते हैं। आप किस वर्ण के हैं। अन्यच्च एन टटपूँजिः ब्राह्मणों की तो बात ही क्या है? अच्छे ऋषि भी किसी को देखकर नहीं पहचान सके औः अन्त में गुणों और कर्मों क आधार पर ही उसके वर्ण का निश्चय किया। जन्म के कारण नहीं। इसको विशेष समझने के लिए छान्दोग्योपनिषद् की प्रसिद्ध कथा पर दृष्टि डालिए।

सत्यकामो ह जाबालो जबालां मातरमामन्त्रयांचक्रे
'ब्रह्मचर्यं भवति विवत्स्यामि' किं गोत्रोऽहमस्त्रं ति।

जबाला के पुत्र सत्यकाम ने अपनी माता जबाला से पूछा कि माता जी मैं ब्रह्मचर्य वास करना चाहता हूं, बताइये मेरा क्या गोत्र है?

सा हैनमुवाच नाहं वेद तात यद्गोत्रस्त्वमसि बह्वहं चरन्ती परिचारिणी यौवने त्वामालभे। साहमेतन्नवेद यद्गोत्रस्त्वमसि। जबाला तु नामाहमस्मि सत्यकामो नाम त्वमसि स सत्यकाम एव जाबालो ब्रवीथा इति।

जवाला ने उत्तर दिया कि पुत्र मैं यह नहीं जानती कि तू किस गोत्र का है? म इधर उधर फिरती थी, तू मुझे जवानी में प्राप्त हुआ, सो म यह नहीं जानती कि तू किस गोत्र क है? बस मैं इतना ही बता सकती हूं कि मेरा नाम जबाला है और तेरा नाम सत्यकाम है इस लिये तुम अपने परिचय में केवल इतना ही कहो कि मैं जबाला का पुत्र सत्यकाम हूँ।

स हारिद्रुमतं गौतममेत्योवाच, ब्रह्मचर्यं भगवति वत्स्याभ्युपेयां भगवन्तमिति।

सत्यकाम हारिद्रुमत गौतम के पास आया और बोला भगवन्! म आपके पा◦ ब्रह्मचर्य वास करूंगा। इसी इच्छा से मैं आपकी सेवा में आया हूँ।

तंहोवाच 'किं गोत्रो नु सौम्य इति, स होवाच नाहमेतद्वेद भो! यद्गोत्रोऽहमस्मि. अपृच्छंमातरंसा मा प्रत्यब्रवीत्, 'बह्वहं चरन्ती परिचारिणी यौवने त्वामलभे। साहमेतन्न-वेद यद्गोत्रस्त्वमसि सोऽहं सत्यकामो जाबालोऽस्मि भो! तंहोवाच नैतदब्राह्मणो विवक्तुमर्हति। समिधं सौम्याहरोपत्वानेष्ये न सत्यादगा इति॥ छांदो० प्रपा० ४। खं० ४।

गौतम ने उससे पूछा कि सौम्य तू किस गोत्र का है, उसने उत्तर दिया भगवन् म नहीं जानता कि मैं किस गोत्र का हू। मैंने अपनी माता से पूछा था—उसने मुझे कहा कि इधर उधर घूमते हुए यौवन काल में मैंने तुझे प्राप्त किया है, सो मैं नहीं जानती कि तू किस गोत्र का है? हां मेरा नाम जाबाला है और तेरा नाम सत्यकाम है। इस प्रकार भगवन् मैं जबाला का पुत्र सत्यकाम हूँ। ऋषि ने उत्तर में कहा कि भाई यह इतना उत्कृष्ट कोटि का सत्यगुण ब्राह्मण के अतिरिक्त और किसी में नहीं हो सकता? जा सौम्य समिधा ले आ, मैं तेरा उपनयन करूंगा क्योंकि तू सचाई से नहीं गिरा है। इस कथा से यह सुतरां स्पष्ट है कि

ब्राह्मणादि को पहचानने का यदि कोई जन्मगत चिन्ह होता तो ऋषि सत्यकाम को देखते ही पहचान लेते । किन्तु ऐसा नहीं हुआ । सत्य जो कि ब्राह्मण का एक मुख्य गुण है, उसी के आधार पर ऋषि ने उसे ब्राह्मण माना । कर्ण ब्राह्मण बन कर परशुराम के पास अस्त्रविद्या का अभ्यास करता रहा, पर परशुराम उसको नहीं पहचान सके और जब पहचाना तो गुणकर्म की कसौटी पर कसके ही । अतः सिद्ध हो गया कि वर्ण निर्णय गुण और कर्म के आधार पर होता रहा है, होता है और होगा ।

जन्मना वर्ण को सिद्ध करने के लिये एक और युक्ति दी जाती है, उसको भी देख लीजिए कि नींबू को कितना ही उत्तम खाद्यादि देकर बढ़ा लिया जावे वह जिस प्रकार आम नहीं बन सकता और खाद्यादि के अभाव में आम घटकर नींबू नहीं बन सकता । इसी प्रकार शूद्र कितना ही विद्वान् धर्मात्मा क्यों न हो ? वह उच्च वर्ण का नहीं हो सकता और ब्राह्मण कितना ही हीन गुण क्यों न हो नीचे के वर्णों में नहीं जा सकता (उत्तर) इसका निर्णय भी पूर्व लिखित युक्ति से ही हो जाता है कि नींबू और आम भिन्न भिन्न जाति के (अर्थात् दार्शनिक परिभाषा में सामान्य विशेष जाति वृक्ष हैं, और मनुष्य हैं एक जाति । इसका और उसका क्या साम्य ? यह युक्ति तो पौराणिक पक्ष की पुष्टि न करके हमारे पक्ष को पुष्ट करती है कि जिस प्रकार खाद्यादि से नींबू का बढ़ना आदि गुण सम्पन्न होना और खाद्यादि के अभाव में हीन गुण होना लोक सिद्ध है । इसी प्रकार विद्यादि उत्तम गुणों से मनुष्य का ब्राह्मणादि बनना और उसके अभाव में शूद्रादि बनना सिद्ध ही है ।

एक और लंगड़ी सी युक्ति पौराणिक अपने पक्ष की पुष्टि में दिया करते हैं कि पशु पक्षी और स्थावरों में तो बाह्य भेद हैं, किन्तु मनुष्य और पाषाणों में आभ्यन्तर भेद हैं । इस भेद को कोई पारखी ही परख सकता है सर्व साधारण की शक्ति से यह बाहर की वस्तु है ।

किन्तु इसके उत्तर में हम यह पूँछ लेना चाहते हैं कि इस आभ्यन्तरीय चित्र (Xray) को लेने वाला आज तक कोई हुआ भी है । क्योंकि इस आभ्यन्तरीय भेद को जानने में तो तुम्हारे भगवान भी तो फेल होते रहे हैं । देखो ! राम और लक्ष्मण को आता देख उनका पता लेने के लिए हनुमान सुग्रीव के पास से आये और राम लक्ष्मण से बड़े चातुर्य में बात करते रहे । राम हनुमान को बिल्कुल न पहचान सके और उसकी विशुद्ध वाणी को सुनकर वर्ण का गुण के आधार पर अनुमान करते हुए लक्ष्मण से बोले—

नानृग्वेद विनीतस्य नायजुर्वेदधारिणः । नासामवेद विदुषः शक्यमेवं विभाषितुम् ।
नूनं व्याकरणं कृत्स्नमनेन बहुधाश्रुतम् । बहुव्याहरतानेन न किंचिदप्यपशब्दितम् । वा. रा.
किष्किन्धा. ३।२८-२८

कि यह हनुमान् चारों वेदों और व्याकरण का महान पण्डित प्रतीत होता है । क्योंकि बिना इतनी योग्यता के इस प्रकार कोई भाषण नहीं कर सकता । अब बताइये जब राम भी आभ्यन्तरीय भेद को नहीं पहचान सके तो कौन पहचानेगा । वस्तुतः बात तो यह है कि इस

प्रकार का कोई भेद है ही नहीं। सब मनुष्य आंख कान नाक आदि से समान हैं। इनमें विभाग करने वाले तो उत्तमाधम गुण कर्म हैं और उन्हीं के आधार पर वैदिक वर्णव्यवस्था है। जन्म से तो यह व्यवस्था तीनों कालों में भी नहीं बन सकती।

पाठक! जन्म से वर्ण निर्णय करने वाले की युक्तियों को आपने देख लिया। अब आप थोड़े से प्रमाणों को और देखें। इनको देखने के पश्चात् आप स्वयं इस निर्णय पर बिना पहुँचे न रहेंगे कि जन्म से वर्ण का प्रतिपादन करने वाले, युक्तिप्रमाणहीन कोरे वाग्जाल से ही काम लेते हैं। वेदों के प्रमाण तो दिये ही जा चुके हैं। चारों वेदों में कोई ऐसा संकेत मात्र भी नहीं है जहां से जन्म से वर्णव्यवस्था को आश्वासन मिल सके। अब आप मनुस्मृति को देखें।

सावित्री मात्रसारोऽपि वरंविप्रः सुयन्त्रितः। नायन्त्रितस्त्रिवेदोऽपि सर्वाशी सर्वविक्रयी ॥२।११८॥

केवल गायत्री मन्त्र जानने वाला नियमनिष्ठ ब्राह्मण, आचार व्यवहारों की मर्यादा से हीन, चारों वेदों के पण्डित से सम्मानास्पद और अच्छा है। अर्थात् सारे संसार में गुण और कर्मों का सम्मान है। जन्म और आचार हीन पांडित्य का नहीं।

यो न वेत्त्यभिवादस्य विप्रः प्रत्यभिवादनम्। नाभिवाद्यः स विदुषा यथा शूद्रस्तथैवसः ॥२।१२६॥

जो ब्राह्मण शास्त्रीय प्रत्यभिवादन को नहीं जानता, उसे नमस्ते आदि नहीं करना चाहिये क्योंकि जैसा शूद्र होता है वैसा ही वह है अर्थात् वह शूद्र है।

वित्तं बन्धुर्वयः कर्म विद्याभवति पञ्चमी। एतानि मान्यस्थानानि गरीयो यद्यदुत्तरम् ॥२।१३६॥

धन, बन्धु आयु कर्म और विद्या इन पांच के कारण संसार में सम्मान होता है किन्तु इनमें आगे आगे से अर्थात् धन से बन्धु से आयुः आदि के कारण अधिक सम्मान होता है और सब से अधिक सम्मान के स्थान कर्म और विद्या हैं यहां जन्म का नाम भी नहीं हैं।

उत्पादकब्रह्मदात्रोर्गरीयान ब्रह्मदः पिता। ब्रह्म जन्म हि विप्रस्य प्रेत्य चेह च शाश्वतम् ॥२।१४६॥

उत्पन्न करने वाले और ज्ञान देने वाले पिताओं में से ज्ञान देने वाला अर्थात् ब्राह्मण बनाने वाला पिता (आचार्य) अधिक उत्कृष्ट है। क्योंकि ज्ञान से उत्पन्न होने वाला, जन्म (वर्ण) स्थिर होता है। स्पष्ट है ब्राह्मण जन्म से नहीं बनता अपितु आचार्य की दीक्षा के पश्चात् बनता है।

कामान्माता पिता चैनं यदुत्पादयतो मिथः। सम्भूतिं तस्य तां विद्याद्योनावभिजायते ॥२।१४७॥

माता पिता तो सन्तान को काम वश भी उत्पन्न कर देते हैं। उनसे उत्पन्न हुई सन्तान को केवल उत्पन्न हुई ही कह सकते हैं, वर्ण विशेष की नहीं।

आचार्यस्त्वस्य यां जातिं विधिवद्वेदपारगः। उत्पादयति सावित्र्या सा सत्या सा जरामरा ॥२।१४८॥

इस पर पौराणिकों के मनुस्मृति टीकाकार कुल्लूक भट्ट का भाष्य देखिये। आचार्यः पुनर्वेदज्ञोऽस्य माणवकस्य यां जातिं यज्जन्म विधिवत् सावित्र्येति साङ्गोपनयनपूर्वकं सावित्र्यनुवचनेनोत्पादयति सा जाति, सत्या अजरा अमरा च। ब्रह्म प्राप्ति फलत्वात्।

अर्थात् वेदज्ञ आचार्य गुणों के आधार पर जिस वर्ण में जन्म दे देता है। वर्ण निर्णय कर देता है। वह वर्ण ही उसका स्थिर समझा जाता है।

योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्। सजीवन्नेव शूद्रत्वमाशुगच्छति सान्वयः ॥२।१६८॥

इस पर भी कुल्लूक की टीका देखिये। योद्विजो वेद मनधीत्यान्यत्रार्थशास्त्रादौ श्रमं यत्नातिशयं करोति स जीवन्नेव पुत्रपौत्रादि सहितः शीघ्रं शूद्रत्व गच्छति। जो ब्राह्मण वेद को न पढ़ कर अर्थशास्त्रादि के अध्ययन में यत्न करता है, वह जीवित ही पुत्र पौत्रादि सहित शूद्र हो जाता है। पाठक विचारें कि जब वेद को छोड़ कर अन्य ग्रन्थ के अध्ययन से ब्राह्मण पुत्र-पौत्रादि सहित शूद्र हो जाता है, तो बिना पढ़ा लिखा क्या ब्राह्मण ही बना रहेगा ? इस अनुपात से तो वह शूद्र ही नहीं डबल शूद्र हो जावेगा।

मातुरग्रेऽधिजननं द्वितीयं मौञ्जिबन्धने। तृतीयं यज्ञदीक्षायां द्विजस्य श्रुति चोदनात् ॥२।१६६

तत्र यद् ब्रह्म जन्मास्य मौञ्जोबन्धन चिन्हितम्। तत्रास्य माता सावित्री पितात्वाचार्य उच्यते ॥२।१७०॥

द्विजोंका प्रथम जन्म, माता के आगे और दूसरा मेखला बन्धन (उपन्यास) के समय और तीसरा यज्ञ दीक्षा के समय होता है। उक्त तीनों जन्मों में से ब्राह्मण का जन्म गायत्री माता और आचार्य पिता से होता है। जननी जनक से नहीं। अर्थात् आचार्य माता गायत्री के प्रसाद से शिष्य की पवित्र बुद्धि और कर्म देखकर उसे ब्राह्मण की उपाधि दे देता है।

शूद्रेण हि समस्तावद्यावद्वेदे न जायते। अ. २।१७२॥ वेद का अध्ययन करने से पूर्व शूद्र तुल्य है।

स्वाध्यायेन व्रतैर्होमै स्त्रैविद्येनेज्ययासुतैः। महायज्ञैश्चयज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः ॥२।२८॥

स्वाध्याय से, व्रतों से, यज्ञों से, वेदाध्ययन से तथा अतिथि सत्कारादि महायज्ञों से यह शरीर ब्राह्मण का किया जाता है। ब्राह्मी का अर्थ ब्रह्म प्राप्ति योग्यता 'जो कुल्लूक ने किया है और अब जो करते हैं' वह भूल करते हैं। क्योंकि यहां तस्येदं से आप् प्रत्यय "तस्य" "उसके" अर्थ है ब्राह्मण की तनु क्योंकि ब्रह्म और क्षत्र शब्द ब्राह्मण और क्षत्रिय के प्रसिद्ध पदार्थ हैं। अतः स्पष्ट है कि इन पुण्य कर्मों से मनुष्य ब्राह्मण होता है। शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चति शूद्रताम्। क्षत्रियाज्जातमेवन्तु विद्याद्वैश्यात्तथैवच ॥१०।६५॥ कर्मों की अच्छाई बुराई से शूद्र ब्राह्मण हो जाता है और ब्राह्मण शूद्र हो जाता है। यही बात क्षत्रिय और ब्राह्मण के लिये भी है। अब तक मनु के दसियों प्रमाणों से आपने यह देख लिया वर्ण गुण और कर्म से ही होते हैं। अब महाभारत को देखिये।

भारजद्वाज मुनि भृगु से प्रश्न करते हैं।

ब्राह्मणः केनभवति क्षत्रियो वा द्विजोत्तम। वैश्यः शूद्रश्च विप्रष तद्ब्रूहि वदतांवरा ॥म.भा.शा.अ.१८६

हे द्विजोत्तम ब्राह्मण क्षत्रियादि वर्ण किस किस कर्म से होते हैं, यह कृपया बताइये।

भृगु का उत्तर—जातकर्मादिभिर्यस्त संस्कारैः संस्कृतः शुचिः वेदाध्ययन सम्पन्नःपट्सु कर्मस्ववस्थितः।

शौचाचारस्थित: सम्यक् विद्याभ्यासी गुरुप्रिय: । नित्यव्रती सत्यपर: सवै ब्राह्मण उच्यते ॥

कि जिसके मर्यादानुसार संस्कार हुए हो, वेद पढ़ा लिखा पढ़ा हो अध्ययनअध्यापन छओं कर्म करता हो पवित्र आचारणशील, गुरुप्रेमी, व्रत का अनुष्ठान करने वाला हो ब्राह्मण होता है। और—

सत्यं दानमथाद्रोह मानृशंस्यं त्रपाघृणा । तपश्च दृश्यते यत्र स ब्राह्मण इति स्मृत: ॥

सत्य वक्ता, दानी, सबसे प्रेम करने वाला, सहनशील लज्जाशील, दयालु और तप गुण जिसमें है वह ब्राह्मण है। है कहीं जन्म की गन्ध। इसी प्रकार क्षत्रिय और वैश्य के बत हैं, जिन्हें हम विस्तार के भय से छोड़ देते हैं। शूद्र का लक्षण करते हुये मुनि बत हैं। "त्यक्त वेदस्त्वनाचार: सवै शूद्र इति स्मृत:—कि वेद ज्ञान और आचार हीन शूद्र है। दोनों गुणों से हीन ब्राह्मणों के पुत्र भी शूद्र हैं यह महाभारत का मत स्पष्ट है। इतना ही नहीं ब्राह्मण: पतनीयेषु वर्तमान विकर्मसु। परिदाम्भिक: दुष्कृत: पाप: शूद्रेण सदृशो भवेत् ।महा.२ वनपर्व. अ. २१६॥ नीच कर्म करता हुआ, दम्भी पापी ब्राह्मण शूद्र तुल्य है।

यस्तु शूद्रो दमे सत्ये धर्मे च सततंस्थित: । तं ब्राह्मणमहं मन्ये व्रतेन हि भवेद् द्विज: ॥
भा० व० अ० २१६ ॥

जो शूद्र दमी, सत्यवक्ता, धर्म परायण है उसको मैं ब्राह्मण मानता हूं। क्योंकि ब्राह्मण उत्तम कर्म से ही बनता है। भारद्वाज मुनि भृगु से शङ्का करते हुए पूछते हैं—

कामः क्रोधो भयं लोभ: शोकश्चिन्ता क्षुधा श्रम: । सर्वेषां न: प्रभवति कस्माद्वर्णो विभज्यते
महा० भा० शा० पर्व० अ० १८८

कि महाराज ! काम, क्रोध, भय, लोभ, शोक, चिंता, भूख, थकावट जब हम स मनुष्यों को समान लगती है तब फिर वर्णों का विभाग कैसा ? भृगु बोले—

नाविशेषोऽस्ति वर्णानां सर्वं ब्राह्ममिदं जगत । ब्रह्मणा पूर्व सृष्टा हि कर्मभिर्वर्णताङ्गतम ॥

कि ईश्वर ने सब मनुष्यों को समान ब्राह्मण ही उत्पन्न किया था, अपने अपने भि कर्मों ने ही इनको वर्णों में विभक्त किया। स्पष्ट है, वर्ण कर्म से हैं जन्म से नहीं।

कामभोगप्रियास्तीक्ष्णा: क्रोधना प्रियसाहसा: । त्यक्त स्वधर्मारक्ताङ्गास्ते द्विजा क्षत्रनांगता: ॥

कि जिन ब्राह्मणों ने अपनी रुचि संसार के सुख भोगने और साहसी कर्म करने व ओर लगा दी वे ब्राह्मण से क्षत्रिय बन गये।

गोभ्यो वृत्तिमास्थाय पीता: कृष्युपजीविन: । स्वधर्मान्नानुतिष्ठन्ति ते द्विजा वैश्यतां गता: ॥

व्यापार और कृषि की ओर जिन ब्राह्मणों का झुकाव हो गया, वे वैश्य बन गये।

हिंसानृत प्रिया लुब्धा, सर्वकर्मोपजीविन: । कृष्णा: शौच परिभ्रष्टास्ते द्विजा: शूद्रतां गता: ॥

हिंसक और लालची पवित्रता रहित ब्राह्मण शूद्र बन गये।

इत्येतै: कर्मभिर्व्यस्ताद्विजावर्णान्तरङ्गता: । धर्मो यज्ञ: क्रिया तेषां नित्यन्न प्रतिषिध्यते ॥

इत्येते चत्त्वारोवर्णा येषां शास्त्री सरस्वती । विहिता ब्राह्मणा पूर्वं लोभाच्चाज्ञानताङ्गता: ॥

इन कर्मों के कारण हो ये द्विज क्षत्रियादि वर्ण के हो गये हैं । इन सब को धार्मिक दे क्रिया का पूर्ण अधिकार है । ये चारों वर्ण जिनकी वेद वाणी है, पहले सब ब्राह्मण थे, या के अभाव मे अज्ञानी हो गये ।

ब्रह्मचैव परं सृष्टं ये न जानन्ति तेऽद्विजाः । म० भा० शा० १८८ । ८-१७ ।

कि जो वेद को नहीं जानता वह शूद्र है ।

यक्ष युधिष्ठिर के वार्तालाप में यक्ष युधिष्ठिर से पूछता है—

राजन कुलेन वृत्तेन स्वाध्यायेन श्रुतेन वा । ब्राह्मण्यं केन भवति प्रब्रूह्येतत् सुनिश्चितम ॥

कि राजन ! जन्म से आचार से स्वाध्याय से अनुभव से ब्राह्मण किससे बनता है निश्चित ओ । युधिष्ठिर बोले—

शृणु यक्ष कुल तात न स्वाध्यायो न च श्रुतम् । कारणं हि द्विजत्वे तु वृत्तमेव न संशयः ॥

वृत्तं यत्नेन संरक्ष्यं ब्राह्मणेन विशेषतः । अक्षीणवृत्तो न क्षीणो वृत्ततस्तु हतोहतः ॥

चतुर्वेदोऽपि दुर्वृत्तः सः शूद्रादतिरिच्यते । योऽग्निहोत्रपरो दान्तः स ब्राह्मण इति स्मृतः ॥

हे यक्ष ! सुनो ब्राह्मण बनने में न जन्म कारण है, न अध्ययन, न अनुभव, ब्राह्मण ने में तो उत्तम गुण ही कारण है । आचार की सब को रक्षा करनी चाहिए, विशेष कर ाण को, क्योंकि यदि आचार है तो सब कुछ है, और यदि आचार गया तो सब कुछ गया । ों वेदों को जानने वाला भी यदि आचार हीन है, तो वह शूद्र से भी निकृष्ट है । जो उत्तम कर्ता आचारवान है वह ब्राह्मण है । इस प्रकार महाभारत ने भी खुले शब्दों में दसियों नों पर यह बता दिया कि ब्राह्मणादि वर्ण गुण कर्म से हैं । अब कुछ और ग्रन्थों पर ! डालिए ।

अश्रोत्रिया अननुवाक्या अनग्नयो वा शूद्रस्य सधर्मिणो भवन्ति । वासिष्ठ धर्मसूत्र ३।३।

वेद ज्ञान विहीन, उपदेश देने में असमर्थ अग्निहोत्र न करने वाले ब्राह्मण शूद्र श होते हैं ।

चर्यया जघन्यो वर्णः पूर्वं पूर्वं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ । अधर्मचर्यया पूर्वो वर्णो जघन्यं वर्ण ाद्यते जातिपरिवृत्तौ ॥ आपस्तम्ब सू २।५।११

आचार्य की दीक्षा के समय तक तथा पश्चात् भी धर्माचरण से निकृष्ट वर्ण उत्तम हो ता है और धर्म विरुद्ध आचरण से उत्कृष्ट वर्ण निकृष्ट हो जाता है । इसमें "जातिपरिवृत्तौ" अर्थ जो लोग "दूसरे जन्म में" करते हैं, वे भूल करते हैं । क्योंकि मनु ने स्पष्ट लिखा है "दीक्षा जन्म में" जिसमें कि आचार्य पिता और गायत्री माता होती है, विशेष वर्ण का धेकारी होता है । अतः इसका वास्तविक अर्थ है; दीक्षा के समय जन्म को छोड़ कर जब णों के आधार पर परिवर्तन किया जाता है ।

पुराण में भी कहीं कहीं स्वर में स्वर मिलाते हैं ।

ृध्रस्तु गुरुगोवधाच्छूद्रत्वमगमत् । वि. पु. ४।१।१४॥ गुरु और गौ के मारने पृरुध्र शूद्र बन गया ।

भागो नेदिष्ठ पुत्रस्तु वैश्यतामगमत् । वि. पु. ४।१।१६॥ नेदिष्ठ का पुत्र नाभाग वैश्य बन गया ।

हम विस्तार भय से अधिक न लिखते हुए समाप्त करते हैं। जिनकी विशेष रुचि भविष्य पु. ब्रा. अ. ४३ को देखें वहां कुछ अतिशयोक्ति के साथ जो कि पुराणों का गुण समझिये, चाहे अवगुण, यह स्पष्ट दिखाया है कि उत्तम और अधम मनुष्य को बनाने गुण कर्म ही होते हैं।

पाठक गण! युक्ति, तर्क, वेद और शास्त्रों के प्रमाण से आपने यह भले प्रकार लिया कि ऊँचा कर्म करने वाला, दीवार चुनने वाले के समान ऊँचा चला जायगा और नीच करने वाला कुएँ खोदने वाले के समान नीचे चला जायगा। अतः शरीर के अवयवों के समाज को प्रेम सूत्र में गूँथ कर, जो ज्ञान में आगे बढ़ सकते हैं, जो अपने सुदृढ़ सुघ शरीर बल और चातुर्य के आधार पर समाज की रक्षा एवं न्याय पूर्वक शासन कर सकते जो व्यापार और व्यवहार के कारण देश के व्यवसाय को प्रोत्साहन देकर उसको मालामाल सकते हैं, जो अपना खून पसीना एक करके, बड़े बड़े शिल्प चित्रकारी आदि कला-कौशल एवं अपने श्रमात्मक जीवन से अपने आपको सुखी कर सकते हैं वे चाहे कोई हो वस्तुतः ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र हैं। उनमें ऊँच नीच, छूत-छात की भावना को उत्पन्न कर देश उन्नति में रोड़े बनने का कलङ्क अपने हाथों अपने मस्तक पर न लगाएंगे। भगवान् मानव को सुमति दे ताकि पुनः वही आर्यों का उज्ज्वल अतीत, वर्तमान बनकर संसार के समक्ष और संसार रामराज्य का आनन्द लूटे

आर्य समाज चाहता क्या है ?

[श्रीयुत मदन मोहन विद्यासागर, प्रेम मन्दिर, तेनाली, मद्रास]

[आर्य समाज को स्थापित हुए लगभग ७० वर्ष व्यतीत हुए हैं। उत्तरीय भारत में का रूप विशाल बटवृक्ष जैसा हो गया। अन्य भारतीय प्रान्तों में व बाहर के देशों में भी के 'पांचजन्यशंख' की फूंक सुनाई पड़ने लगी है]

पर जो कार्यक्रम आर्यसमाज के नाम से इस समय चलाया जा रहा है, वह महर्षि ानन्द का मनोऽभिप्राय तो अवश्य है, पर पूरा नहीं। बहुत सारा ऐसा कार्य पड़ा है त ओर अभी तक आर्य नेताओं का ध्यान ही नहीं गया। सिक्के के एक तरफ ही अभी ा गया है।

अब तक के निरन्तर स्वाध्याय, विद्वानों के संग से मैं महर्षि के 'पूर्ण अभिप्राय' को े समझ सका हूँ, आर्य जनता के सामने रख रहा हूँ। ऐसा करने का प्रयोजन यही है इससे आर्य समाज का विशाल सार्वभौमिक रूप विश्व के सामने आ जावे। मैं यह चाहता कि यह एक ऐसा ट्रैक्ट हो जो लाखों की संख्या में भारत की ही नहीं, अपितु विश्व की मस्त भाषाओं में छप जावे। प्रत्येक सभासद् इसे अपने पास रक्खे और घूमते फिरते अपने ास बैठे को देता रहे।]

(१) आर्य समाज एक ऐसा आस्तिक सम्प्रदाय हैं, जो सृष्टि को रचने वाली आदि ंक एक चेतन शक्ति व उसके दिये आदि ज्ञान को स्वीकार करता है। यह 'सनातन वैदिक ी' को मानता है।

(२) वह चेतन शक्ति नित्य, त्रिकालातीत, अपरिवर्त्तन शील, सर्वज्ञ, सर्व शक्तिमान्, ाकार है। उसको भिन्न २ नामों से विधिध देशों में, भिन्न समयों में पुकारा गया है। विश्व इतिहास में सर्व प्रथम उसे 'ओंकार' नाम से स्मरण किया गया। उसका कार्य 'सृष्टि का र्माण' व उसका संचालन है। वह जीव के द्वारा कृत शुभाशुभ कर्मों के अनुसार उसको भाशुभ फल देती है।

(३) [क] यह सृष्टि जड़ (इच्छा व ज्ञान शक्ति रहित) तथा चेतन (इच्छा व ज्ञान क्ति सहित)–दो प्रकार के तत्वों के मेल का परिणाम है। 'दृश्यमान-प्रपंच' का भौतिक कारण कृति' है, जो इसका उपादान कारण है। वह 'सत्वरजस्तम' रूप से त्रिगुणात्मिका है और आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी इन पांच स्थूल रूपों द्वारा विकसित होती है। ोंकार नामक चेतन शक्ति इसका नियामक है और इसी भौतिक तत्व से 'सर्ग स्थिति लय' ा चक्र चलाती है।

[ख] इसके अतिरिक्त एक दूसरी चेतन शक्ति जीव है, जो सृष्टि का निर्माण नहीं रती परन्तु जिसके भोग के लिये इस सृष्टि का निर्माण होता है। वह अणुरूप है, नाना

संख्याक है। 'इच्छा प्रयत्न ज्ञान' जिसके लिंग हैं, जो अपने किये को सुख दुःख रूप में अनिवार्य रूप से भोगता है। कृमिकीटादि पशुपक्ष्यादि व मानव रूप में वह इस सृष्टि में अपना व्यापार करता है। मानव-योनि में आकार वह अपने ज्ञान पूर्वक पुरुषार्थ से अपने लिये अनुकूल (अच्छी=शुभ) व प्रतिकूल (बुरी=अशुभ) परिस्थिति को बनाता है। वह 'स्वतन्त्र इच्छा शक्ति' वाला है जिस का अभिप्राय यह है कि वह कर्म करने में स्वतन्त्र है, पर फल भोगने में परतंत्र है।

[ग] इस प्रकार आर्य समाज की दृष्टि में सृष्टि के तीन मूल कारण हैं; जिनमें प्रकृति जड़ और जीव एवं ब्रह्म चेतन। तीनों अनादि अनन्त हैं; सर्वथा स्वतंत्र पृथक् सत्तार्थ हैं। यह 'खेल तमाशा' इन तीनों की वजह से है। 'यह दृश्यमान् जगत्' मिथ्या नहीं है, किसी लीलाविलास मात्र से अथवा 'कुन' से पैदा नहीं हुआ। अभाव से भाव का होना भी अवैदिक व युक्ति विरुद्ध होने से 'आर्य समाज' को सम्भव नहीं।

(४) यह जीव अज, नित्य, शाश्वत है; अल्प शक्ति वाला, अल्प ज्ञान वाला है। नाना योनियों में आने जाने का नाम ही 'पूर्वजन्म व पुनर्जन्म' है। किये जाते हुए कर्मों का नाम 'क्रियमाण'; जिनका फल भोग रहा है वे 'प्रारब्ध': जिनका भोगना शेष रहा है वे 'संचित' कर्म कहाते हैं। हर एक योनि में वह स्त्री पुरुष दो रूपों में जाता है।

(५) आर्य समाज चार वेदों को स्वतः प्रमाण मानता है क्योंकि :—

[क] (१) उनमें लिखे हुए सिद्धान्त सार्वभौम, सार्वजनिक, सार्वकालिक हैं। वे किसी देशकाल विशेष के लिये लिखे गये प्रतीत नहीं होते।

(२) दूसरे उनमें कोई भी सिद्धान्त बुद्धि विज्ञान व अनुभव के विरुद्ध नहीं पाया जाता।

[ख] भारत भूमि में रचित तद्भिन्न साहित्य को आर्ष व अनार्ष दो भागों में बाँट, आप्तोपदिष्ट आर्य ग्रन्थों का प्रामाण्य आर्यपरम्परानुसार वेदानुकूलतया ही मानता है। इसलिये ये सब ग्रन्थ परतः प्रामाण्य हैं।

[ग] एतद्भिन्न 'विश्व साहित्य' को आदर की दृष्टि से देखता हुआ उनमें निर्दिष्ट विज्ञानाविरुद्ध व वेदानुकूल अंश को ही प्रामाणिक अंगीकार करता है। विज्ञान व तर्कावलम्बी प्रत्येक विषय को सत्य स्वीकार करता है, चाहे वह किसी ने, किसी भी समय में किसी भी देश या परिस्थिति में क्यों न कहा हो?

(६) [क] सर्व भूतदया=सर्व जनहित भाव के सिद्धान्तानुसार प्राणी मात्र में सबके साथ यथायोग्य वर्त्ताव चाहता है।

[ख] 'मानव समाज' में समान भ्रातृभाव, समान-स्वातन्त्र व समानाधिकार के सिद्धान्त को स्वीकार करता है।

[ग] स्त्री पुरुष के नैसर्गिक भेदों को छोड़ अन्य सब आहार विहारादि में उनको समानाधिकार देता है।

(७) मनुष्य के पूर्ण विकास के लिये उसका सर्वांगीण वैयक्तिक विकास व जिस समाज में वह रहता है उसकी चतुर्मुखी उन्नति का मार्ग बताता है।

[क] 'सर्वांगीण वैयक्तिक विकास' अर्थात् उसकी शारीरिक व मानसिक उन्नति के लिये 'योग प्राणायामादि' का प्रचार करता है। मांस शराब मादक द्रव्य, सिगरेटादि का तीव्र निषेध करता है। ब्रह्मचर्य पालन में अधिक जोर देता है। व्यक्ति के लिये 'पंच महायज्ञ' दैनिक प्रोग्राम व षोडश संस्कार जीवन प्रोग्राम का प्रचार करता है।

[ख] 'चतुर्मुखी सामाजिक अभ्युदय' के लिये वेदानुकूल वर्णाश्रम व्यवस्था का पोषक है। यह जन्म से नहीं अपितु गुण कर्मानुसार होनी चाहिये। इसकी दृष्टि से समाज में सब 'व्यक्तियों को परहित' का ध्यान रखते हुए स्वहित=उन्नति का पूर्णधिकार है; देश जाति सम्प्रदाय किसी का भी कोई भेद नहीं। जन्म से व्यवहार में प्रचलित वैयक्तिक या जातीय हर प्रकार के ऊंचे नीचे के भेद को यह वैध उपाय से समूलोन्मूलन करने को सदा यत्न करता है।

(८) [क] समाज में विद्या व शिक्षा का कार्य करने वाले वर्ग को ब्राह्मण, पीड़ित व शोषित वर्ग की अत्याचारियों से रक्षा करने वालों को क्षत्रिय, देश के व्यवसायी वर्ग को वैश्य और परिश्रम करने वालों को शूद्र कहता है। इनमें सामाजिक अधिकारों की दृष्टि से कोई छोटा नहीं। आहार विहार विद्या का अधिकार सब को समान है।

[ख] भूतल पर बसने वाले किसी भी मानव समुदाय में वहां की देशकाल परिस्थिति के अनुसार बने धर्म न्याय युक्त नियमों में चलने वाले उत्तम नागरिकों को, आर्य और सामाजिक व्यवस्था का उपक्षय कर प्रजावर्ग का किसी भी प्रकार से शोषन करने वाले दल को दस्यु मानता है। इनका दमन 'अधिक जनहित' के विचार से न्यायानुमोदित मानता है।

(९) [क] 'अविद्या का नाश और विद्या की अभिवृद्धि' करने में बिना स्त्री पुरुष व रंग भेद के सर्वदा तत्पर रहता है। सह शिक्षा को मानव समाज के लिये अहितकर समझता है, शिक्षा विधान में गुरुकुल शिक्षा प्रणाली है—अर्थात् पारिवारिक व नागरिक बातावरण से दूर रह आश्रमों में विद्याभ्यास को प्रमुखता देता है।

[ख] मनुष्य जीवन का उद्देश्य यथार्थ ज्ञान प्राप्त करते हुए व्यक्ति का पूर्ण विकास है। वह प्रत्येक मनुष्य को शारीरिक व मानसिक दृष्टि से पूर्ण उन्नत देखना चाहता है। शाश्वत सुख प्राप्ति के लिये दोनों प्रकार का अभ्युदय परमावश्यक समझता है। जीवन को 'सत्य शिव सुन्दर' बनाना चाहता है। कला का उपासक है। जीवन में सदाचार, सरलता,

सादगी व सौन्दर्य (=माधुर्य) देखना चाहता है। इस प्रकार के कार्यों को सदा प्रोत्साहित करता है

(१०) प्रत्येक देश के लिये उसकी मातृभाषा को राजभाषा किए जाने के, सार्वभौम सर्वतन्त्र सिद्धान्तानुसार, भारत देश के लिये हिन्दी (आर्य भाषा) को राष्ट्रभाषा स्वीकार करता है और प्रत्येक आर्य सभासद् को इसके पढ़ने की प्रेरणा करता है।

प्रत्येक देश की विद्या सभाओं में शिक्षा का माध्यम उस उस देश की राजभाषा ही होनी चाहिए। इसी में मानव जाति का कल्याण देखता है।

(११) (क) मानव जाति निर्माण के लिए परिपक्व आयु में समान गुण शील संपन्न स्त्री पुरुषों में 'एक विवाह' को प्रोत्साहित करता है। जन्म से मानी जाने वाली जाति पांति में विवाह का कट्टर विरोध करता है।

(ख) दोनों में से किसी एक के मर जाने पर (या किसी अन्य घटना के कारण संबन्ध योग्य न रहने की दशा में) नियत समय तक दोनों की इच्छा हो तो दोनों के लिए समान रूप से पुनर्विवाह को स्वीकार करता है।

(१२) (क) प्रत्येक देश की पूर्ण स्वतन्त्रता अर्थात् सब प्रकार के राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक व्यापारिक व आर्थिक मामलों में उस देश की प्रजा का शासनाधिकार स्वीकार करता है।

(ख) एक देश का दूसरे देश पर, एक जाति का दूसरी जाति पर, एक समूह का दूसरे समूह पर उसकी इच्छा के विरुद्ध प्रभुत्व का प्रबल विरोधी है। पूंजीवाद, साम्राज्यवाद का कट्टर शत्रु है।

(ग) संसार का उपकार करना, अर्थात् मानव मात्र की मानसिक आत्मिक सामाजिक व राष्ट्रिय उन्नति इसका परम ध्येय है।

(१३) प्रजार्थ प्रजा में से (बिना किसी देश जाति कुल मत भेद के) प्रजा द्वारा चुने प्रतिनिधियों के शासन की प्रजातन्त्रात्मक व्यवस्था को सर्वोत्तम मानता है।

(१४) प्रत्येक देश के वासियों को अपनी स्वदेश वस्तुओं का उपयोग करना चाहिए इस सर्वतन्त्र नियमानुसार स्वदेशी वस्त्र, स्वदेशी सभ्यता व संस्कृति और स्वदेशी व्यापार की अभिवृद्धि करने में सर्वदा यत्नशील रहता है। विदेशी सभ्यता की बुराईयों से भारतीयों को सचेत करता है।

(१५) सब के इकट्ठे होने के स्थलों अर्थात् भोजनशाला, पार्क, पुस्तकालय व पूजास्थलों पर सबके समान प्रवेश को स्वीकार करता है।

(१६) विश्व शांति के लिए—

(क) हर एक राष्ट्र को जिसमें एक भाषा; एक प्रकार के आचार विचार वाला जन-

समुदाय रहता हो; (चाहे उसमें कितने भी मत मतान्तर क्यों न हों) और जिसमें ऐसे समुदाय को रहते इतने वर्ष बीत गए हों कि उसके साथ मातृत्व की भावना जागृत होगई हो; उसको राजनैतिक (=भूः) व सांस्कृतिक (=भुवः) आत्मनिर्णय (=स्वः) का पूरा अधिकार देना चाहता है।

(ख) अन्तर्जातीयवाद का समर्थन करता है।

(१७) (क) मनुष्य के लिए सौ वर्ष तक कर्म करते हुए 'अदीन=स्वतन्त्र' जीवन बिताने का उपदेश करता हुआ सर्वतोमुखी कल्याण के निमित्त, सबके परिश्रम को अनिवाय समझता है। बिना परिश्रम के उपभोग करने व अकेले खाने को पाप समझता है।

(ख) योग्यतानुसार समाज में सबका स्थान नियत करता है। आवश्यकतानुसार सब के भोजनाच्छादन का बिना किसी पक्षपात के निर्णय करता है। अर्थात् 'मानव संघ' के अभ्युदय के लिए हर व्यक्ति की योग्यता से लाभ उठाना और सबके लिये भोजन वस्त्र व विद्या का प्रबन्ध करना इसका उद्देश्य है।

(ग) आर्य समाज उत्तम आर्य नागरिकों के निर्माण द्वारा एक ऐसे 'मानवसमाज' की सृष्टि कर रहा है जिसमें उच्च नीच, गरीब अमीर, शोषक शोषित सब भेद भाव मिट जायेंगे। एक ऐसे प्रेम की सृष्टि करना चाहता है जो प्राणीमात्र में एकता लाकर 'अत्याचारी पशु मनुष्य को 'सच्चा मानव' बना दे।

(१८) संसार के समस्त महापुरुषों का गौरव करता है। महर्षि दयानन्द सरस्वती को प्राचीन वैदिक धर्म का पुनरुद्धारक, भारतवर्ष की चतुर्मुखी उन्नति का पिता, भारतीयों का संगठक और इस संस्था का संस्थापक मानता है।

(१८) सब प्रकार के दुखों से, पूर्ण रूप में छूटने का नाम मुक्ति मोक्ष या शाश्वत सुख प्राप्ति है। इसके लिये किसी व्यक्ति विशेष या पुस्तक विशेष में विश्वास को अनावश्यक समझ 'सदाचार=अष्टांगयोग' को प्रोत्साहित करता है। परन्तु :—

(क) आर्य समाज का नियमित सदस्य बनने के लिये वेदों में व महर्षि दयानन्द द्वारा प्रतिपादित तदनुकूल सिद्धान्तों में विश्वास को आवश्यक समझता है।

[ख] चाहे कोई इस संघ का सदस्य हो या न हो, जो भी इसके सिद्धान्तों को अपने 'जीवन का दर्शन' मानता हो उसे वैदिकधर्मी व आर्य स्वीकार करता है।

सृष्टि-निर्माण-काल

(वैदिक सिद्धान्त की विजय)

[ले०—डा० सूर्यदेव शर्मा साहित्यालङ्कार, सिद्धान्त शास्त्री, साहित्य धुरीण, एम० ए०
(इतिहास, संस्कृत, हिन्दी) एल० टी० डी० लिट्, अजमेर]

संसार में अभी तक ऐसे अनेक विषय हैं जिन पर निरन्तर वाद-विवाद चलता रहता है, जिनके सम्बन्ध में नाना प्रकार की Theory घड़ी जाती है, अनेक वार उनका हल ढूँढ़ा जाता है। लेकिन कोई निर्णयात्मक संतोषप्रद समाधान नहीं होता। इन्हीं दुरूह पहेलियों में से एक पहेली हमारी इस सृष्टि-निर्माण की भी है, जैसा कि कहा है:—

"खल्क का कुछ आज तक भी, फिलसफ़ा मिलता नहीं।
डोर को सुलझा रहे हैं, पर सिरा मिलता नहीं"॥

सृष्टि निर्माण के सम्बन्ध में वैसे तो अनेक बातें विचारणीय हैं, फिर भी उनमें से तीन बातें विशेष महत्त्व की हैं।

एक बार लखनऊ आर्य समाज के उत्सव पर सर्वधर्म सम्मेलन में यही विषय रखा गया था, जिस पर आर्य समाज के प्रतिनिधि के रूप में मुझे बोलना था। प्रत्येक धर्म के प्रतिनिधि को अपने धर्म के अनुसार उन्हीं तीन बातों पर प्रकाश डालना था, अर्थात् "सृष्टि उत्पत्ति" (१) कब ? (२) क्यों ? (३) और कैसे ? इस्लाम की ओर से जो मौलवी साहब बोलने खड़े हुए, वह तो नीचे लिखा शेर पढ़कर अपना पीछा छुड़ा गये:—

"अजब हैं दुनियाँ के कारखाने।
खुदा की बातें खुदा ही जाने"॥

लेकिन आर्य समाज की ओर से तो मुझे उन पर पूरा प्रकाश डालना ही था, क्योंकि वैदिक धर्म के सिद्धान्त तर्क संगत हैं और वेदों के द्वारा संसार में ज्ञान का प्रकाश हुआ है। यहाँ स्थानाभाव से उपरोक्त तीनों बातों पर प्रकाश न डाल कर मैं केवल पहली बात की ही विवेचना करूँगा अर्थात् सृष्टि उत्पन्न कब हुई ? इस सम्बन्ध में हमारा वैदिक सिद्धान्त क्या है, और वर्तमान विज्ञान क्या कहता है ?

इससे पूर्व कि हम वैदिक सिद्धान्त को सामने रखें, यह देख लेना अच्छा होगा कि अन्य प्रमुख मत-वादियों का इस विषय में क्या सिद्धान्त है ?

कानपुर आर्य समाज के उत्सव पर सर्वधर्म सम्मेलन में इसी विषय पर बोलते हुये ईसाइयों के प्रतिनिधि पादरी साहब ने तो अपने प्रमाण उपस्थित करते हुये यहाँ तक कह डाला कि "यह दुनिया हज़रत ईसामसीह के जन्म से ४००४ वर्ष पूर्व नवम्बर के महीने में प्रातःकाल उत्पन्न हुई।" जब दुनिया बनी ही नहीं थी तो नवम्बर का महीना और प्रातःकाल का समय उन्हें कैसे मालूम हुआ ? यह तो

उन्हीं की बुद्धि मे आ सकता है। ईसा से ४००४ वर्ष पूर्व का समय ईसाई लोग बहुत काल से मानते आ रहे हैं। अरमाग के आर्चबिशिप जैम्स उशर ने भी बाईबिल के अनुसार सृष्टि उत्पत्ति का समय यही माना है। यही नहीं, किन्तु इसका सबसे बड़ा प्रमाण Encyclopedia Brittanica, Volume VI के पृष्ठ ४०३ पर भी मिलता है, जहां कि लिखा है "Upto the time of the accession of Queen Victoria people believed the age of Creation to be 4004 B. C and this date is still given on the margin of the Bok of Genesis Old Testament",

अर्थात् महारानी विक्टोरिया के सिंहासनारूढ़ होने के समय (सन् १८३२) तक सृष्टि उत्पत्ति का समय लोग ईसा से ४००४ वर्ष पूर्व ही मानते रहे हैं और अब भी यही तारीख बाईबिल के पुराने अहदनामे की उत्पत्ति की किताब के हाशिये पर लिखी रहती है। वैसे भी बाईबिल के अनुसार आदम से नूह तक ११ पीढ़ी और नूह से इब्राहीम तक ११ पीढ़ी होती हैं जिनमे कुल वर्ष ३५७२ होते हैं और इब्राहीम को हुये आज तक लगभग ३४०० वर्ष हुये इस हिसाब से आदम को हुये कुल लगभग ७००० वर्ष हुये। यही ईसाइयों का सृष्टि उत्पत्ति का काल है। यहूदी और मुसलमान भी इससे आगे नहीं जाते।

लेकिन Science & Invention नाम के अमेरिका के एक पत्र मे Prof, kneen ने Age of the Earth नामक लेख लिखकर सिद्ध किया था कि इस पृथ्वी को बने कम से कम ७२ लाख वर्ष हुये होंगे। पटना के अजायबघर मे एक वृक्ष का लम्बा तना जो लकड़ी से पत्थर बन गया है, रखा हुआ है। भू-गर्भ विद्या विशारदों का कथन है कि उसको लकड़ी से पत्थर बनने में कम-से-कम ५ करोड़ वर्ष लगे होंगे। यदि ईसाई और मुसलमानों के सिद्धान्तानुसार सृष्टि उत्पत्ति को केवल ७ हज़ार ही वर्ष हुये, तो क्या यह वृक्ष का तना ५ करोड़ वर्ष से ख़ुदा के घर मे पड़ा पड़ा पत्थर बन रहा था? पाठकों ने देख लिया इन मतों की बुद्धि का नमूना?

और आगे चलिये, Arthur Halwas नामी विज्ञानवेत्ता ने एक पुस्तक लिखी है जिसका नाम है "The Age of the Earth" (पृथ्वी की आयु) जो लन्दन में छप कर प्रकाशित हुई है। उसमे दिया गया है कि विभिन्न वैज्ञानिक तरीकों से पृथ्वी की आयु जानने के जो प्रयत्न किये गये उनका फल निम्न प्रकार रहा:—

(१) सूर्यताप के द्वारा पृथ्वी की आयु लगभग २ करोड़ वर्ष सिद्ध हुई। (२) भूताप के द्वारा लगभग ६ करोड़ वर्ष। (३) समुद्र के खारी जल के द्वारा लगभग १० करोड़ वर्ष। (४) भूगर्भ के द्वारा लगभग १० करोड़ वर्ष। (५) रेडियो activity के द्वारा लगभग ३७ करोड़ वर्ष।

इससे भी आगे प्रोफेसर जौली ने पृथ्वी पर प्राणियों का समय ५० करोड़ वर्ष माना है। २० जुलाई सन् १६३१ के प्रयाग से प्रकाशित होने वाले "लीडर" पत्र में मिस्टर वाटसन डेविस ने लिखा था कि National Research Council ने वैज्ञानिकों की जो कमेटी पृथ्वी की आयु जानने

के लिये नियुक्त की थी, उसने कई वर्ष की खोज के पश्चात केरोलिया (रूस) में यूरेलियम के कुछ अंश की परीक्षा करके यह निश्चय किया है कि वह धातु १८५२०००००० वर्षों की बनी हुई है और जिस चट्टान में वह पाई जाती है वह भी लगभग १५ करोड़ वर्ष पहले की होगी। इस प्रकार पृथ्वी की आयु लगभग २ अरब वर्ष की सिद्ध होती है। इगलैंड के प्रसिद्ध वैज्ञानिक और तत्ववेत्ता डाक्टर जैकर जीन्स ने भी जो कलकत्ते की Science कांग्रेस के सभापति बने थे, अपनी पुस्तक Universe Around Us में एक औंस यूरेलियम का इतिहास देखकर यही सिद्ध किया है कि पृथ्वी की आयु लगभग २ अरब वर्ष की होगी।

कहिये पाठकगण! है न यह वैदिक सिद्धान्त की विजय? अथर्ववेद के "शतंतेऽयुतम्" इत्यादि मन्त्र में पृथ्वी की कुल आयु ४ अरब ३२ करोड़ वर्ष की बतायी गई है जिसमें से लगभग २ अरब वर्ष अर्थात् १९७२९४९०४४ वर्ष व्यतीत हो चुके हैं। यही हमारा वैदिक सृष्टि संवत है। इससे सिद्ध होता है कि हमारे वैदिक-धर्म के सिद्धान्त कितने वैज्ञानिक और तर्क संगत हैं। ठीक कहा है—

"तर्क युक्त विज्ञान सिद्ध, पर वैदिक धर्म हमारा है।
है सब से प्राचीन, हमें वह प्राणों से भी प्यारा है॥
तन मन जीवन धन साधन सब, वेद धर्म पर वारेंगे।
यह वैज्ञानिक धर्म विश्व में, "सूर्य" समान प्रसारेंगे॥

यजुर्वेद के पितर

[प्रोफेसर विश्वनाथ, विद्यालङ्कार लाहौर भूतपूर्व वेदोपाध्याय गुरुकुल कांगड़ी]

पंचमहायज्ञ प्रत्येक गृहस्थी को करने चाहियें—यह विधान मनुस्मृति आदि ग्रन्थों में मिलता है। इन पञ्चमहायज्ञों में पितृयज्ञ भी है। पौराणिकों के मतानुसार पितृयज्ञ मृत-पितरों के संबन्ध में किया जाता है। परंतु ऋषि दयानन्द का यह मंतव्य है कि पितृयज्ञ का विधान जीवित पितरों के संबन्ध में है, नकि मृत पितरों के संबन्ध में। यजुर्वेद में पितरों का बहुत स्पष्ट रूप से वर्णन है। इस लिए इस लेख में "यजुर्वेद के पितरों" पर कुछ विचार किया जायगा।

(१) पितर का अर्थ

'पितर' शब्द से केवल पिता-व्यक्तियों का अर्थात् केवल पुरुष-व्यक्तियों का ही ग्रहण नहीं होता, अपितु माता और पिता इन दोनों व्यक्तियों का अर्थात् पुरुष और स्त्री इन दोनों व्यक्तियों का ग्रहण होता है। व्याकरण की दृष्टि से पितृयज्ञ शब्द में "पितृ" शब्द का एक शेष मानना चाहिए। जैसे कि माता च पिता च=पितरौ; तथा मातरश्च पितरश्च=पितरः। इसलिए पितृयज्ञ का अर्थ हुआ "वह यज्ञ जो कि माता और पिता तथा इनके पूर्वजों के संबन्ध में किया जाय"।

(२) पितृयाण और पितर

पितरों के संबन्ध में "पितृयाण" शब्द का बहुत प्रयोग होता है। पितृयाण का अर्थ है "पितरों का यान", "पितरों का मार्ग" अर्थात् पितरों के जीवन का मार्ग। प्रश्नोपनिषद्, प्रथम प्रश्न ६वीं कंडिका इस संबन्ध में निम्न प्रकार है—

"संवत्सरो वै प्रजापतिः तस्यायने दक्षिणं चोत्तरं च। तद्ये ह वै तदिष्टापूर्त्ते कृतमित्यु-पासते ते चान्द्रमसमेव लोकमभिजयन्ते। ते एव पुनरावर्त्तन्ते। तस्मादेते ऋषयः प्रजाकामाः दक्षिणं प्रतिपद्यन्ते। एष ह वै रयिर्यः पितृयाणः"।

अर्थात् "संवत्सर को प्रजापति कहते हैं। उस संवत्सर के दो अयन हैं। एक दक्षिण (अयन) और दूसरा उत्तर (अयन)। तो जो लोग *इष्टकर्मों और +आपूर्त कर्मों को अपने कर्तव्यकर्म मानते हैं वे चन्द्रमा-संबन्धी लोक पर विजय पाते हैं। वे ही बार बार इस लोक की ओर आते हैं। इस लिये ये ऋषि जो कि प्रजा की कामना वाले हैं—वे दक्षिण मार्ग को (अपने जीवन मार्ग के रूप में) स्वीकार करते हैं। यह दक्षिण मार्ग ही रयि है, जिसे पितृयाण भी कहते हैं"।

इस उद्धरण में पितृयाण के संबन्ध में निम्न लिखित कथन है—

---

* अग्निहोत्रं तपः सत्यं वेदानां चानुपालनम्। आतिथ्यं वैश्वदेवश्च इष्टमित्यभिधीयते॥

+ वापीकूपतडागादि देवतायतनानि च। अन्नप्रदानमारामः पूर्त्तमित्यभिधीयते॥

(क) संवत्सर अर्थात् वर्ष प्रजापति है, प्रजाओं का पति है, रक्षक है।

(ख) संवत्सर के दो अयन होते हैं। एक दक्षिण अयन और दूसरा उत्तर अयन। संवत्सर इन दो अयनों के द्वारा प्रजाओं का पति अर्थात् रक्षक बना है। दक्षिण अयन शीतकाल का समय है जब कि सूर्य दक्षिण की ओर अयन अर्थात् प्रयाण करता है, और उत्तर अयन ग्रीष्म काल का अयन है जबकि सूर्य उत्तर की ओर अयन अर्थात् प्रयाण करता है। संवत्सर अपने इन दोनों रूपों द्वारा प्रजाओं का पति बना हुआ है, प्रजाओं का रक्षक बना हुआ है। अर्थात् संवत्सर शीतकाल और ग्रीष्म काल इन दो रूपों द्वारा प्रजाओं की रक्षा कर रहा है)।

(ग) जो लोग "इष्ट" अर्थात् यज्ञयागों तथा होमादि कर्मों को अपना कर्त्तव्यकर्म समझते हैं, तथा साथ ही "आपूर्त्त" या "पूर्त्त" अर्थात् "सामाजिक उपकार के कर्मों को भी अपना कर्त्तव्य कर्म समझते हैं वे चन्द्रमसलोक पर विजय पाते हैं।

(घ) इष्ट और आपूर्त कर्मों को अपने कर्त्तव्यकर्म समझने वाले लोग बार २ गृहस्थ-धर्म में आते हैं।

(ङ) ऋषि कोटि के लोग—प्रजा की कामना के कारण दक्षिण मार्ग को अपने जीवन का मार्ग मानते हैं और वे इस मार्ग पर चलते हैं।

(च) इस दक्षिण मार्ग को ही रयि भी कहते हैं और पितृयाण भी।

इन कथनों की व्याख्या यह है कि एक प्रकार के लोग तो वे होते हैं, जो कि ब्रह्मचर्य आश्रम समाप्त कर गृहस्थ धर्म में प्रवेश कर यज्ञ आदि कर्मों तथा नानाविध समाजोपकार कर्मों को करते हैं; तथा दूसरे प्रकार के लोग वे होते हैं जो कि ब्रह्मचर्याश्रम समाप्त कर सीधे संन्यासाश्रम में प्रवेश कर अध्यात्मचिन्तन में लग कर फिर संसार का उपकार करते हैं। इनमें से पहिले प्रकार के लोग "दक्षिणायन" मार्ग के अवलम्बी हैं, और दूसरे प्रकार के लोग उत्तरायण मार्ग के अवलम्बी हैं। संवत्सर जैसे अपने दोनों मार्गों द्वारा प्रजाओं की रक्षा करता है, केवल एक मार्ग से संवत्सर प्रजाओं की रक्षा नहीं कर सकता, इसी प्रकार मनुष्य समाज के दोनों प्रकार के व्यक्ति मिल कर ही दक्षिणायन मार्ग और उत्तरायणमार्ग का अवलम्बन कर समग्र प्रजाओं की रक्षा करते हैं, केवल एक मार्ग से अर्थात् केवल गृहस्थधर्म के मार्गों से या केवल आरंभ से ही संन्यासधर्म के मार्ग से प्रजाओं की रक्षा नहीं हो सकती।

गृहस्थधर्मावलम्बी व्यक्तियों के जीवन मार्ग को "दक्षिण" मार्ग कहा गया है। संवत्सर का दक्षिण अयन ह्रास का अयन है। सूर्य दक्षिण दिशा में जाकर अपनी शक्ति और तेज की दृष्टि से ह्रास को प्राप्त होता है। परन्तु ह्रास को प्राप्त हो कर शरत् काल में अन्नों तथा फल और फूलों और वनस्पतियों को उत्पन्न करता है। इसी प्रकार गृहस्थधर्मावलम्बी व्यक्ति गृहस्थमार्ग को प्राप्त कर अपनी शारीरिक शक्ति आदि का तो ह्रास करते हैं। परंतु इस ह्रास के द्वारा वे संसार को नई-नई शक्तियों वाली नाना विध प्रजाओं, अर्थात् संतानों

को देकर संसार का उपकार और भला करते हैं । बिना गृहस्थधर्म के कोई मनुष्य उत्पन्न ही नहीं हो सकता । मनुष्य कोटि के लोग भी गृहस्थधर्म के परिणाम हैं, ऋषि कोटि के लोग भी गृहस्थधर्म के परिणाम हैं, देव कोटि के लोग भी गृहस्थधर्म के परिणाम हैं। ज्ञानी, ध्यानी, विद्वान्, व्यापारी, योद्धा, देशभक्त, कलाकौशलविज्ञ, संन्यासी आदि सब व्यक्ति, गृहस्थधर्म के ही परिणाम हैं। इसलिये गृहस्थधर्म में अपनी शक्ति के ह्रास की उपेक्षा कर और इससे संसार की सत्ता और संसार के उपकार को लक्ष्य में स्थापित कर गृहस्थधर्म में प्रवेश करना चाहिए । गृहस्थधर्म का मार्ग इस ह्रास की दृष्टि से और उत्पादक की दृष्टि से दक्षिण है, तथा दक्षिण मार्ग ।

इसी प्रकार संवत्सर का उत्तर-अयन शक्ति का प्रतिनिधि है। सूर्य जब उत्तर-अयन की ओर गति करने लगता है तो इसकी शक्ति और तेज बढ़ने लगता है तो उत्तर-अयन की पूरी अवधि तक पहुँच कर सूर्य जून मास के तेज और प्रकाश से तपने और चमकने लगता है, इसका तेज शरीर को असह्य हो जाता है, प्रकाश आंखों को चुँधिया देता है । इस समय सूर्य अपने पूर्ण तेज में होता है । इस प्रकार उत्तर-अयन—शक्ति संचार, शक्ति वृद्धि और शक्ति के पूर्ण यौवन का प्रतिनिधि है। यह मार्ग उन व्यक्तियों का मार्ग है जो कि ब्रह्मचर्य से ही संन्यास धर्म में चले जाते हैं और गृहस्थधर्म का अवलम्बन नहीं करते । यतिवर ऋषि दयानन्द उत्तर-अयन के व्यक्ति थे। ऐसे व्यक्तियों के बिना संसार में शक्ति और तेज का संचार नहीं होता । इस उत्तर-अयन के जीवनमार्ग का वर्णन किया जायगा ।

इसी प्रकार गृहस्थधर्मावलम्बी व्यक्तियों के जीवनमार्ग को "चन्द्रमस" कहा गया है और गृहों, शालाओं, कोठियों को चन्द्रमस लोक कहा गया है । गृहस्थों के रहने सहने के स्थान को भी "लोक" या "गृहस्थलोक" कहते हैं । विवाह हो चुकने पर पत्नी को अथर्व वेद ने "पतिलोक*" में विराजने का अधिकार दिया है। पतिलोक वह स्थान है, घर है, जो कि पति का है, जहांकि पति रहता है। इसी पति लोक को चन्द्रमस लोक कहा गया है। चन्द्रमा स्पष्ट घटता, बढ़ता, नष्ट होता हुआ तथा उत्पन्न होता हुआ, पूर्णता में तथा पूर्णनाश रूप में दृष्टिगोचर होता है। पतिलोक में या गृहस्थधर्म में ये ही दृश्य दृष्टिगोचर होते रहते हैं। कोई रोग के कारण शक्ति की दृष्टि से घट रहा होता है, कोई स्वास्थ्य के कारण बढ़ रहा होता है, कोई संतान नष्ट हो जाती है, तो कोई उत्पन्न होती है, कई संतानों में पूर्णता दृष्टिगोचर होती है और कईयों का अमावस्या के चन्द्र की न्याईं पूर्ण ह्रास दृष्टिगोचर होता है । इस साधर्म्य की दृष्टि से गृहस्थधर्म के जीवनमार्ग को "चन्द्रमस" कहा गया है और इसी दृष्टि के गृहस्थाश्रम को चन्द्रमस लोक कहा गया है। गृहस्थी यदि वेदोक्त संयम की विधि से गृहस्थ धर्म का

---

* ब्रह्मापरं युज्यतां ब्रह्म पूर्वं ब्रह्मान्ततो मध्यतो ब्रह्म सर्वतः ।
अनाव्याधां देवपुरां प्रपद्य शिवा स्योना पतिलोके विराज ॥१४।१।६४॥

पालन करें तो वे गृहस्थाश्रम पर विजय पा जाते हैं, नहीं तो वे गृहस्थी जो कि असंयमी है. विषयलोलुप हैं—वे गृहस्थ मार्ग में जाकर हार खा जाते हैं । उनके लिए जीना भी दूभर हो हो जाता है ।

गृहस्थाश्रम में प्रवेश करके वेदोक्त कर्मों को अपना कर्तव्य कर्म समझकर करना चाहिये । इन कर्मों में चित्त लगाकर श्रद्धा और भक्ति से कर्मों को करना चाहिये । जिन लोगों को गृहस्थाश्रम का धर्म रुचिकर है, जो कि गृहस्थाश्रम के कर्मों द्वारा अपने संस्कारों का संचय करते हैं ऐसी व्यक्ति अपने संस्कारों से प्रेरित होकर बार २ जन्म लेकर फिर गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर इस आश्रम द्वारा संसार का उपकार करते हैं । यह पुनरावर्त्तन है, अर्थात् गृहस्थधम में में पुनः २ आना है ।

परन्तु स्मरण रहे कि वेद ने इस सर्वोपकारी गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करने का अधिकार केवल ऋषिकोटि के व्यक्तियों को दिया है । अनृषि गृहस्थी गृहस्थ की महिमा को गृहस्थ के उद्देश्य को नहीं समझ सकते । वे नहीं समझ सकते कि गृहस्थ धर्म का उद्देश्य है "प्रजोत्पादन" न कि भोग । प्रजोत्पादन का अभिप्राय है उत्तम सन्तानों को पदा करना। अनृषियों की सन्तानें भोगवासना का परिणाम होती हैं, और ऋषियों की सन्तानें दिव्य भावनाओं का परिणाम होती है । ऊपर के प्रश्नोपनिषद् के उद्धरण में गृहस्थाश्रम का अधिकार केवल ऋषि कोटि के व्यक्तियों को दिया गया है ।

यह दक्षिण मार्ग या चान्द्रमसलोक ही रयिमार्ग या रयिलोक है । इसको पितृयाण भी कहा गया है । इस प्रकार प्रश्नोपनिषद् में गृहस्थाश्रम को दक्षिण मार्ग, चन्द्रमसलोक, रयि-मार्ग और पितृयाण—इन शब्दों द्वारा कहा गया है ।

इस व्याख्या द्वारा यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि "पितर" वे व्यक्ति हैं जो कि गृहस्थधर्म का जीवन व्यतीत करते हैं. तथा वे भी जो कि इस गृहस्थ मार्ग से गुजर कर अगले आश्रमों में जाते हैं ।

(३) देवयान

ऊपर के लेख में "पितृयाण" और "पितर"—इन शब्दों के अभिप्रायों की व्याख्या हो चुकी है । इन शब्दों के सम्बन्धी शब्द है "देवयान" और "देव" शब्द । इनके सम्बन्ध में प्रश्नोपनिषद, प्रथम प्रश्न, कण्डिका १० इस प्रकार है :—

अथोत्तरेण तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्ययाऽऽत्मानमन्विष्यादित्यमभिजयते एतद्वै प्राणानामायतनमेतदमृतमभयमेतत्परायणमेतस्मान्न पुनरावर्त्तते, इत्येष निरोधः" ।

अर्थात् "उत्तर मार्ग के द्वारा, तप द्वारा, ब्रह्मचर्य द्वारा, श्रद्धा द्वारा तथा विद्या द्वारा आत्मा का अन्वेषण कर आदित्य पर विजय पाते हैं । यह उत्तरमार्ग प्राणों का घर है, यह अमृत है अभय है, यह परम-अभय है, इससे पुरातनवर्त्तन नहीं होता, यह निरोध मार्ग है" ।

यह वर्णन देवमार्ग का है । प्रश्नोपनिषद् के प्रथम प्रश्न की ६ वीं कण्डिका में

पितृयाण का वर्णन है और इस १० वीं कण्डिका में देवयान का वर्णन है। इसमें निम्नलिखित भाव दर्शाए गये हैं।

(क) देवयान के मार्ग का नाम "उत्तर मार्ग" भी है।

(ख) उत्तरमार्ग का अभिप्राय है तप का मार्ग, ब्रह्मचर्य का मार्ग, श्रद्धा का मार्ग और विद्या अर्थात् आत्मविद्या का मार्ग।

(ग) उत्तरमार्ग का उद्देश्य है "आत्मा का अन्वेषण", नकि गृहस्थ धर्म।

(घ) इस उत्तरमार्ग को आदित्यमार्ग भी कहते हैं। उत्तरमार्गगामी आदित्यमार्ग पर विजय पाते हैं।

(ङ) उत्तरमार्ग से प्राणों का या शक्ति का संचय होता है, शीघ्र मृत्यु नहीं होती अर्थात् मनुष्य दीर्घजीवी हो जाता है, तथा मनुष्य भय रहित हो जाता है।

(च) इसको पर-अयन भी कहते हैं।

(छ) इस मार्ग में जाकर पुनरावर्त्तन नहीं होता। पितृयाण मार्ग में जीवन व्यतीत करने वाला व्यक्ति अपने संस्कारों के वश माता-पिता होने के मार्ग में फिर २ आता रहता है, परन्तु देवयान या उत्तरमार्ग में जीवन व्यतीत करने वाला व्यक्ति माता पिता होने के मार्ग में कभी लौट कर नहीं आता। जब वह अपने वर्त्तमान जीवन में ज्ञानपूर्वक पितृयाण के मार्ग को त्याग चुका है और उसने अपने जीवन का उद्देश्य देवयान मार्ग बना लिया है, और इस वर्त्तमान जीवन में देवयान मार्ग सम्बन्धी संस्कार उसकी आत्मा में और भी दृढ़मूल हो चुके हैं तो वह अपने भावी जन्मजन्मान्तरों में किस प्रकार गृहस्थ मार्ग में अर्थात् पितृयाण मार्ग में पदार्पण कर सकता है। इसलिये "न पुनरावर्त्तन्ते" द्वारा देवयान मार्ग का वर्णन उचित ही प्रतीत होता है।

(ज) इस उत्तरमार्ग का नाम निरोधमार्ग भी है। इस मार्ग में सांसारिक वृत्तियों का निरोध कर आत्मान्वेषण के मार्ग में पदार्पण करना पड़ता है, इसलिये उत्तरमार्ग को निरोध का मार्ग कहा गया है।

(४) पितृयाण और देवयान में भेद

(१) "पितृयाण" मार्ग को दक्षिण का मार्ग कहा गया है और "देवयान" मार्ग को उत्तर का मार्ग कहा है। सूर्य जब दक्षिण मार्ग का पथिक बनता है तो वह "पितृयाण" मार्गी का प्रतिनिधि होता है, और सूर्य जब उत्तरमार्ग का पथिक बनता है तो वह "देवयान" मार्गी का प्रतिनिधि होता है। पहला मार्ग शक्तिक्षय और उत्पादकत्व का सूचक है, और दूसरा मार्ग शक्ति संचय और तेज का सूचक है।

(२) पितृयाण कर्म मार्ग है, और देवयान ज्ञानमार्ग है।

(३) पितृयाण को चन्द्रमास मार्ग कहते हैं और देवयान को आदित्य मार्ग।

(४) पितृयाण वाले बार २ गृहस्थ धर्म में आते हैं, परन्तु देवयानी लोग अपने

निवृत्तिमार्ग के संस्कारों की प्रबलता के कारण बार २ उत्पन्न होकर भी गृहस्थ में नहीं आते।

(५) पितृयाण वाले गृहस्थ में अपनी शक्ति का व्यय करते हैं परन्तु देवयान व इस शक्ति का संचय करते हैं, इस प्रकार देवयान मार्ग वाले दीर्घजीवी हो जाते हैं और नि होकर विचरते हैं।

(६) पितृयाण "रयि मार्ग" है और देवयान "प्राणमार्ग" है।

इस प्रकार "पितर" और "देव" तथा पितृयाण और देवयान शब्दों द्वारा जीवि पितरों तथा जीवित देवों का ही वर्णन प्रतीत होता है, मृत पितर तथा मृत देवों का नहीं यहसिद्धान्त हृदयंगत हो चुका होगा। जीवित पितरों के सम्बन्ध में निम्नलिखित प्रमाण अ उपस्थित किये जाते हैं।:—

(५) शतपथ ब्राह्मण और जीवित पितर

शतपथ ब्राह्मण २।४।२।२४ तथा २।६।१।४२ में लिखा है कि "गृहाणां ह पि ईशते"। अर्थात् पितर गृहों के अधीश्वर हैं, अधिपति हैं, स्वामी हैं। इस प्रमाण द्वारा ज्ञात होता है कि गृहस्थ धर्म के अवलम्बी जन पितर कहलाते हैं, और ये जीवित व्यक्ति सम्भव हैं, मृत नहीं।

(६) शाङ्खायन श्रौतसूत्र और जीवित पितर

शांखायन श्रौतसूत्र १६।२।४-६; तथा शतपथ ब्राह्मण १३।४।३।६ में लिखा है कि :—

यमो वैवस्वतो राजेत्याह। तस्य पितरो विशः। त इमे आसत इति स्थविरा उपसमे भवन्ति। तानुपदिशति यजूँषि वेदः—

इसका अर्थ यह है कि "यम" अर्थात् प्रजाओं का नियन्त्रण करने वाला तथा स्व यमनियमों का पालन करने वाला, और "वैवस्वत" अर्थात् विवस्वान् के सदृश प्रतापी आदि ब्रह्मचारी व्यक्ति राजा होना चाहिये। उसके पितर हैं प्रजाजन, अर्थात् ये जो कि उसके स आसनों पर विराजते हैं, अर्थात् स्थविर व्यक्ति, जो कि वयोवृद्ध तथा ज्ञानवृद्ध व्यक्ति उन्हें राजा उपदेश में कहता है कि तुम्हारा वेद यजुर्वेद है"।

इससे प्रतीत होता है कि राजा के सामने आसनों पर बैठे हुए, उसके सलाह स्थविर प्रजाजन पितर कहलाते हैं। राजा के संमुख बैठे हुए स्थविर प्रजाजन जीवित व्य ही हो सकते हैं, मृत व्यक्ति नहीं।

इस उद्धरण में यह भी कहा गया है कि राजा इन ज्ञान वृद्ध और वयोवृद्ध पि को उपदेश रूप में कहता है कि तुम्हारा वेद यजुर्वेद है। इससे ज्ञात होता है कि यजुर्वेद विशेष कर पितरों का वर्णन होगा। इस लिए यजुर्वेद के उन मन्त्रों के भी प्रमाण यहां दि जाते हैं जिनसे कि सिद्ध होगा कि यजुर्वेद की दृष्टि से भी पितर जीवित व्यक्ति ही हैं व्यक्ति नहीं।

(७) यजुर्वेद और जीवित पितर

यजुर्वेद अध्याय २, २६ से ३४ तक के मन्त्र पिण्डपितृयज्ञपरक हैं। पौराणिक द्वान् तो पिण्ड पितृयज्ञ में मृतपितरों के उपलक्ष में गुंदे आटे के पिण्ड का दान करते हैं और साथ ही वस्त्र दान की पद्धति को पूरा करने के लिये वस्त्रों के स्थान में धागा पिण्डों के थ समर्पण में धर देते हैं। इन मन्त्रों में जीवित पितरों को घर बुला कर उनके सत्कार का र्णन है। इस सत्कार में पुत्र-पौत्र आदि अपने वानप्रस्थी तथा संन्यासी पितरों को घरों में लाकर उन्हें भोजन कराते हैं और साथ ही उनकी आवश्यकता के अनुसार उनको वस्त्रों का न करते हैं। इस पक्ष की पुष्टि में कतिपय मन्त्र प्रमाण रूप में उद्धृत किये जाते हैं :—

अत्र पितरो मादयध्वं यथाभागमावृषायध्वम्। अमीमदन्त पितरो यथाभागमावृषायिषत।
यजु. अ. २, मं. ३१॥

"हे पितरो! इस घर में अपने आप को आनन्दित तथा तृप्त करो तथा यथेच्छ ोजन करो"। "पितरों ने अपने आप को आनन्दित तथा तृप्त कर लिया है तथा यथेच्छ ोजन किया है।"

इस मन्त्र के प्रथमार्ध में गृहस्थी "पितरों" के प्रति कहते हैं कि आप हमारे घरों पधारे हैं कृपा कर अपने आपको भोजन द्वारा तृप्त तथा आनन्दित कीजिये। मन्त्र के तीयार्ध भाग में गृहस्थी परस्पर परामर्श कर रहे हैं कि पितरों ने यथेच्छ भोजन द्वारा अपने ापको आनन्दित तथा तृप्त कर लिया है। यह परामर्श उस समय होता है जब कि पितर पना २ भोजन समाप्त कर चुकते हैं।

इस मन्त्र का वर्णन केवल जीवित पितरों के सम्बन्ध में ही समुचित हो सकता है।

मो वः पितरो रसाय, नमो वः पितरः शोषाय, नमो वः पितरो जीवाय, नमो वः पितरः स्वधायै, मो वः पितरो घोराय, नमो वः पितरो मन्यवे, नमो वः पितरः, पितरो नमो वो, हान्नः पितरो दत्त, सतो वः पितरो देष्मै—तद्वः पितरो वास, आधत्त॥ यजु. अ. २, मं. ३२।

"हे पितरो! तुम हमारी समाज के जीवन के लिये रस रूप हो हम तुम्हारे इस रस प के प्रति नमस्कार करते हैं; झुकते हैं, हे पितरो! तुम हमारे पापों और दुष्कर्मों का शोषण रने वाले हो तुम्हारे इस शोषणरूप के प्रति नमस्कार हो; हे पितरो! तुम हमें उपदेशों द्वारा वनदान करते हो तुम्हारे इस जीव रूप के प्रति नमस्कार हो; हे पितरो। तुम हमें सात्विक त्रों के सेवन का उपदेश करते हो तुम्हारे स्वधारूप के प्रति नमस्कार हो; हे पितरो! दुष्टों और ौर दुष्टभावों के प्रति तुम घोररूप हो तुम्हारे इस घोररूप के प्रति नमस्कार हो; हे पितरो! तुम ात्विक क्रोध करने वाले हो तुम्हारे इस मन्युरूप के प्रति नमस्कार हो; नमस्कार हो तुम्हें हे तरो! हे पितरो: नमस्कार हो तुम्हें; हे पितरो! वानप्रस्थी हो जाने पर या संन्यासी हो जाने पर म हमें घर दे दो, हमें घरों का उत्तराधिकारी बनादो, "सतः" अर्थात् जब तक तुम जीवित ोगे तब तक तुमको हे पितरो! हम देते रहेंगे; हे पितरो! तुम्हारे प्रति वस्त्रों का यह

समर्पण है, आप इन्हें पहनिये"।

इस मन्त्र में "पितर" समाज के प्रति कितने उपकारी हैं इसका वर्णन कर अन्त में पितरों से उनके पुत्र-पौत्र जायदाद का उत्तराधिकार मांगते हैं, और साथ ही पितरों को आश्वासन देते हैं कि आप जब तक जीवित रहेंगे आप को हम सब जीवन सामग्री देते रहें तथा वस्त्र आदि देते रहेंगे। वस्त्र देकर पुत्र-पौत्र पितरों के प्रति कहते हैं कि "आधत्त", इन वस्त्रों का आधान कर लीजिये, इन्हें पहन लीजिये। यह समग्र वर्णन मृत पितरों में कभी चरितार्थ नहीं हो सकता।

आधत्त पितरो गर्भं कुमारं पुष्करस्रजम्। यथेह पुरुषोऽसत्॥ यजु. अ. २, मं. ३३।

"हे गुरु पितरो! तुम इस कुमार को—जिसे कि हमने प्रसन्नता से कमल माला पहनाई है—अपने गुरुकुल में इस प्रकार रखो जैसे कि माता गर्भ को अपने उदर में रखती है, ताकि यह पौरुष शक्ति से सम्पन्न होकर गुरुकुल-माता से उत्पन्न हो"।

क्या मृत पितर गुरुकुलों के आचार्य हो सकते हैं और वे नवप्रविष्ट बालकों की ऐसी सुरक्षा कर सकते हैं जैसे कि माता अपने उदरस्थ बालक की सुरक्षा करती है।

(८)

यजुर्वेद के १६ वें अध्याय में भी पितरों का वर्णन है। इस अध्याय के भी कतिपय उद्धरणों का यहां उल्लेख किया जाता है। यथा:—

पितृभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः पितामहेभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः प्रपितामहेभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः। अक्षन् पितरोऽमीमदन्त पितरोऽतीतृपन्त पितरः पितरः शुन्धध्वम्। यजु. अ. १६, मं. ३६॥

"स्वधा अन्न का सेवन करने वाले पितरों के प्रति "स्वधा" अन्न हम देते हैं और नमस्कार करते हैं, स्वधा अन्न का सेवन करने वाले पितामहों के प्रति स्वधा अन्न हम देते हैं और नमस्कार करते हैं स्वधा अन्न का सेवन करने वाले प्रपितामहों के प्रति स्वधा अन्न हम देते हैं और नमस्कार करते हैं। पितरों ने भोजन कर लिया है, पितर प्रसन्न तथा सन्तुष्ट हो गये हैं, पितर तृप्त हो गये हैं, हे पितरो! (भोजन कर चुकने पर जल से हाथ आदि की शुद्धि द्वारा) शुद्ध होओ"।

पितरों के प्रति उनके सेवन योग्य सात्त्विक भोजन देकर उन्हें तृप्त करना तथा भोजन के उपरान्त जल द्वारा उनके हाथ आदि को शुद्ध कराना कभी भी मृत पितरों में सम्भव नहीं है।

साथ ही यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि इस मन्त्र में केवल तीन पितरों का ही वर्णन है। पौराणिक पद्धति में भी तीन ही पितरों के सम्बन्ध में पितृयज्ञ के करने की परिपाटी है। ये तीन पितर हैं पिता, पितामह तथा प्रपितामह, अर्थात् पिता, दादा परदादा। यह क्यों? पितृयज्ञ जीवित पितरों के सम्बन्ध में होता है,—इस सिद्धान्त में तो इस प्रश्न का हल सुलभ है। परन्तु मृतपितरों के सम्बन्ध में इस प्रश्न का कोई समुचित समाधान नहीं मिल सकता। मनुस्मृति में कहा है कि गृहस्थ पुरुष पंच महायज्ञों का अधिकारी है। पंच महा-

ज्ञों में पितृयज्ञ का भी समावेश है। वैदिक विधि के अनुसार वसु ब्रह्मचर्य समाप्त करने पर व ब्रह्मचारी गृहस्थ में प्रवेश करेगा तो उसकी आयु उस समय २४ वें वर्ष की समाप्ति पर गी। एक वर्ष के भीतर सन्तान का उत्पन्न होना भी सम्भव हो जायगा। इस समय नव-हस्थी की आयु २५ वें वर्ष की समाप्ति पर होगी। मनुस्मृति में लिखा है कि :—

अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यं समाविशेत्।

अर्थात् सन्तान की जब सन्तान हो जाय, तब वानप्रस्थ धारण करना चाहिये।

जब नवगृहस्थी की आयु २५ वर्षों की होगी तब इसके पिता की आयु ५० वर्षों ी होगी, और पितामह की ७५ वर्ष की और प्रपितामह की १०० वर्षों की। वेदों में मनुष्य ी औसतन आयु १०० वर्षों की ही कही गई है। यथा :—जीवेम शरदः शतम्।

इस प्रकार वैदिक प्रथा के अनुसार जब पुत्र पंच महायज्ञों में पितृयज्ञ के करने का धिकारी होता है तब वैदिक औसतन आयु के अनुसार नवगृहस्थी के पिता, पितामह और पितामह का जीवित होना अधिक सम्भावित है। प्रपितामह के पूर्वजों का जीवित रहना धिक सम्भावित नहीं। इसीलिये पितृयज्ञ में तीन पूर्वजों को ही अन्नदान की तथा उनकी वा की प्रथा रखी गई है। यदि पितृयज्ञ मृत पितरों के सम्बन्ध में करना वेद को अभीष्ट ोता तो पितृयज्ञ में पिता, पितामह और प्रपितामह का नाम न लेकर इनके स्थान में इनके र्वजों का नाम लेना चाहिये था, जिनके कि मृत हो चुकने की सम्भावना अधिक है। परन्तु वेधि भाग में ऐसा नहीं है। इससे स्पष्ट परिणाम निकलता है कि वैदिक विधि में केवल जीवित पितरों का ही पितृयज्ञ में यजन करने का विधान है।

उदीरतामवर उत्परास उन्मध्यमाः पितरः सोम्यासः। असुं य ईयुरवृका ऋतज्ञास्ते नोऽवन्तु पितरो हवेषु ॥ यजुः अ. १६ मं. ४६॥

"अवर, पर और मध्यम पितर,—जिन्हों ने कि सोमव्रत लिया है, जिन्होंने अपने वीर्य की सुरक्षा का व्रत लिया है,—वे हमें प्रवचन करें। जो कि सोमव्रत के कारण एक नई प्राण शक्ति को प्राप्त हुए हैं, जो वृक अर्थात् भेड़िये की न्याईं क्रोध करने वाले नहीं हैं, जो सत्य के ज्ञाता हैं, वे पितर हमारे बुलाने पर हमारी रक्षा करें"।

ऊपर के तीन प्रकार के पितरों को अर्थात् पिता, पितामह और प्रपितामह को इस मन्त्र में अवर आदि शब्द द्वारा स्मरण किया गया है। अवर का अर्थ है छोटी उम्र वाले अर्थात् पिता, पर का अर्थ है बड़ी उम्र वाले अर्थात् प्रपितामह तथा मध्यम का अर्थ है मंझली उम्र वाले अर्थात् पितामह। ये तीनों गृहस्थ जीवन छोड़ने के पश्चात् पुनः ब्रह्मचर्य व्रत का धारण करते हैं—इसलिये इन्हें "सोम्यासः" कहा गया है। वेद की परिभाषा में सोम शब्द का अर्थ वीर्य भी होता है। अंग्रेजी का "semen" शब्द "सोम" शब्द का ही अपभ्रंश प्रतीत होता है वेद के सोम शब्द का पूर्वरूप "सोमन्" है जो कि "semen" के साथ अधिक सादृश्य रखता है। इस मन्त्र के अर्थ पर भी विचार करने से यही परिणाम निकलता है कि पितृयज्ञ में जीवित पितरों का ही सम्बन्ध है।

अपने पक्ष की पुष्टि में यजुर्वेद के निम्नलिखित प्रमाण और दिये जाते हैं। यथा :—

बर्हिषद: पितर ऊत्यर्वागिमा वो हव्या चकृमा जुषध्वम्। त आगतावसा शन्तमेनाथा न: शंयोररपो दधात
॥ यजु: अ. १६, मं. ५५॥

"वन में रहने वाले पितर हमारी रक्षा करने के लिये हमारी ओर आए हैं (हमारे घरों में आरहे हैं), हे पितरो ! तुम्हें हम ये खाने के पदार्थ देते हैं, प्रीति से इनका सेवन करो। वे पितर अपनी शान्तिमयी रक्षा के साथ आए हैं, तुम आकर हमें शांति दो, भावी दु:खों से हमारी रक्षा करो, और हमें निष्पाप बनाओ"।

उपहूता: पितर: सोम्यास: बर्हिष्येषु निधिषु प्रियेषु। त आगमन्तु त इह श्रुवन्त्वधिब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान॥
यजु: अ. १६. मं. ५७

"सोमव्रती पितर—जो कि अपने वनस्थ के प्रिय खजानों (अर्थात् ज्ञान, ध्यान, तपस्या, विचार आदि) में विचरते हैं—श्रद्धा से बुलाए गये हैं। वे आवें, इस घर में आकर हमारे कथनों को सुनें, वे अधिकार पूर्वक हमें उपदेश दें वे हमारी रक्षा करें"।

आच्या जानु दक्षिणतो निषद्येमं यज्ञमभि गृणीत विश्वे। मा हिंसिष्ट पितर: केनचिन्नो यद्व आग: पुरुषता कराम॥
यजु: अ. १६, मं. ६२॥

"हे पितरो ! अपने घुटने टेक कर और दक्षिण दिशा में (बिछाए आसनों पर) बैठ कर इस पितृयज्ञ में हमें उपदेश दीजिये। हे पितरो ! किसी भी अपराध के कारण हमारी हिंसा न करो जिस अपराध को तुम्हारे प्रति हमने पुरुष सुलभ भ्रम के कारण किया है" अर्थात पितृयज्ञ में सत्कार आदि की न्यूनता आदि के कारण जो अपराध हम से हो गया है"।

आसीनासोऽरुणीनामुपस्थे रयिं धत्त दाशुषे मर्त्याय। पुत्रेभ्य: पितरस्तस्य वस्व: प्रयच्छत त इहोर्जं दधात
यजु. अ. १६, मं. ६३॥

"हे पितरो ! किरणों की गोद में अर्थात् वानप्रस्थ आश्रम आदि में खुली हवा और खुली किरण की गोद मे बैठ कर तुम लोग अपने दानी-भक्तों के प्रति अपने उपदेशरत्नों का प्रदान किया करो। हे पितरो ! अपने पुत्रों के प्रति उनके उत्तराधिकार रूप में उन्हें जो धन मिलता है वह वह उन्हें दे दो"।

इदं पितृभ्यो नमोऽअस्त्वद्य ये पूर्वासो य उ परास ईयु:। ये पार्थिवे रजस्यानिषत्ता ये वा नूनं सुवृजनासु विक्षु॥
यजु: अ. १६, मं. ६८॥

"आज अर्थात् पितृयज्ञ में हम पितरों के प्रति नमस्कार करते हैं, उन पितरों के प्रति जो कि हमारे पूर्वज हैं अर्थात् अवर रूप पूर्वज हैं, तथा उनसे भी परे के पूर्वज अर्थात् मध्यम और पराम पूर्वज हैं जो कि चले गये हैं, अर्थात् गृहस्थजीवन त्याग चुके हैं। तथा जो इस पार्थिक लोक में ही अभी तक स्थित है, अर्थात् जीवित है, और जो निश्चित रूप से अभी प्रजाजनों में ही विराजते हैं"।

ये मन्त्र स्पष्ट दर्शा रहे हैं कि पितृयज्ञ का वैदिक स्वरूप यही है कि जीवित पितरों की श्रद्धा से सेवा और शुश्रूषा करना, न कि मृत पितरों की।

जीवेश्वर प्रकृति भेद विषयक वैदिक सिद्धान्त
वेद और नवीन वेदान्त

[ले०—पं० धर्मदेव जी सिद्धान्तालङ्कार विद्यावाचस्पति, स० मन्त्री सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा देहली]

जीव और परमेश्वर के भेद और सम्बन्ध विषयक वैदिक सिद्धान्त को वैदिक धर्मोद्धारक शिरोमणि आचार्यवर महर्षि दयानन्द जी ने अपने अमरग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश के अन्त में दिये "स्वमन्तव्यामन्तव्य प्रकाश" में निम्न शब्दों में प्रकट किया है—

मन्तव्य ५—जीव और ईश्वर स्वरूप और वैधर्म्य से भिन्न और व्याप्य-व्यापक और साधर्म्य से अभिन्न हैं अर्थात् जैसे आकाश से मूर्तिमान् द्रव्य कभी भिन्न न था, न है, न होगा और न कभी एक था, न है, न होगा, इसी प्रकार परमेश्वर और जीव को व्याप्य-व्यापक, उपास्य उपासक, और पिता पुत्र इत्यादि सम्बन्ध युक्त मानता हूं।"

इस तथा अन्य मन्तव्यों के विषय में महर्षि दयानन्द जी ने स्वमन्तव्यामन्तव्य-प्रकाश में स्पष्ट लिख दिया है कि 'अब जो वेदादि सत्य शास्त्र और ब्रह्मा से लेकर जैमिनि मुनि पर्यन्तों के माने हुए ईश्वरादि पदार्थ हैं जिन को कि मैं भी मानता हू। सब सज्जन महाशयों के सामने प्रकाशित करता हूं। मैं अपना मन्तव्यामन्तव्य उसी को जानता हूं कि जो तीन काल में सब को एक सा मानने योग्य है।"

महर्षि दयानन्द जी द्वारा प्रतिपादित उपर्युक्त मन्तव्य पर मुख्यतः वेदों के आधार पर कुछ विचार इस लेख में करना चाहता हूं क्योंकि कोई भी आस्तिक वेदों के प्रामाण्य से इन्कार नहीं कर सकता। निम्नलिखित वेदमन्त्र इस विषय पर उत्तम प्रकाश डालते हैं।

(१) सब से प्रथम मैं उस सुप्रसिद्ध वेदमन्त्र का उल्लेख इस विषयक वैदिक सिद्धांत के प्रतिपादन करने के लिये करता हूँ जिसको महर्षि दयानन्द जी ने विशेष रूप से उद्धृत किया है तथा जो सर्वथा स्पष्ट है—

द्वा सुपर्णा सयुजासखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्न्यो अभिचाकशीति॥ ऋ० १।१६४।२०

इस मन्त्र का अर्थ ऋषि दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश में इस प्रकार किया है। जो उनके संस्कृत भाष्य का लगभग अक्षरशः अनुवाद है कि—(द्वा) जो ब्रह्म और जीव दोनों (सुपर्णा) चेतनता और पालनादि गुणों से सदृश (सयुजा) व्याप्य-व्यापक भाव से संयुक्त (सखाया) परस्पर मित्रतायुक्त अनादि हैं और (समानम्) वैसा ही (वृक्षम्) अनादि मूलरूप कारण और शाखारूप कार्य युक्त वृक्ष अर्थात् जो स्थूल होकर प्रलय में छिन्न भिन्न हो जाता है। वह तीसरा अनादि पदार्थ इन तीनों के गुण कर्म स्वभाव भी अनादि हैं। (तयोः अन्यः)

इन जीव और ब्रह्म में से एक जो जीव है वह इस वृक्ष रूप संसार में (पिप्पलम्) पाप पुण्य रूप फलों को (स्वाद्वत्ति) अच्छे प्रकार भोगता है और (अन्यः) दूसरा—परमात्मा (अनश्नन्) न भोगता हुआ (अभिचाकशीति) चारों ओर अर्थात् भीतर बाहर सर्वत्र प्रकाशमान हो रहा है। जीव से ईश्वर, ईश्वर से जीव और द॰ ॰ प्रकृति भिन्न स्वरूप, तीनों अनादि हैं।

मन्त्र का अर्थ सर्वथा स्पष्ट है और वह जीवेश्वर प्रकृति भेद का प्रतिपादक है इस में संदेह का कोई कारण नहीं।

मुण्डकोपनिषद् के तृतीय मुण्डक में इस वेद मन्त्र को उद्धृत करके इसी की व्याख्या के रूप में निम्न वचन दिया है जो बड़ा महत्त्वपूर्ण है—

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशम्, अस्यमहिमानमिति वीतशोकः॥ मुंडको० ३।२

अर्थात् अनादि नित्य होने से अपने समान प्रकृति रूप वृक्ष में फँसा हुआ जीव शरीर इन्द्रिय मन आदि पर अपने स्वामित्व को खोकर मोह अज्ञान वश शोक करने लग जाता है। किन्तु जब वह अपने से अन्य भिन्न आनन्दमय ईश्वर के दर्शन करता है और उसकी महिमा का चिन्तन करता है तब वह शोक रहित हो जाता है।

यहां भी जीव ईश्वर प्रकृति भेद का स्पष्ट प्रतिपादन है। इतना होने पर भी श्री शङ्कराचार्य और सायणाचार्य आदि ने उपर्युक्त वेदमंत्र और इस उपनिषत् के वचन को जिस खैंचातानी से जीवेश्वर अभेद परक लगाने का यत्न किया है उसे देखकर किसी भी निष्पक्षपात विचारक विद्वान् को आश्चर्य हुए बिना नहीं रह सकता। 'जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशम्' की व्याख्या में श्री शङ्कराचार्य जी लिखते हैं—

(जुष्टं) सेवित मनेकैर्योगमार्गैः कर्मभिश्च (यदा) यस्मिन् काले पश्यति ध्यायमानः (अन्यम्) वृक्षोपाधिलक्षणाद् विलक्षणम ईशम असंसारिणम् —ईशम्—सर्वस्य जगतोऽयम-हमस्म्यात्मा सर्वस्य समः सर्वभूतस्थः नेतरः अविद्या जनितोपाधिपरिच्छिन्नो मायात्मेति विभूतिं महिमानं च जगद् रूपम् अस्यैव मम परमेश्वरस्येति यदैवं द्रष्टा तदा वीतशोको भवति'

(मुंडकोपनिषद् भाष्ये)

यहां मैं सारे जगत का आत्मा और सब प्राणियों में स्थित हूँ न कि अविद्या जन्य उपाधि से परिच्छिन्न मायात्मा, यह जगत् मुझ परमात्मा का ही रूप है इत्यादि व्याख्या ऊपर उद्धृत वेदमन्त्र और उपनिषद् के वचन के सर्वथा प्रतिकूल और कपोल-कल्पित है। श्री सा॰णाचार्य ने 'द्वा सुपर्णा सयुजा' की व्याख्या में लिखा है कि यह मंत्र 'औपाधिक भेदं वास्तवाभेदं चापेदय प्रवृत्तः। —अनेन वास्तवभेदोऽपि निरस्तः। न च जीवस्य वस्तुत ईश्वरत्वे कथं जीवबुद्धया संसार शोकाविति वाच्यं तमो हि कृतत्वात्।

तस्माद् वस्तुत एक एव भेदस्तुमोहकृत इति प्रसिद्धम। अनुभवदशायां लौकिक बुद्धया भेदमभ्युपेत्योच्यते तयोरन्य इति। तस्मात् अवास्तवभेदमुपजीव्य तयोरन्य इत्युक्तम्। इत्यादि—

अर्थात् इस मन्त्र में अवास्तविक वा लौकिक बुद्धि से कल्पित जीव और ईश्वर के भेद को मान कर 'तयोरन्यः' इत्यादि कहा गया है । ईश्वर के अंदर शोकादि मोह के कारण है । वास्तव में जीव ईश्वर ही है । इत्यादि—

जो पाठक निष्पक्षपात दृष्टि से उपर्युक्त वेदमंत्र और उसी भाव के व्याख्यान रूप मुंडकोपनिषद् के वचन को पढ़ेंगे उन्हें स्पष्टतया ज्ञात हो जायगा कि वैदिक सिद्धांत जीव ईश्वर और प्रकृति के भेद का है । यहां उपाधि आदि की कल्पना का कहीं विधान नहीं जो नवीन वेदांत के ग्रन्थों में पीछे से की गई, पर जो शंका का समाधान करने में सर्वथा असमर्थ है । यदि वस्तुतः जीव परमात्मा से भिन्न नहीं है तो उस सर्व व्यापक, सर्वज्ञ सर्व शक्तिमान् परमात्मा को मोह—अज्ञान शोक दुःख आदि कैसे प्राप्त हो सकते हैं ? वह माया ब्रह्म से भिन्न है वा अभिन्न ? यदि भिन्न है तो अद्वैत न रहा ब्रह्म और माया दो चीज़ें माननी पड़ीं यदि भिन्न नहीं हैं तो वह ब्रह्म पर आक्रमण करके उसे शोक मोहादि में कैसे फँसा लेती है क्या वह ब्रह्म की अपेक्षा अधिक शक्तिशालिनी है ? उस माया का स्वरूप क्या है ? अनिर्वचनीय कह कर टालमटोल करने से कभी किसी का समाधान नहीं हो सकता । निम्न-लिखित वेद मन्त्र भी इस जीवेश्वर भेद तथा उनके संबन्ध का स्पष्ट प्रतिपादन करते हैं ।

(२) न तं विदाथ य इमा जजानान्यद् युष्माकमन्तरं बभूव ।
नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप उक्थ शासश्चरति ॥ ऋ० १०।८२।६ ·

अर्थात् हे जीवो ! तुम उस परमात्मा को नहीं जानते जिसने इन सब पदार्थों को उत्पन्न किया है वह ब्रह्म तुमसे (अन्यत) भिन्न किन्तु साथ ही (युष्माकम् अन्तरं बभूव) तुम्हारे अंदर है । तुम अज्ञानान्धकार से आवृत स्वार्थी तथा कपटी दंभी होने के कारण उस ब्रह्म को नहीं जानते ऐसा मन्त्र के उत्तरार्ध में बताया गया है । इस प्रकार मंत्र में जीवों का जिन्हें संबोधन किया जा रहा है, परमात्मा तथा सांसारिक पदार्थों से भेद सर्वथा स्पष्ट रूप में बताया गया है ।

बृहदारण्यकोपनिषत् के 'य आत्मनि तिष्ठन् आत्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरम् य आत्मनि तिष्ठन्नन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥

इत्यादि वचन इस मंत्र के व्याख्यान रूप प्रतीत होते हैं जिनमें कहा गया है कि जो परमात्मा आत्मा के अन्दर रहता हुआ भी आत्मा से भिन्न है जिसको अज्ञानी आत्मा नहीं जानता । आत्मा जिसके निपासार्थ मानो शरीर रूप है जो आत्मा में स्थित होकर सब को वश में रखता है वह हे गार्गि ! तुम्हारा अंतर्यामी अविनाशी आत्मा है ।

(३) जीवेश्वर का संबन्ध पिता और पुत्र का है ऐसा जो ऋषि दयानन्द जी ने लिखा है उसका आधार निम्न प्रकार के मन्त्रों पर है—

यो नो दाता स नः पिता महां उग्र ईशानकृत् ॥ ऋ० ८।५२।५

अर्थात् जो परमात्मा हमें अनेक प्रकार का दान देने वाला (विविध पदार्थ, शाश्वत

सुख, शांति तथा आनन्द के रूप में) है वही हमारा पिता है। वह सब से बड़ा है वह दुष्टों को दण्ड देने वाला है सब का स्वामी तथा सारे जगत् का कर्ता है।

(४) ऋषि दयानन्द ने जीव ईश्वर का संबन्ध जो उपासक उपास्य का लिखा है उस का आधार वेदों के निम्न प्रकार के सकड़ों मंत्रों में है—

युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः। वि होत्रा दधे वयुनाविदेक इन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः॥ यजु० ११।

इसमें कहा गया है कि (विप्राः) बुद्धिमान् लोग (बृहतः विपश्चितः) सबसे बड़े बुद्धिमान्—सर्वज्ञ भगवान् के साथ अपने (मनः युञ्जते) मन को मिलाते हैं (उत) और (धियः युञ्जते) अपनी बुद्धियों को मिलाते हैं। वह (एकः इत्) एक ही परमेश्वर (वयुनावित्) जीवों के सब कामों को जानने वाला (होत्रा विदधे) सब पदार्थों को बनाता और उन्हें धारण करता है उस (सवितुः देवस्य) सब को पैदा करने वाले सर्व प्रकाशक परमेश्वर की (महीपरिष्टुतिः) बड़ी भारी स्तुति वा महिमा है। यहां भी जीवों का परमेश्वर से भेद बताते हुए उन्हें उस एक परमेश्वर का उपासक कहा गया है।

(५) ऋ० ८।६५।२ के निम्न मंत्र में परमेश्वर को जीव रूप सनातन प्रजाओं का स्वामी बताया गया है जो उनके परस्पर भेद को स्पष्ट सिद्ध करता है—

त्वं हि शाश्वतीनां पती राजा विशामसि॥

अर्थात् हे परमेश्वर (त्वं हि) तू ही निश्चय से (शश्वतीनां प्रजानाम्) जीव रूप नित्य प्रजाओं का (पतिः असि) स्वामी है।

(६) निम्न सुप्रसिद्ध मन्त्र भी जीव ईश्वर भेद को अत्यन्त स्पष्टतया प्रमाणित करता है जहां भगवान से प्रार्थना की गई है कि—

इन्द्र क्रतुं न आभर पिता पुत्रेभ्यो यथा। शिक्षा णो अस्मिन् पुरुहूत यामनि जीवा ज्योतिरशीमहि॥

हे (इन्द्र) परमेश्वर (पिता पुत्रेभ्यः यथा) जिस प्रकार पिता पुत्र को उत्तम ज्ञान प्रदान करता है इस प्रकार तू (नः) हमें (क्रतुम् आ भर) उत्तम ज्ञान दे। हे (पुरुहूत) अनेक भक्तों द्वारा पुकारे गये प्रभु (अस्मिन् यामनि) इस मार्ग में (नः शिक्ष) हमें शिक्षा दे जिससे हम (जीवाः) जीव (ज्योतिः अशीमहि) ज्ञान ज्योति को प्राप्त करें।

(७) ऋ० ८।९६।९ का निम्न मंत्र भी जीव ईश्वर और प्रकृति तथा प्रकृति से उत्पन्न जगत् के भेद को स्पष्टतया प्रतिपादित करता है।

तमुष्टवाम य इमा जजान विश्वाजातान्यवराण्यस्मात्।
इन्द्रेण मित्रं दिधिषेम गीर्भिरुपो नमोभिर्वृषभं विशेम॥

इस मंत्र में कहा है कि हम (तम् उ स्तवाम) उस ईश्वर की स्तुति करें (यः इमा जजान) जिसने इन सब सूर्यादि पदार्थों को बनाया है (विश्वा जातानि अस्मात् अवराणि) ये उत्पन्न सब

इस परमेश्वर की अपेक्षा बहुत ही हीन हैं (इन्द्रेण) आत्मा के द्वारा हम (मित्रं दिधिपेम) सबके सच्चे मित्र परमेश्वर की स्तुति करें तथा (नमोभिः गीर्भिः) नमस्कार युक्त वाणियों से उस (वृषभम्) सुखों के वर्षक परमात्मा के (उप विशेम) समीप बैठ जाएं उसकी वास्तविक उपासना करें।

इस प्रकार वेद मंत्र, जीव ईश्वर और जगत् के भेद को बिल्कुल स्पष्ट शब्दों में प्रतिपादित करते हैं, जबकि नवीन वेदांत का मूल सिद्धांत ही इन शब्दों में बताया गया है कि

ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या, जीवो ब्रह्मैव नापरः।

अर्थात् ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या वा असत्य है और जीव ब्रह्म ही है उस से भिन्न नहीं। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि यह सिद्धांत ऊपर उद्धृत तथा अन्य अनेकों वेद मंत्रों की (जिन्हें विस्तार भय से इस छोटे से लेख में उद्धृत करना असंभव है) शिक्षा के सर्वथा विरुद्ध है।

वस्तुतः महर्षि व्यास प्रणीत वेदांत दर्शन के 'नेतरोऽनुपपत्तेः ॥१।१।१६

भेदव्यपदेशाच्च। १।१।१७॥ व्यपदेशाच्चान्यः (१।१।२१) अधिकं तु भेद व्यपदेशात् ॥ (२।१।२२) 'शारीरश्चोभयेऽपिहिभेदेनैनमधीयते (१।२।२०) —इत्यादि सूत्र स्पष्टतया जीव ब्रह्म का भेद सिद्ध करते हैं।

यदि इस पर यह कहा जाय कि ये जगत् के पदार्थ दिखाई तो अवश्य देते हैं, पर यह माया वा अविद्या के कारण हैं, वास्तव में यह सत्य नहीं है, तो यह बात भी वेद की शिक्षा के विरुद्ध है। उदाहरणार्थ ऋ० के निम्न वेद मन्त्रों को देखिए जहां परमात्मा को सत्यस्वरूप बताते हुए उसके कार्यों को भी सत्य बताया गया है।

(८) प्र घान्वस्य महतो महानि सत्या सत्यस्य करणानि वोचम्॥ ऋ० २।१५।१

अर्थात् (अस्य महतः सत्यस्य) इस महान सत्यस्वरूप ईश्वर के (करणानि) कार्य भी (महानि घ सत्या) महान और सत्य हैं यह मैं (प्र अनुवोचम्) प्रकृष्टता से स्पष्टतया वेदों के अनुसार कथन करता हूं।

(९) ऋ० ४।१७।६ में भी इसी बात को स्पष्टतया बताया गया है कि 'सत्रा सोमा अभवन्नस्य विश्वे सत्रा मदासो बृहतो मदिष्ठाः॥

अर्थात् (अस्य) इस परमेश्वर के (विश्वे सोमाः) सब उत्पादित पदार्थ और ऐश्वर्य—पु प्रसवैश्वर्ययोः—(सत्रा अभवत) सत्य हैं—वास्तविक हैं सत्रा इति सत्य नाम निघ० ३।१० (अस्य बृहतः) इस परमेश्वर के (मदासः) आनन्द दायक व मस्त करने वाले हैं।

(१०) ऋ० १०।५५।६ में भी कहा है कि—यच्चिकेत सत्यमित तन्न मोघं वसु स्पार्हमुत जेतोत दाता।

अर्थात् वह परमेश्वर (यत् चिकेत) जिस पदार्थ समूह व जगत को (चिकेत) संपूर्णतया जानता है वह (सत्यम्) इत् सत्य ही है (न मोघम्) व्यर्थ वा असत्य नहीं है। वह परमात्मा (स्पार्हम् वसु) वांछनीय उत्तम ऐश्वर्य को (जेता उत दाता) जीतने वाला और देने

वाला है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जगत् को मिथ्या वा असत्य मानने का सिद्धांत सर्वथा वेद विरुद्ध है —कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥

(यजु० ४०।८ में भी भगवान् ने अपनी जीव रूप सनातन प्रजा के लिये (याथातथ्यतः) यथार्थ वा सत्य रूप से पदार्थों को बनाया, ऐसा स्पष्ट बताया है जो जीव, ईश्वर, जगत् भेद का समर्थन करता है।

(११) यजु० ४० वें अध्याय का 'ओं क्रतोस्मर क्लिबेस्मर कृतꣳस्मर'।

जो अक्षरशः ईशोपनिषत् में उद्धृत किया गया है, जिस उपनिषत् को यजुर्वेद का अंतिम अध्याय होने के कारण प्रायः वेदांत के नाम से पुकारा जाता तथा अन्य सब उपनिषदों का आधार माना जाता है। यह मंत्र भी जीवेश्वर भेद का स्पष्ट प्रतिपादक है । यहां यह कहा गया है कि (क्रतो) कर्मशील पुरुषार्थी जीव ! (ओ३म् स्मर) सर्वरक्षक भगवान् का स्मरण कर (क्लिबे स्मर) शक्ति की प्राप्ति के लिए उस सर्वशक्तिमान् का स्मरण कर (कृतं स्मर) साथ २ अपने किये हुए कार्यों का आत्मनिरीक्षण द्वारा स्मरण कर।

(१२) नवीन वेदांती लोग ब्रह्म को जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण मानते हैं किंतु वेदों के—

एषा सनत्नी सनमेव जाता एषा पुराणी परि सर्वं बभूव। मही देव्युषसो विभाती सैकेनैकेन मिषता विचष्टे ॥ अथर्व १०।८।३०

इत्यादि मंत्रों में स्पष्टतया नित्य प्रकृति का वर्णन है और उसे ही सब पदार्थों की उत्पत्ति में उपादान कारण माना गया है। जैसे घड़े की उत्पत्ति में मिट्टी होती है । इसी प्रकृति का वेदों में 'अवि' (देखो—'अविर्वैनाम देवता ऋतेनास्ते परीवृता अ० १०।८।३१

'स्वधा' 'आप' अजा पिशंगिला (यजु० २३।५६)

आदि नामों से भी वर्णन करते हुए उसे जगत् का उपादान कारण बताया गया है जो सर्वथा युक्तियुक्त है। "कारण गुण पूर्वकः कार्य गुणो दृष्टः" इस दार्शनिक सिद्धांतानुसार जैसे कारण में गुण होते हैं वैसे ही कार्य में आते हैं। यदि चेतन ब्रह्म जगत का उपादान कारण हो तो जगत् भी वैसा ही होना चाहिए अतः ब्रह्म जगत् का कुम्हार की तरह निमित्तकारण है है, उपादान कारण नहीं। यही वैदिक सिद्धांत है। विस्तार भय से इस लेख को यहीं समाप्त किया जाता है। जो विस्तार से जानना चाहते हैं ; वे महर्षि दयानन्द कृत 'सत्यार्थप्रकाश' 'ऋग्वेदादि-भाष्यभूमिका' 'वेदांतिध्वान्तनिवारण' आदि तथा श्री पं० गङ्गाप्रसाद जी उपाध्याय कृत 'अद्वैतवाद 'I and my God' इत्यादि पुस्तकों को अवश्य पढ़ें।

———

क्या एकेश्वरवाद अवैदिक है

[ले०—श्री प्रो० रामनाथ वेदालङ्कार, गुरुकुल कांगड़ी]

भारत में बहुत समय से भिन्न २ देवी-देवताओं की पूजा चली आती है। यह तो एक प्रचलित विश्वास रहा कि ब्रह्मा, विष्णु और शिव ये तीन स्वतन्त्र देव हैं; ब्रह्मा जी जगत् को रचते हैं, विष्णु इसका पालन करते हैं और शिव जी संहार करते हैं। इसके अतिरिक्त भी सैंकड़ों देवी देवता हैं जो अपने-अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र हैं। उनकी पूजा करने से अर्घ्य, पत्र-पुष्प देने से वे प्रसन्न होते हैं और अपनी कृपा हम पर बनाये रखते हैं। 'सूर्य' देवता की पूजा आज भी होती है। लोगों का विश्वास है कि यदि सूर्य देव प्रकुपित हो जांय तो सूर्य का निकलना बंद हो जाये और हम अंधेरे में पड़े रहें। वृक्षों का एक स्वतन्त्र 'वनस्पति देवता' है; आज भी बहुतेरी अशिक्षित स्त्रियां पुत्र को पाने, पति की बीमारी दूर करने आदि के लिए भिन्न- २ वृक्षों की पूजा करती हैं। आज भी काली माई की पूजा होती है, शीतला देवी की पूजा होती है, गणेश की पूजा होती है। तो देखना यह है कि क्या यह बहुत से देवताओं की पूजा वेद मूलक है? क्या वेद में भी संसार को रचने वाले पालने पोसने वाले अनेक देव माने गए हैं? वेद हिन्दू मात्र की सब से प्रथम प्रामाणिक धर्म पुस्तक है। इस लिए इसका अनुसंधान होना ही चाहिए कि वेद इस विषय में क्या कहता है। महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने वेद पर अपनी लेखनी इसी लिये उठाई, स्थान २ पर लेख, व्याख्यान आदि से वेद की चर्चा वेद विषयक शास्त्रार्थ इसीलिए किए क्योंकि उन्होंने देखा कि प्रत्येक हिन्दू वेद पर अटल श्रद्धा रखता है, और वेद के नाम पर अनेक बुराईयां प्रचलित हैं। यदि किसी बुराई के विषय में उसे यह विश्वास हो जाय कि यह वेद विरुद्ध है तो उसे छोड़ने के लिए वह आसानी से तैयार हो सकता है। इसीलिए कोई मत या प्रचलित विश्वास वेदमूलक है या नहीं इस विचार का अपने आप में बहुत महत्व है। तो आइये जरा बारीक छानबीन करके देखें कि वेद बहुदेवतावादी है या एकदेवतावादी।

पूर्वपक्ष—वेदों में अनेक देवों का वर्णन

वेदों को शुरु से आखीर तक पढ़ जाइये। आप को सैंकड़ों देवों के नाम मिलेंगे, अनेक देवियों की स्तुति मिलेगी *। कहीं वेद 'अग्नि' देव की स्तुति कर रहा है तो दूसरी

* उदाहरणार्थ देखो ऋग्वेद के निम्न वचन—'मैं अग्नि की पूजा करता हूं, अग्निमीळे १।१।१"; "ओ वायु, तू आ, वायो आयाहि १।२।१"; "इन्द्र के गीत गाओ, इन्द्रमभि प्रगायत १.५.१"; इन्द्रं स्तोत, इन्द्र की स्तुति करो, ८.१६.१"; "मैं तो विष्णु की वीरताओं का वर्णन करता हूं, विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्रवोचम् १.१५४.१"; अरे भाई, इस मित्र देव को नमस्कार करना चाहिए, अयं मित्रो नमस्य: ३.५६.४"; "हम तो सविता के तेज का ध्यान करते हैं, तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि ३.६२.६०|'; 'रुद्र हमारी पुकार को सुने, शृणोतु नो हवं रुद्रः १.११४.११"; "हे

जगह वह 'वायु' देव को पुकार रहा है । कहीं 'मित्र' देवता की पूजा है तो दूसरे स्थान 'वरुण' की पूजा है।

वेद का स्रोता कभी भक्ति की तरंग में आकर 'इन्द्र' के गीत गा रहा है तो कभी 'विष्णु' की अराधना करता दिखाई देता है । कहीं वह 'प्रजापति' को बुला रहा है तो व 'सविता' की खुशामद कर रहा है । कभी 'प्रजापति' को बुला रहा है तो कभी 'रुद्र' देवता रिझा रहा है । कहीं 'अश्विनौ' की पुकार मचाई गई है तो कहीं 'मरुत' देवों की तारीफ सूक्त के सूक्त लिख लिख दिये गये हैं । कहीं वेद मौत के देवता 'यम' से प्रार्थनाएं कर है तो कहीं 'पूषा' के आगे फरियाद लिये खड़ा है । और भी मित्र, वरुण, अर्यमा, बृहस्प ब्रह्मणस्पति, वास्तोष्पति, त्वष्टा, सूर्य, भग, पर्जन्य, वैश्वानर, जातवेदाः, आपः आदि सैक देवता वेद की स्तुति के पात्र बने हैं । कई पौराणिक देवता भी वेद में वैसे के वैसे मि हैं । वामनावतार लेकर अपने कदमों से त्रिलोकी को माप लेने वाले 'विष्णु' के दर्शन वेद भी होते हैं१ । अपने भाल-प्रदेश में तीसरे नेत्र को रखने वाले और इसीलिए तीन होने के कारण 'त्र्यम्बक' कहाने वाले शिव जी भी इसी 'त्र्यम्बक२' नाम से वेद में दिख देते हैं । 'पशुपति' कहलाने वाले 'रुद्र३' की झांकी भी वेद में मिलती है है । 'शची' के प 'इन्द्र' देव४ भी वेद में पूरी सजधज से वेद में विद्यमान हैं । यहां तक कि इन्द्र वृत्र युद्ध का कथानक और इन्द्र के शतक्रतु होने का वर्णन भी वेद में वैसा का वैसा मौ है५ । देवताओं के कारीगर 'विश्वकर्मा६' तथा 'त्वष्टा७' और देव-वैद्य 'अश्विनौ८' को आप वेद के सूक्तों में विराजमान पायेंगे । सुरों के आचार्य 'बृहस्पति९' भी वेद में हैं और ग पति गणेश१० भी आप को वेद में मिलेंगे ।

वरुण. तू हमारा इस प्रार्थना को सुन, इमं मे वरुण श्रुधा हवम् १.२५.१६"; "तू हमारी हे सो रक्षा कर, त्वं नः सोम विश्वतो रक्ष १.९१.८" ।

१. "इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा विदधे पदम्" ऋ० १.२२.१७, यजु० ५.१५.
या "यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेषु—अधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा" ऋ० १.१५४.२

२. "त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्" ऋ० ७.५६.१२, यजु० ३.६०, अथर्व १४.१७

३. "रुद्रं पशुपतिश्च यः" अथर्व ११.७.६; रुद्र के वर्णन में ऋ० १.११४;२.३३ आदि भी दे

४. "शच्याः पतिस्त्वमिन्द्रासि" अथर्व १३.४.४७

५. ' अहन् वृत्रं वृत्रतरं व्यंसमिन्द्रो वज्रेण महता वधेन" ऋ० १.३२.५ आदि मन्त्रों में इ वृत्र का युद्ध स्थान-स्थान पर मिलता है । इन्द्र के लिये शतक्रतु सम्बोधन भी अनेकों स्थानों में आ है, जैसे "त्वाँ स्तोमा अवीवृधन् त्वामुक्था शतक्रतो" ऋ० १.५.८

६. देखो ऋ० १०।८१ ८२

७. "इह त्वष्टा सुजनिमा सजोषा दीर्घमायुः करति जीवसे वः" १०.१८.६; १०.१७आदिभी दे

८. "त्रिर्नो अश्विना दिव्यानि भेषजा त्रिः पार्थिवानि त्रिरु दत्तमद्भ्यः" ऋ० १.३४.६

९. देखो ऋ० ६.७३; २.२३.१६ आदि

१०. "गणानां त्वा गणपतिं हवामहे" ऋ० २.२३.१

स्त्री देवियां—इन पुल्लिंग देवों की तरह अनेक स्त्री देवियां भी वेद में आई हैं। वेद वर्णनों से मालूम होता है कि हर एक देव के साथ उसकी एक-एक पत्नी भी है। उदाहरणार्थ थर्व ११-६-१६ में पाप-मोचन की प्रार्थना करते हुए कहा है—"विश्वान् देवानिदं ब्रूमः यसन्धानृतावृधः। विश्वाभिः पत्नीभिः सह ते नो मुञ्चन्त्वंहसः" अर्थात सब देवों से हम विनति ते हैं कि वे अपनी-अपनी पत्नियों के साथ मिल कर हमें पाप से छुड़ायें। जैसे पुराणों में द्र की पत्नी शची है, विष्णु की लक्ष्मी है, महादेव जी की पार्वती है, वैसे ही वेद में भी द्र की पत्नी शची या इन्द्राणी है, वरुण की पत्नी वरुणानी है, अग्नि की पत्नी अग्नायी रुद्र की पत्नी रोदसी है। ऋग् १-२२-१२ में सोम-पान के लिये इन देवियों को इस प्रकार ताया गया है, "इहेन्द्राणीमुपह्वये वरुणानीं स्वस्तये। अग्नायीं सोमपीतये"। जैसे भिन्न २ वों की पत्नियां हैं वैसे ही वेद में कई स्वतन्त्र देवियों की भी स्तुति पाई जाती है। "इळा रस्वती मही तिस्रो देवीर्मयोभुवः। बर्हिः सीदन्त्वस्रिधः ऋग् १-१३-६" इस प्रसिद्ध मन्त्र में ळा, सरस्वती और मही इन तीन देवियों का आवाहन किया गया है। मही के स्थान पर वेद दूसरा नाम भारती भी आता है। सब देवों की एक माता 'अदिति' देवी प्रसिद्ध ही है! गल की भी एक देवी 'अरण्यानी' मानी गई है। उषाकाल की देवी 'उषा' और रात की देवी ात्रि' भी वेद में स्थान २ पर वर्णित हुई है। 'उर्वशी' नाम की अप्सरा जिससे पौराणिक ाहित्य रञ्जित है, वेद में भी मिलती है। पुराणों की पार्वती और वेद की 'गौरी' भी संभवतः क ही हैं। इसी प्रकार पृथिवी, श्रद्धा, सरमा, अनुमति, राका, सिनीवाली, कुहू, यमी, सूर्या, ाकपायी, सरण्यू आदि अन्य अनेक देवियां भी वेद में मिलती हैं।

देवों के अंग, आयुध, वाहन आदि—वर्णन की शैली से ऐसा प्रतीत होता है कि वल यही नहीं कि वेद में अनेक देव उल्लिखित हुये हैं बल्कि वे शरीरधारी भी हैं। उनके ाहु, जिह्वा, मुख, कान, हाथ, मुट्ठी आदि अवयवों का वर्णन मिलता है। देखिये—"हे इन्द्र! री बाहुएँ बड़ी दर्शनीय हैं; तेरी मुट्ठी महान् है ऋग् ६-४७-८; ३-३०-५"। "हे सुन्दर जिह्वा ाले अग्नि देव! मधु का पान करा १-१४-७"; "हे सुनने वाले कानों से युक्त इन्द्र! मेरे ाह्वान को सुन १-१६-६"; सुनहरे हाथों वाले सविता को मैं पुकारता हूं १-२२-५"; "हे अग्ने! रे मुख चारों तरफ हैं, तू सर्वव्यापक है १-६७-६"। इसी प्रकार देवों के रथ, शस्त्रास्त्र आदि ा वर्णन भी वेद में आया है। रथ तो प्रायः सभी देवों के पास है। स्तोता स्तुति करता हुआ वों से कहता है कि झट से तुम अपने रथ पर चढ़ कर मेरे पास आ जाओ। भिन्न २ देवों े पास अपने २ आयुध भी हैं। त्वष्टा के पास कुल्हाड़ी या परशु (वाशी) है, इन्द्र के पास ज्र है, रुद्र के पास भी एक नोकीला शस्त्र (तिग्म आयुध) है, पूषा के पास सोने की ुल्हाड़ी (हिरण्यवाशी) और आरी (ब्रह्मचोदनी आरा) है। वेद के देवता कवच भी पहनते ैं। जैसे वरुण के पास सोने का कवच (द्रापिं हिरण्यम्) है। पुराणों में भिन्न २ देवों के ाहनों का वर्णन आता है, वहां विष्णु का वाहन गरुड़ है, ब्रह्मा का हंस है, शिव का वाहन

नन्दी बैल है, वरुण का शिशुमार है, धर्मराज का वाहन भैंसा (महिष) है, देवराज का वा
एक बड़ा हाथी (महागज) है, अश्विदेवों के वाहन घोड़े (हय) हैं। वैसे ही वेद में भी अने
देवों के अपने अपने वाहन हैं । जैसे इन्द्र के वाहन 'हरी' हैं, अग्नि के 'रोहित' हैं, अश्वि
के वाहन गधे (रासभ) हैं, पूषा के वाहन बकरियां (अजाः) हैं। *भिन्न २ देवों के वा
अलग अलग होना यह भी इसी बात को बताता है कि वे सब देव अलग अलग हैं और अल
अलग सवारियों पर चढ़ते हैं, और इस प्रकार वेद में एक देव नहीं बल्कि अनेक देव प्र
पादित हुये हैं ।

देवों की संख्या—इसकी पुष्टि के लिये एक अत्यन्त स्पष्ट प्रमाण यह भी है कि व
में देवों की संख्या अनेक कही गई है। वेद ने बहुत से स्थलों में यह संख्या ३३ बताई गई है
जैसे, "इति स्तुनासो असथ रिशादसो ये स्थ त्रयश्च त्रिंशच्च मनोर्देवा यज्ञियासः, ऋग् ८.३०.
अर्थात् हे पूजनीय देवो ! जो संख्या में तेंतीस हो वे तुम स्तुति पाकर मनुष्य के रक्षक होते हो
कई स्थानों पर इस तेतीस की संख्या को इस प्रकार भी विभक्त किया गया है कि इनमें से १
देव पृथिवी पर, ११ अन्तरिक्ष में और ११ द्युलोक में हैं। दूसरी जगह इस संख्या को बढ़ाव
बहुत विस्तृत कर दिया गया है, तीन हजार तीन सौ उनतालीस, "त्रीणि शतानि सहस्राण्यं
त्रिंशच्च देवा नव चासपर्यन्, ऋग् ३. ६. ६. ।" कुछ भी हो, इससे यह तो प्रतीत होता ही है
वेद की दृष्टि में एक नहीं किन्तु अनेक देवता हैं, फिर उनकी निश्चित संख्या चाहे कुछ भी हो

एक कल्पना–वेद के देवता प्राकृतिक शक्तियां हैं

अभी हमने देखा है कि वेद में नाना देवों का वर्णन आता है। तो ये देव क्या हैं
इन देवों में कई तो स्पष्ट ही प्राकृतिक शक्तियां मालूम होते हैं। कहा जा सकता है कि वायु दे
यह चलने वाली हवा ही है, अग्नि देव आग है, सूर्य देव यह प्रकाश देने वाला सूरज है, रा
देवी रात है, उषा देवी उषाकाल के अतिरिक्त और कुछ नहीं है । इससे एक विचार यह उठ
है कि जैसे ये अग्नि, वायु, सूर्य आदि देव प्राकृतिक शक्तियों के वाचक हैं, वैसे ही वेद के अ
देव इन्द्र, मित्र, वरुण, अर्यमा, अश्विनौ आदि किन्हीं प्राकृतिक शक्तियों के ही द्योतक हो
चाहियें । प्रसिद्ध जर्मन स्कालर मैक्समूलर ने अपनी "धर्म का स्रोत" (The origin o
religion) नामक पुस्तक में यही कल्पना की है । वह कहता है कि प्राचीन वैदिक युग के लो
प्राकृतिक दृश्यों को देख कर उन पर मुग्ध हो जाते थे और उमग में भर नाच नाच कर उन
गीत गाया करते थे । ये गीत ही वेदमन्त्र हैं और जिन प्राकृतिक शक्तियों को लक्ष्य करके
गाये गये हैं वे हैं, वेद के देवता। प्रभात काल में खिलती हुई उषा को देख कर प्राचीन ऋ

* यास्कीय निघण्टु में इन्हें इस प्रकार परिगणित किया गया है—'हरी इन्द्रस्य । रोहितोऽग्नेः हरित आदित्यस्य। रासभौ अश्विनोः । अजाः पूष्णः । पृषत्यो मरुताम् । अरुण्यो गाव उषसाम् । श्यावा सवितुः । विश्वरूपा बृहस्पतेः । नियुतो वायोः । निघ. १-१५"

,दित होकर चिल्ला उठते थे, "एता उत्या प्रत्यदृश्रन् पुरस्तात् ज्योतिर्यच्छन्तीरुषसो विभातीः,
ॠ् ६-७८-३म, ये देखो, सामने ज्योति प्रदान करती हुई चमकीली उषायें दिखाई देने लगी
।" रात्रि के बाद दैनिक सूर्योदय के अद्भुत दृश्य को देख कर सहसा उनके मुख से निकल
ता था, "तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्, यजुः ३६-२४", वह देखो, देवों के लिये
तकारी चमकीला प्रकाशक सूर्य उदित हो गया है। अग्नि होत्र में जब घृत की आहुति पाकर
ग्नि की ज्वालायें चमकती थीं तो वे उसकी स्तुति में गा उठते थे, "शुचिः पावक वन्द्योऽग्ने
दु विरोचसे त्वं घृतेभिराहुतः ऋग् २-७-५", हे अग्ने! घृत की आहुति पाकर तू कैसा चमक
ता है! वायु के शब्द को सुन कर वे आश्चर्यविमुग्ध होकर कहते थे, "घोषा इदस्य शृण्विरे
रूपम् ऋग् १०-१६८-४", देखो कैसा अद्भुत यह वायु-रथ है, इसका शब्द तो सुनाई देता
पर रूप नहीं दीखता। मैक्समूलर की इस कल्पना में से ऐतिहासिकता के अंश को निकाल
या जाये तो इसका सार यही है कि वेद के देवों से प्राकृतिक शक्तियों का ही महिमा-गान
या गया है।

निरुक्त व ब्राह्मणग्रन्थों का आधार—यास्काचार्य का निरुक्त और ब्राह्मणग्रन्थ भी
क्समूलर की इस कल्पना के आधार हुए हैं। निरुक्तकार ने वेद के सब देवों को पृथिवी,
न्तरिक्ष, द्यौ इन तीन स्थानों में बांट दिया है और प्रत्येक देवता को प्राकृतिक रूप देने का
न किया है। इस प्रकार उसके मत में अग्नि, वैश्वानर, जातवेदा, द्रविणोदा, सोम, आपः
ादि पृथिवी स्थानीय देवगण हैं; वायु, मित्र, वरुण, रुद्र, इन्द्र, पर्जन्य, यम आदि अन्तरिक्ष-
ानीय देव हैं; और अश्विनौ, उषा, सूर्य, सूर्या, पूषा, विष्णु, यम, सविता आदि द्युस्थानीय देव
। एवं वेद का रुद्र देवता मध्यमस्थानीय होने से गड़गड़ाने वाला बादल, बिजली या वायु ही
न कि पुराणोक्त चण्डिकापति शिव। विष्णु सूर्य है, न कि कोई पौराणिक देवता। 'यम'
। वायु का नाम है यह मौत का कोई विशेष देवता नहीं है। अश्विनौ दिन-रात द्यावापृथिवी,
र्य-चन्द्रमा, उत्तर रात्रि के पूर्वापरभाग, प्राणापान आदि युगलों को सूचित करते हैं, ये कोई
थाकथित देवताओं के वैद्य नहीं हैं। इसी प्रकार वेद के अन्य सब देव भी निरुक्तकार की दृष्टि
किन्हीं प्राकृतिक शक्तियों के ही नाम हैं। ब्राह्मणवाक्य भी भिन्न २ देवों को प्राकृतिक शक्तियों
ा रूप देते दिखाई पड़ते हैं। उनके मत में यह सूर्य ही सविता देव है, "असौ वाऽऽदित्यो
वः सविता"; यह बहने वाली हवा ही वायु है, "अयं वै वायुर्योऽयं पवते"; ये द्यावापृथिवी ही
ाश्विनौ हैं, "इमेह वै द्यावापृथिवी प्रत्यक्षमश्विनौ"; यह ताप देने वाला सूर्य ही इन्द्र है, "एष
वेन्द्रो य एष तपति", दिन-रात ही मित्र-वरुण हैं, "अहर्वै मित्रो रात्रिर्वरुणः"।

प्राकृतिक देवों के अंग आदि कैसे—यहां यह शंका स्वभावतः उठेगी कि यदि वेद
के भिन्न २ देव प्राकृतिक शक्तियां ही हैं तो उनके हाथ, पैर, आंख, नाक, कान आदि अंगों का
्या अभिप्राय है? इसके उत्तर में मेक्समूलर ने बड़ा अच्छा कहा है, "यदि वसिष्ठ, विश्वामित्र

या और ऋषि आज होते और उनसे हम पूछ पाते कि क्यों भाई, क्या तुम सचमुच यह मानते हो कि यह सुनहरा तेज का गोला सूर्य कोई मनुष्य जैसा शरीरधारी है जिसके हाथ-पैर हैं, हृदय है, फुस्फुस है, तो वे ऋषि निस्सन्देह हंस पड़ते और हमें कहते कि यद्यपि तुमने हमारी भाषा को समझ लिया है पर भाव को तुम नहीं समझ पाये"❋। अभिप्राय यह कि प्राकृतिक शक्तियों के हाथ-पैर आदि अंगों का वर्णन आलङ्कारिक है। वेद प्राकृतिक शक्तियों के अंगों का वर्णन करता है इसका अभिप्राय यह नहीं कि वह उन्हें कोई शरीरधारी चेतन मानता है। ज्वालायें ही अग्नि की जिह्वा या मुख हैं, सूर्य की किरणें ही सूर्य की बाहुएं हैं। इसी प्रकार अन्य देवों के विषय में समझना चाहिए। और जैसे अंगों का वर्णन आलङ्कारिक है वैसे ही उनके वाहन, रथ, कवच, आयुध आदि के वर्णन को भी आलङ्कारिक रूप में ही लेना चाहिए।

इस कल्पना की समीक्षा—वेद के देवता प्राकृतिक शक्तियां ही हैं, यह मैक्समूलर की कल्पना अभी हमने प्रस्तुत की है। कहां तक यह मान्य है और किन अंशों में मान्य नहीं है? यह तो ठीक है कि इससे इस भ्रम का निवारण हो जाता है कि वेद के देवता भिन्न २ ईश्वर हैं और वेद में नाना ईश्वरों की पूजा का विधान है, पर इसमें दोष यह है कि यह एक पक्षी है। क्योंकि इसके अनुसार देवता केवल प्राकृतिक शक्तियों के ही वाचक रह जाते हैं, उनका और कोई अर्थ नहीं रहता। यदि स्थापना यह होती कि वेद के देवता प्राकृतिक शक्तियों के 'भी' वाचक हैं न कि प्राकृतिक शक्तियों के 'ही' तब यह कल्पना उपादेय हो सकती थी। क्योंकि तब इसका अभिप्राय यह होता कि देव प्राकृतिक शक्तियों के वाचक भी हैं और साथ २ उनके अन्य अर्थ भी हैं। वेद के देव अनेक अर्थों में प्रयुक्त हुए हैं। उनके आध्यात्मिक, आधिदैविक, राजनैतिक आदि भिन्न-भिन्न अर्थ होते हैं, यह ब्राह्मणग्रन्थ, उपनिषद आदि वैदिक साहित्य से स्पष्ट है। और कहीं २ वेद स्वयं भी इस विषय में प्रमाण है। उदाहरण के लिए 'सोम' के अनेक अर्थ बताते हुए वेद कहता है—"सोमेनाऽऽदित्या बलिन: सोमेन पृथिवी मही। अथो न नक्षत्राणामेषामुपस्थे सोम आहित: ॥ ऋग् १०-८५-२" अर्थात् एक वीर्य रूपी सोम है जिससे आदित्य ब्रह्मचारी बली बनते हैं, एक सोम-लता रूपी सोम है जिससे भूमि महिमा-शाली बनी है, तीसरा सोम चन्द्रमा है जो कि नक्षत्रों के बीच में स्थित है। साथ ही अन्य कई मन्त्रों से स्पष्ट है कि गोदुग्ध और मधुर जल को भी सोम कहते हैं और रसमय परमेश्वर का नाम भी सोम है। शतपथ आदि ब्राह्मणग्रन्थों में भी "रेतो वै सोम:", "प्राणो वै सोम:" आदि वचनों से सोम के भिन्न २ अर्थ बताए हैं। यह ठीक है कि ब्राह्मणग्रन्थों ने देवों के प्रकृतिपरक

❋"If we could ask वसिष्ठ or विश्वामित्र or any of the old Aryan poets, whether they really thought that sun, the golden ball which they saw was a man with legs and arms with a heart and lungs, teey would no doubt laugh at us and tell us, that though we understand their language we did not understand their thoughts". Origin of Religion, P. 281.

अर्थ भी किए हैं, पर साथ २ दूसरे अर्थ भी वहां बताये गये हैं। निरुक्तकार यास्क ने भी प्राकृतिक अर्थों के साथ-साथ कहीं-कहीं आध्यात्मिक आदि अन्य अर्थ भी दिखाये हैं। मुख्यत: प्राकृतिक अर्थ उसने इसलिये किए हैं क्योंकि वह प्रधानत: इसी उद्देश्य को लेकर चला है, न कि इसलिए कि अन्य अर्थों से वह इन्कार करता है। उदाहरणार्थ, सोम का अर्थ वह चन्द्रमा और सोमलता भी करता है, और साथ ही परमात्मा या आत्मा भी। अग्नि का अर्थ उसने यज्ञाग्नि भी किया है और परमात्मा भी। पर पूर्वोक्त कल्पना प्रकृति भिन्न सब अर्थों का बहिष्कार कर देती है, इसलिये एक पक्षी होने से यह कल्पना पूरी तौर से मान्य नहीं हो सकती। साथ ही यह जिस ऐतिहासिकता के विचार को लेकर चली है वह भी निरा काल्पनिक होने से सर्वमान्य नहीं हो सकता।

दूसरी कल्पना—अभिमानी देवतावाद

वेद के नाना देवों की व्याख्या के लिये एक और कल्पना की गई है, वह है अभिमानी देवता की कल्पना। मैकडानल अपनी पुस्तक 'संस्कृत लिट्रेचर' में लिखते हैं, 'ऋषियों ने देखा कि मानव जीवन में प्रत्येक क्रिया चेतन द्वारा होती है, अत: उन्होंने परिणाम निकाला कि प्रकृति की प्रत्येक क्रिया भी चेतन द्वारा ही होनी चाहिए। पर एक चेतन सत्ता है जो सब क्रियाओं को कराती है इस विचार तक वे नहीं पहुँचे। अग्नि, वायु आदि प्रत्येक के पीछे उन्होंने उसकी अधिष्ठात्री पृथक २ देवता की कल्पना कर ली। और उस देवता के अपने समान आकृति अंग-प्रत्यंग, रथ, घोड़े, खान पान-सामग्री आदि भी कल्पित कर लिये'। जहां मैक्समूलर पूर्वोक्त कल्पना के अनुसार 'अग्नि' को आग-मात्र और आदित्य को प्राकृतिक सूर्य-मात्र समझता है वहां मैकडानल वेद के 'अग्नि' को आग नहीं बल्कि आग का अधिष्ठातृ देव मानता है, 'आदित्य' को सूर्य नहीं किन्तु सूर्य का एक चेतन अधिष्ठातृदेव समझता है। इस प्रकार प्रकृति के पदार्थों के अपने-अपने स्वतन्त्र अधिष्ठातृदेव हैं। वेद उन्हीं देवों की स्तुति कर रहे हैं। प्रसिद्ध वेद भाष्यकार सायणाचार्य ने भी अभिमानी देवता की कल्पना को ही स्वीकार किया है। वेदों में औषधि, पाषाण, अग्नि आदि जड़ पदार्थों में चेतन की तरह स्तुति क्यों की गई है इस शंका का उत्तर वह यह देते हैं कि वहां उन-उन अचेतन पदार्थों के नाम से उनके अधिष्ठाता चेतन देवता की ही स्तुति समझनी ही चाहिए। इस प्रकार यदि वेद में प्रत्येक पदार्थ के भिन्न २ अधिष्ठातृ देवता हैं तो फिर अनेक देवता सिद्ध होते हैं। और फिर हम उसी समस्या में आ पड़ते हैं कि वेद बहुत से देवताओं का वर्णन करता हुआ भी, एकेश्वरवादी कैसे हो सकता है। तो या तो बहुत से देवों के वर्णन के आधार पर हम यह मानें कि वेद अनेकेश्वरवादी हैं, नहीं तो एकेश्वरवादी सिद्ध करने के लिए

१ "सोम: पवते जनिता मतीनाम्"—सोम आत्माप्येतस्मादेव, इन्द्रियाणां जनितेत्यर्थः। अपि वा सर्वाभिर्विभूतिभिर्विभूततम आत्मेत्यात्मगतिमाचष्टे। निरु. परिशिष्ट.

२ "को अग्निमीले=क आत्मानं पूजयति" निरु. परिशिष्ट

हमें स्वयं वेद से ही ऐसे अनेक प्रमाण प्रस्तुत करने चाहिएं जिनमें यह कहा गया हो कि ब्रह्माण्ड का शासक एक ही है। और ऐसे प्रमाण मिल भी जावें तो फिर इस की संगति भी लगानी चाहिए कि कैसे एक तर्फ बहुत से देवता होते हुए भी ब्रह्माण्ड का शासक एक ही है।

एक ईश्वर में प्रमाण

तो आइये जरा परीक्षा करके देखें कि क्या वेद में कहीं ऐसा उल्लेख मिलता है कि जगत् का कोई एकच्छत्र राजा है। सचमुच इस विषयक प्रमाण वेद में बिखरे पड़े हैं। कुछ नमूने देखिए—

१. "पतिर्बभूव—असमो जनानामेको विश्वस्य भुवनस्य राजा, ऋ० ६.३६.४"; हे परमेश्वर (इन्द्र)! तू सब जनों का एक अद्वितीय स्वामी है, तू अकेला समस्त जगत् का राजा है।

२. "य एक इत् तमु ष्टुहि कृष्टीनां विचर्षणिः ऋ० ६.४५.१६", ओ मनुष्य! जो परमेश्वर एक ही है उसकी तू स्तुति कर, वह सब मनुष्यों का द्रष्टा है।

३. "द्यावाभूमी जनयन् देव एक, ऋ० १०.८१.३", विश्व को रचने वाला एक देव है जिसने आकाश और भूमि को जन्म दिया है।

४. "य एकश्चर्षणीनां वसूनामिरज्यति ऋ० १.७.६" जो एक ही सब मनुष्यों का और वसुओं का ईश्वर है।

५. "य एक इद् विदयते वसु मर्ताय दाशुषे ऋ० १.८४.६", जो एक ही है और दानी मनुष्य को धन प्रदान करता है।

६. "एक ईशान ओजसा, ऋ० ८.६.४१"; तू एक ही अपने पराक्रम से सब का ईश्वर बना हुआ है।

७. "य एक इद् हव्यश्चर्षणीनाम् ऋ० ६.२२.१"; जो एक ही है और मनुष्यों से पुकारने योग्य है।

८. नकिरिन्द्र त्वदुत्तरो न ज्यायाँ अस्ति वृत्रहन्। नकिर्देवा यथा त्वम्। ऋ० ४.३०.१ हे दुष्टों को दंड देने वाले परमेश्वर! तुझ से अधिक उत्कृष्ट और तुझ से बड़ा संसार में कोई नहीं है। न ही तेरी बराबरी का और कोई है।

९. "अनेजदेकं मनसोजवीयः, यजु० ४०.४", वह ईश्वर अचल है, एक है, मन से भी अधिक वेगवान् है।

१०. "मृडाद् गन्धर्वो भुवनस्य यस्पतिरेक एव नमस्यः सुशेवाः, अथर्व २.२.२' पृथिव्यादि लोकों का धारण करने वाला वह परमेश्वर हमें सुख देवे जो जगत् का स्वामी है, एक ही है, नमस्कार करने योग्य है, बहुत सुख देने वाला है।

११. "समेत विश्वे वचसा पतिं दिव एको विभूरतिथिर्जनानाम् अथर्व ६.२१.१', आओ सब मिल कर स्तुति वचनों से इस परमात्मा की पूजा करो जो आकाश का स्वामी है,

एक है, व्यापक है और हम मनुष्यों का अतिथि है।

१२. और सब से अंतिम किन्तु सब से प्रबल प्रमाण है—"न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते। न पञ्चमो न षष्ठः सप्तमो नाप्युच्यते। नाष्टमो न नवमो दशमो नाप्युच्यते। स सर्वस्मै विपश्यति यच्च प्राणति यच्च न। तमिदं निगतं सहः। स एष एक एकवृदेक एव। अथर्व १३.४ १६-२०", वह परमेश्वर एक है, एक है, एक ही है। उसके मुकाबले में कोई दूसरा, तीसरा, चौथा परमेश्वर नहीं है, पांचवां, छठा, सातवां नहीं है, आठवां, नौवां, दसवां नहीं है। वही एक परमेश्वर चेतन-अचेतन सबको देख रहा है।

इस प्रकार नमूने के तौर पर जो दर्जन प्रमाण हमने दिये हैं उनसे यह स्पष्ट है कि वेद के विचार में संसार का शासक ईश्वर एक ही है। इसके अतिरिक्त ऐसे मंत्र भी वेद में मिलते हैं जिनसे यह प्रतीत होता है कि अभिमानी देवता की कल्पना अर्थात् प्रत्येक वस्तु का अधिष्ठाता पृथक् २ ईश्वर मानने की कल्पना वेद को अभिमत नहीं है। यजुर्वेद का अन्तिम मंत्र है, "योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्, ओं खं ब्रह्म"। परमेश्वर अपना परिचय दे रहा है कि मेरा नाम ॐ है, मैं आकाशवत् व्यापक हूं, मैं ब्रह्म हूँ, जो तुम्हें अपनी कल्पना में आदित्य में पुरुष दिखाई देता है, वह म ही हूं। अभिप्राय यह है कि यह मत समझो कि आदित्य का कोई स्वतन्त्र अधिष्ठातृदेव है, वहां भी मेरी ही शक्ति काम कर रही है। इसी प्रकार प्रजापति परमेश्वर का वर्णन करता हुआ वेद कहता है—"त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी. यजुः ३२।५" वह सोलहों कलाओं से पूर्ण प्रजापति तीनों ज्योतियों—अग्नि, विद्युत्, सूर्य में समवेत हुआ २ है। इससे भी यही अभिप्राय निकलता है कि अग्नि, विद्युत्, सूर्य आदि का कोई स्वतन्त्र अभिमानी देवता नहीं है, किन्तु प्रजापति परमेश्वर ही उनमें बैठा हुआ कार्य कर रहा है।

समन्वय कैसे करें ? अनेकता में एकता

अब एक समस्या पैदा होती है। एक तरफ तो वेद मित्र, वरुण अर्यमा, अग्नि इन्द्र, अश्विनौ आदि नाना देवों की सत्ता की घोषणा करता है, दूसरी तरफ वह कहता है कि एक ही देव जगत् का ईश्वर है। तो इन परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाली बातों में समन्वय कैसे करें? एक दृष्टान्त लेते हैं। कोई परदेसी किसी अपरिचित देश मे पहुँचा, वहाँ के राजा थे उदयवीर। लोगों से उसने पूछा, यहाँ राजा कौन है ? लोगों ने कहा, महाराज उदयवीर। वह उसी देश के एक और प्रान्त में पहुँचा, वहाँ किसी ने बताया कि यहाँ वीरसिंह का राज्य है। तीसरे प्रान्त में पहुँचा, वहाँ उसने सुना कि प्रताप यहाँ के राजा हैं। यात्रा करते २ चौथे प्रान्त मे पहुचा, वहाँ के लक्ष्मीपति राजा का नाम सुनने मे आया। कई प्रान्तों मे वह घूमा, किसी ने तो उसे सीधा महाराज उदयवीर का नाम बताया, पर कहीं २ उसे अलग २ नाम सुनने को मिले। जिन्होंने उदयवीर नाम न बता कर और नाम बताये थे, उनका अभिप्राय अपने प्रान्त के शासक से था। पर वह यह नहीं समझ पाया। सोचने लगा कि आखिर इस देश का राजा है कौन ? सभी तो राजा हो नहीं सकते। एक तरफ तो उसे यह मालूम

था कि यहाँ का राजा एक ही है, दूसरी तरफ वह अनेक राजाओं के नाम सुन रहा था। वह समझा लोगों ने उससे हंसी की है। पर जब उसे रहस्य का पता लगा तब वह समझ गया कि असली महाराजा तो उदयवीर ही हैं, पर अन्य राजा उनके नीचे काम करने वाले प्रान्ताधिपति हैं। अपने देश का ही उदाहरण लीजिये। वस्तुत: तो भारत का एक ही राजा है, वही जो इंगलैंड का बादशाह है। पर तो भी कहा जाता है कि यहाँ अनेक राजा राज्य करते हैं। वायसराय भी यहाँ के राजा हैं, उनके अधीन प्रान्तों के गवर्नर भी अपने २ प्रान्त के राजा हैं। जिले के कलेक्टर अपने २ जिले के राजा हैं। साथ ही भारत में अनेक रियासतें हैं, हर रियासत का अपना २ राजा है। तो, जो कहता है कि भारत का एक राजा है वह भी ठीक है, और दूसरा जो यह कहता है कि भारत में बहुत से राजा हैं उसका कहना भी ठीक है। भेद यहाँ केवल दृष्टि का है। यही बात वेद के विषय में है। सब से बड़ा देवता एक परब्रह्म परमेश्वर है, अन्य नाना देवता उसके नीचे काम करने वाली शक्तियाँ हैं। यह हम देख चुके हैं कि किस प्रकार वैदिक साहित्य में अग्नि, वायु, इन्द्र, मित्र, यम आदि को भिन्न २ आध्यात्मिक, आधिदैविक या आधिभौतिक शक्तियाँ सिद्ध किया गया है। 'अग्नि' प्रकृति में आग है, शरीर में सङ्कल्पाग्नि है, राष्ट्र में सेनानी है, 'इन्द्र' प्रकृति में सूर्य या विद्युत् है, शरीर में आत्मा है, राष्ट्र में राजा है; 'मित्र' और 'वरुण' प्रकृति में दो वायुयें है, शरीर में प्राणापान हैं, राष्ट्र में दो अधिकारी हैं। दिव्य शक्तियाँ होने से ये सब देव हैं। इसलिये यद्यपि वस्तुतः इस जगत् का एक ही राजा है, तो भी अपने अपने क्षेत्र में भिन्न देव भी राज्य कर रहे हैं। परमेश्वर जो कि महादेव है, इन सब से ऊपर है। इसीलिए वेद में इस भाव के अनेकों मन्त्र मिलते हैं कि सब देव उस एक महादेव के अधीन हैं। जैसे, "तस्मिन् श्रयन्ते य उ के च देवा वृक्षस्य स्कन्धः परित इव शाखाः" अथर्व १०. ७. ३८, अर्थात् जैसे वृक्ष के तने के आश्रित सब शाखायें होती हैं वैसे ही उस परम देव के आश्रय में अन्य सब देव रहते हैं।

दूसरा समन्वय प्रकरण—एक के अनेक नाम

परन्तु यह भी हम देख चुके हैं कि मित्र, वरुण, इन्द्र आदि नाम केवल प्राकृतिक या जड़ शक्तियों के ही वाचक नहीं हैं। मन्त्रों के वर्णनों से स्पष्ट है कि वे किसी चेतन देवता की ओर भी संकेत करते हैं। तब यदि अनेक चेतन देव हैं तो इन अनेक देवों का एक देवता के सिद्धान्त के साथ समन्वय कैसे होगा? एक दृष्टान्त लीजिये। कोई विश्वविद्यालय है, एक विद्वान् उसके प्रिन्सिपल हैं। कोई नवागन्तुक पूछता है, इस कालेज का प्रिन्सिपल कौन है? एक उत्तर देता है मेरे चाचा जी प्रिंसिपल हैं; दूसरा कहता मेरे भाई जी प्रिंसिपल हैं, तीसरा कहता है मेरे पिता जी हैं, चौथा व्यक्ति कहता है मेरे मित्र यहाँ के प्रिंसिपल हैं; पांचवां कहता है मास्टर जयचन्द्र जी प्रिन्सिपल हैं; छठा कहता है गुप्ता जी प्रिन्सिपल का काम करते हैं, सातवाँ कहता है लाहौरी जी प्रिन्सिपल हैं; आठवाँ कहता है मन्त्री जी प्रिन्सिपल हैं, नौवाँ व्यक्ति कहता है कविकेतु प्रिंसिपल हैं। तो अब प्रिन्सिपल किसे मानें? समझने वाला समझ लेता है कि यह सब एक ही व्यक्ति की स्तुति है। वस्तुतः मास्टर जयचन्द्र प्रिन्सि-

पल हैं, वे ही किसी के चाचा है, किसी के भाई हैं किसी के पिता हैं, किसी के मित्र हैं, उन्हीं को लोग गुप्ता जी कहा करते हैं, वे ही लाहौरी जी के नाम से प्रसिद्ध हैं, वेही समाज के मन्त्री होनेके कारण मन्त्री जी कहाते हैं, उन्हें ही लोग अच्छी कविता करने के कारण कविकेतु भी कह दिया करते हैं। यही दशा वेद के देवों की है। जब वेद कहता है कि 'मित्र' ने द्यावा पृथिवी को धारा हुआ है या 'इन्द्र' सब लोकों को थामे है या 'वरुण' जगत् को धारण करने वाला है, या 'सविता' ने भूमि-आकाश को टिकाया हुआ है तो इसका अभिप्राय यही होना चाहिये कि जैसे दृष्टान्त में प्रिन्सिपल अनेक नहीं हैं वैसे ही जगत् को धारण करने वाले भी अनेक परमेश्वर नहीं हैं किन्तु एक के ही ये भिन्न २ नाम हैं। जगत् का धारक परमेश्वर एक ही है, वही सबका मित्र होने से 'मित्र' कहाता है, ऐश्वर्यशाली और वीर होने से 'इन्द्र' कहाता है, पापनिवारक, वरणीय व सर्वश्रेष्ठ होने से उसी को 'वरुण' कहते हैं और सर्वोत्पादक तथा शुभ गुण प्रेरक होने से उसी का नाम 'सविता' हो गया है। और नाना देव एक ही देवता के नामान्तर हैं तो फिर अनेकेश्वरवाद का प्रश्न नहीं रहता।)

मैक्समूलर का हीनोथीज्म—इस प्रसंग में एक और बात की तरफ ध्यान खींचना उचित प्रतीत होता है। मैक्समूलर कहते हैं कि वेद में हम एक अद्भुत बात यह देखते हैं कि प्रत्येक देवता की इस रूप में स्तुति है मानो वही सब से बड़ा हो। जब वेद इन्द्रदेव का वर्णन करने लगता है तब जितने भी गुण हैं सब उसमें आरोपित कर देता है। इन्द्र द्यावापृथिवी का अधिष्ठाता है, इन्द्र संसार का उत्पादक है, इन्द्र सब से बड़ा दानी है। जब इन्द्र को छोड़ कर मित्र पर आता है तब उसे सब से महान कहने लगता है और मानो भूल जाता है कि पहले वह इन्द्र को सब से बड़ा कह चुका है। 'मित्र' के बाद जब वरुण सब से बड़ा देवता हो जाता है। 'सविता' की बारी आती है तो उसका ऐसा वर्णन करता है। मानो वही सब से बड़ा है इस प्रकार अपनी-अपनी बारी में हर एक देव सब से बड़ा बन बैठा है। ऐसा प्रतीत होता है कि वेद के ऋषि यह निश्चय नहीं कर सके कि जगत् में सब से बड़ी शक्ति कौन-सी है। जिसे भी वे देखते थे वही उन्हें सब से बड़ी शक्ति लगने लगती थी। प्रकृति में सूर्य को देखते थे तो समझते थे कि अहो, सूर्य जैसा शक्तिशाली भला और कौन हो सकता है? अग्नि पर उनकी दृष्टि जाती थी तो उसे ही सब से महान समझ बैठते थे। वेद की यह अपूर्व विशेषता बता कर मैक्समूलर ने इसे हीनोथीज़्म (Hynotheism) नाम दिया है।

मैक्समूलर इस आलोचना से किसी भी परिणाम पर पहुँचा हो, पर हमें तो इससे यही निष्कर्ष निकलता दिखाई देता है कि वेद की यह विशेषता कोई दोष नहीं है, किन्तु यह इसी बात को सिद्ध करती है कि सब नाम एक ही ईश्वर के हैं। क्योंकि जैसा हम दृष्टान्त से स्पष्ट कर चुके हैं, यदि वेद में सभी देवों को एक जैसा कहा गया है तो इसका यही अभिप्राय होना चाहिये कि वे सब भिन्न-भिन्न नहीं किन्तु एक के ही नाम हैं।

वेद की साक्षी

तो वेदों में ऐसे वर्णन बहुतायत से मिलने चाहियें जिनमें यह कहा गया हो कि सब देव

एक ही परमेश्वर के भिन्न-भिन्न नाम हैं। और सचमुच ही ऐसी उक्तियाँ वेदों में स्थान २ पर मिलती हैं। देखिये –

१. ऋग्वेद प्रथम मण्डल १६४.४६, "इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान। एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति-अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः", परमेश्वर एक है, ज्ञानी लोग उसे बहुत से नामों से पुकारते हैं। उसे 'इन्द्र' कहते हैं, 'मित्र' कहते है 'वरुण' कहते हैं, 'अग्नि' कहते हैं और वही 'दिव्य' 'सुपर्ण' और 'गरुत्मान्' भी है। उसे ही वे अग्नि, यम और मातरिश्वा कहते हैं।

२. यही बात दशम मण्डल मे इन शब्दों में कही गई है—"सुपर्णं विप्राः कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति, ऋग् १०. ११४. ५", एक होते हुए उस सुपर्ण परमेश्वर के ज्ञानी कवियों ने बहुत से नाम कल्पित कर लिये हैं।

३. तृतीय मण्डल में परमेश्वर अपना परिचय देता है कि सुनो, मेरा नाम 'अग्नि' है, "अग्निरस्मि जन्मना जातवेदाः घृतं मे चक्षुरमृतं म आसन् ३. २६. ७"। साथ ही द्वितीय मण्डल में अग्नि तथा अन्य देवों को एक बताया गया है। परिणामतः अग्नि और अन्य नाना देव उसी परमेश्वर के नाम सिद्ध होते हैं। देखिये, "त्वमग्ने इन्द्रः······त्वं विष्णुः···—त्वं ब्रह्मा। त्वमग्ने राजा वरुणः ·····त्वं मित्र······त्वमर्यमा··· त्वमंशः······। त्वमग्ने त्वष्टा······। त्वमग्ने रुद्रः······त्वं शर्धो मारुतं······त्वं पूषा··· । त्वमग्ने द्रविणोदाः······त्वं देवः सविता····· त्वं भगः····· ।" ऋग् २. १. ३. ७, "हे अग्ने! तू ही इन्द्र है, तू ही विष्णु है, तू ही ब्रह्मा है, तू ही वरुण राजा है, तू ही मित्र है, तू ही अर्यमा है, तू ही अंश है। तू ही त्वष्टा है, तू ही रुद्र है, तू ही मरुद्गण है, तू ही पूषा है। तू ही द्रविणोदा है, तू ही सविता देव है और भग भी तू ही है।

४. ऋग् १०. ८२. ३ भी देखिये, "यो नः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा। यो देवानां नामधा एक एव तं सम्प्रश्नं भुवना यन्त्यन्या।" जो (विश्वकर्मा) हमारा पिता है, जनयिता है, विधाता है, जो सब भुवनों को जानता है, "जो एक ही अनेक देवों के नामों को धारण करने वाला है", उस प्रश्न करने योग्य की शरण में सब प्राणी जा रहे हैं। यही मन्त्र थोड़े से परिवर्तन के साथ अथर्व २. १ मे भी मिलता है।

५. यजुर्वेद पर आइये, वहाँ ३२. १ में कहा है – "तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद् वायुस्तदु चन्द्रमाः। तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः।" वही परमेश्वर अग्नि है, वही आदित्य है, वही वायु है और वही चन्द्रमा है। वही 'शुक' हैं, वह ब्रह्म भी है, वही 'आपः' है और उसी का नाम प्रजापति है।

६. अथर्ववेद १३. ४ में इस नाना देवों की एकता को बडे सुन्दर रूप में चित्रित किया गया है। "कवि" कहता है कि देखो, वह सविता परमेश्वर महेन्द्र बन कर, अनेक नामों से घिरा हुआ खड़ा है। वही धाता है, वही विधर्ता है, वही वायु है, वही अर्यमा है, वही वरुण है, वही रुद्र है, वही महादेव है, वही अग्नि है वही सूर्य है, वही महायम है। ये दसों नाम मानो उस परब्रह्म के दस पुत्र हैं। इन दसों का सिर या केन्द्र या प्रतिपाद्य एक ही है। यह मत समझना कि ये भिन्न-भिन्न हैं। भाइयो वह एक है

एक है, एक ही है; ये सब देव जो अलग-अलग दीखते हैं उस एक ही में समाये हुए हैं—

> स धाता स विधर्ता स वायुर्नभ उच्छ्रितम्। सोऽर्यमा स वरुणः स रुद्रः स महादेवः ॥
> सो अग्निः स उ सूर्यः स उ एव महायमः। तं वत्सा उपतिष्ठन्ति-एकशीर्षाणो युतादश ॥
> रश्मिभिर्नभ आवृतं महेन्द्र एत्यावृतः। मन्त्र ३।६ तमिदं निगतं सहः स एष एक एकवृदेक एव।
> एते अस्मिन् देवा एकवृतो भवन्ति ॥ मन्त्र १२, १३

अपने कथन को जारी रखता हुआ आगे कवि कहता है—"उसकी कीर्ति होती है, उसे यश मिलता है, उसे रस प्राप्त होते हैं, उसे आकाश मिलता है, उसे ब्रह्मतेज प्राप्त होता है, अन्न मिलता है, अन्न को भोगने का सामर्थ्य मिलता है जिसने देव के एक होने की बात को अनुभव कर लिया है। जिसने सचमुच वेद के ईश्वर की एकता को पहचान लिया है वह फिर वेद में नाना देवों के नामों को देख कर भी नहीं कहेगा कि यह दूसरा एक और ईश्वर है, यह तीसरा एक और है, यह चौथा है, यह पाँचवाँ है, यह छठा है, यह सातवाँ है, यह आठवाँ है, यह नौवाँ है, यह दसवाँ है। हे मनुष्यो, विश्वास करो, वह एक है, एक है, सचमुच एक ही है,

> कीर्तिश्च यशश्चाम्भश्च ब्राह्मणवर्चसं चान्नं चान्नाद्यं च। य एतं देवमेकवृतं वेद।
> न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते। न पञ्चमो न षष्ठः सप्तमो नाप्युच्यते।
> नाष्टमो न नवमो दशमो नाप्युच्यते। तमिदं निगतं सहः स एष एक एकवृदेक एव।
> सर्वे अस्मिन् देवा एकवृतो भवन्ति ॥ मन्त्र १४—२१

आगे फिर भिन्न भिन्न नामों से उसकी उपासना करता हुआ कवि सुना रहा है—"हे परमेश्वर! तेरा नाम इन्द्र है, 'विभू' और 'प्रभू' नामों से हम तेरी उपासना करते हैं। 'अम्भ', 'अरुण', 'रजत', 'रजः', 'सहः' नामों से हम तेरी उपासना करते हैं। उरु, पृथु, सुभू, भुवः नामों से तेरी उपासना करते हैं। प्रथ, वर, व्यच, लोक इन नामों से उपासना करते हैं। भवद्वसु, इदद्वसु, संयद्वसु, आयद्वसु इन नामों से उपासना करते हैं,

> ...त्वमिन्द्रासि, विभूः प्रभूरिति त्वोपास्महे वयम्। अम्भो अमो महः सह इति त्वोपास्महे वयम् ॥
> अम्भो अरुणं रजतं रजः सह इति त्वोपास्महे वयम्। उरुः पृथुः सुभूः भुव इति त्वोपास्महे वयम् ॥
> प्रथो वरो व्यचो लोक इति त्वोपास्महे वयम्। भवद्वसुरिदद्वसुः संयद्वसुरायद्वसुरिति त्वोपास्महे वयम् ॥
> मन्त्र ४७, ५०—५४"

तो इस प्रकार हम देखते हैं कि वेदों में यह स्पष्ट रूप से सूचित कर दिया गया है कि वेद में नाना देवों के नाम देख कर भ्रम में नहीं पड़ना चाहिये, वे सब एक ही ईश्वर के भिन्न २ नाम हैं न कि वे अपने आप में कोई स्वतन्त्र देव हैं।

निरुक्तकार की साक्षी

वैदिक देवों के सम्बन्ध में यास्काचार्य ने भी अच्छा प्रकाश डाला है। वे निरुक्त उत्तरार्ध की अपनी भूमिका में तीन मतों का उल्लेख करते हैं। प्रथम मत यह है कि जगत् में मुख्य देव एक ही है,

अन्य सब नाम उसी की विभूति को बताते हैं, "माहाभाग्याद् देवताया एक आत्मा बहुधास्तूयते"। दूसरा मत यह है कि संसार में तीन देव हैं, "तिस्र एव देवता इति नैरुक्ताः"। भूलोक का राजा अग्नि है, अन्तरिक्ष का राजा वायु या इन्द्र है और द्यौ का राजा सूर्य है। अन्य सब देव इन्हीं तीन के अन्तर्गत हो जाते हैं। और तीसरा पक्ष है कि वेदवर्णित सब देव पृथक् पृथक् हैं, क्योंकि पृथक् पृथक् ही सबकी स्तुति की गई है, "अपि वा पृथगेव स्युः, पृथग् हि स्तुतयो भवन्ति।" पर यास्काचार्य इन मतों को दर्शा कर कहते हैं कि वस्तुतः इन मतों में परस्पर विरोध नहीं है। केवल दृष्टि का भेद है। वास्तव में देखें तो एक ही संसार का अधिष्ठाता है, उसी की विभूति सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है। परन्तु जैसे किसी राष्ट्र का एक राजा होते हुए भी उसके भिन्न २ जिलों के भिन्न २ छोटे राजा भी होते हैं, वैसे ही यद्यपि सारे जगत् का एक महाराजा ईश्वर है तो भी 'अग्नि' को पृथिवी का राजा कह सकते हैं, 'वायु' को अन्तरिक्ष का राजा और 'सूर्य' को द्यौ का राजा। अथवा जैसे प्रत्येक मनुष्य अपने २ घर का राजा होता है वैसे प्रत्येक देव अपने २ क्षेत्र का राजा है। पर अन्तर यह है कि ये अग्नि, वायु आदि राजा उसके समकक्ष कोई चेतन ईश्वर नहीं हैं। ये अचेतन प्राकृतिक शक्ति होते हुए उसी महाराजा से क्रियाशक्ति को पाकर अपने अपने क्षेत्र में राज्य कर रहे हैं। जैसे किसी बड़े भारी कारखाने में बहुत सी मशीनें काम कर रही होती हैं। बटन बनाने की मशीन बटन बना रही है, इसलिये वह बटनों की राजा है। पुर्ज़े बनाने की मशीन पुर्ज़े बना रही है, इसलिये वह पुर्ज़ों की राजा है। पर ये मशीनें स्वतन्त्र राजा नहीं हैं, असली राजा है कारखाने का मालिक। न ही इन मशीनों में क्रियाशक्ति अपनी है, न ही ये चेतन हैं। इसी तरह अग्नि क्योंकि पृथिवी की सबसे बड़ी शक्ति है इसलिये वह पृथिवी का राजा है। पर वह चेतन देव नहीं है। वह तो मशीन की तरह है, मशीन को चलाने वाला कोई और चेतन है।

यास्क ने अपने निरुक्त में देवों की अधिकतर प्राकृतिक व्याख्या ही की है। इससे कहीं यह भ्रम पैदा न हो जाये कि वह उन्हें ईश्वर के नाम नहीं मानता इसलिये परिशिष्ट में उसने ईश्वरपरक अर्थ भी किये हैं और नमूने के तौर पर ईश्वर (महान आत्मा) के अनेक नाम गिनाये हैं। वह कहता है, "अथात्मनो महतः प्रथमं भूतनामधेयान्यनुक्रमिष्यामः", अब आगे हम परमात्मा के उन नामों को गिनाते हैं जिन्हें कि पहले हम भूतों (प्राकृतिक पदार्थों) के नाम बता चुके हैं। अर्थात् ये सब नाम जहाँ प्राकृतिक पदार्थों के वाचक हैं वहाँ साथ ही परमात्मा के वाचक भी हैं। और वे नाम उसने ये गिनाये हैं—

"हंसः, घर्मः, यज्ञः, वेनः, मेघः, कृमिः, भूमिः, विभुः, प्रभुः, शम्भुः, रंभुः, बधकर्मा, सोमः, भूतम्, भुवनम्, भविष्यत्, महत्, आपः, व्योम, यशः, महः, स्वर्णीकम्, स्मृतीकम्, स्तृनीकम्, सतीकम्, सतीनम्, सनीनम्, गहनम्, गभीरम्, गह्वरम्, कम्, अन्नम्, हविः, सद्म, सदनम्, ऋतम्, योनिः, ऋतस्य योनिः, सत्यम्, नीरम्, रयिः, सत्, पूर्णम्, सर्वम्, अक्षितम्, बर्हिः, नाम, सर्पिः, आपः, पवित्रम्, अमृतम्, इन्दुः, हेम, स्वः, सर्गाः, शम्बरम्, अम्बरम्, वियत्, व्योम, बर्हिः, धन्व, अन्तरिक्षम्, आकाशम्, आपः, पृथिवी, भूः, स्वयम्भूः, अध्वा, पुष्करम्, सगरम्, समुद्रः, तपः, तेजः,

सिन्धुः, अर्णवः, नाभिः, ऊधः, वृक्तः, तत्, यत्, किम्, ब्रह्म, वरेण्यम, हंसः, आत्मा।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि निरुक्तकार की भी साक्षी हमें मिल रही है कि वेद में जो नाना देवों की स्तुति की गई है उससे परमेश्वर की अनेकता का अभिप्राय नहीं है।

महर्षि दयानन्द की साक्षी

महर्षि ने देखा कि वेद को समझने के लिये इस मूलसूत्र का प्रचार अत्यावश्यक है कि वेदवर्णित अनेक देव एक ही ईश्वर के वाचक हैं। स्वामी जी के वेदभाष्य की कई विशेषताओं में से एक यह भी है कि उन्होंने वेदोक्त एक देवतावाद के सूत्र को पकड़ा। नहीं तो उनसे पहले भाष्यकार पौराणिक देवों की तरह वेद के देवताओं को भी आँख-नाक वाले स्वतन्त्र देव समझ बैठे थे। सायण जैसे महान् पण्डित भाष्यकार भी अभिमानी देवता की कल्पना के फेर में पड़े रहे, यद्यपि जहाँ अपना काम पड़ा है वहाँ थोड़ी देर के लिये उन्होंने यह स्वीकार कर लिया है कि इन्द्र आदि सब एक ही परमेश्वर के भिन्न २ नाम हैं। अपने ऋग्वेदभाष्य की भूमिका के आरम्भ में "इन्द्रं मित्रं वरुणम्" आदि १-१६४-४६ का प्रमाण देते हुये वे कहते हैं कि, "यद्यपि इन्द्रादयस्तत्र तत्राहूयन्ते तथापि परमेश्वरस्यैव इन्द्रादिरूपेण अवस्थानादविरोधः", अर्थात् यद्यपि वेद में स्थान स्थान पर इन्द्रादि देवों का आह्वान किया गया है तो भी वहां परमेश्वर ही इन्द्रादि नामों से वर्णित हुआ है। पर पीछे से अपनी इस स्थापना को वे भूल गये और उन्होंने अभिमानी देवता की कल्पना में हां में हाँ मिला दी। हाँ, तो महर्षि दयानन्द जी ने अपने वेदभाष्य में भी और सत्यार्थप्रकाश में भी इस एक देवता की स्थापना पर बहुत बल दिया है। वेद में परमेश्वर को अमुक अमुक नाम से क्यों बुलाया गया है यह वहां उन्होंने अच्छी तरह प्रकट किया है। सत्यार्थप्रकाश में सब से पहले समुल्लास में ही उन्होंने नमूने के तौर पर परमेश्वर के सौ नामों की व्याख्या की है। और इस प्रकार लोगों के अन्दर जो देवविषयक पौराणिक संस्कार बैठे हुये थे उन्हें निकालने का यत्न किया है।

स्तुति अनेक नामों से क्यों?

यहाँ एक शंका उठती है। माना कि वेद में नाना नामों से एक ही ईश्वर की स्तुति की गई है, पर ऐसा हुआ क्यों? यह क्यों नहीं किया गया कि कोई सा एक नाम रख लिया जाता और सारे वेद में उसी से परमेश्वर की स्तुति होती? अनेक नामों से स्तुति करके हमें भ्रम में क्यों डाला गया? क्या इससे कोई विशेष प्रयोजन सिद्ध होता है? इस प्रश्न के उत्तर से पहले ज़रा आप संस्कृत भाषा, या संस्कृत ही क्यों, किसी भी भाषा के शब्द-कोष पर दृष्टि डालिये। क्या प्रत्येक भाषा में एक ही पदार्थ के वाची अनेक नाम नहीं हैं। और क्या कोई ग्रन्थकार अपने ग्रन्थ में यह नियम रखता है कि हर जगह वह किसी पदार्थ को एक ही नाम से पुकारे? क्या बाइबल में एक ही परमेश्वर को 'गौड', 'लार्ड' 'आलमाइटी' आदि विविध नामों से नहीं पुकारा गया है? यदि बाइबल में कहीं 'गौड' की जगह 'लार्ड' आ जाता है तो क्या कोई यह कहता है कि यह 'लार्ड' 'गौड' से भिन्न कोई देव है? फिर संस्कृत भाषा तो इसके लिये प्रसिद्ध है कि जिसमें एक शब्द के लिये उनके पर्यायवाची नाम हैं। परमेश्वर को

छोड़िये, अन्य पदार्थों को ही ले लीजिये। एक मामूली सी वस्तु है, 'पेड़'। पर उसके वाची अनेक नाम आपको मिलेंगे। क्योंकि वह काटा जाता है इसलिये उसे 'वृक्ष' कहते हैं। वह भूमि पर उगता है इस लिये उसे 'भूरुह' या 'महीरुह' कहते हैं। उसकी अनेक शाखा-प्रशाखायें होती हैं इसलिये उसे 'शाखी' या 'विटपी' कहते हैं। क्योंकि वह पैरों (जड़ों) से पानी पीता है इसलिये वह 'पादप' है। क्योंकि उसमें पत्ते होते हैं इसलिये वह 'पलाशी' कहाता है। चन्द्रमा को 'हिमांशु' कहते हैं, क्योंकि उसकी किरणें शीतल हैं, वह कुमुदों को खिलाने वाला है इसलिये उसे 'कुमुदबान्धव' कहते हैं, रात्रि का पति होने से वही 'निशापति' है, तारों का राजा होने से उसी को 'नक्षत्रेश' भी कहा जाता है। गीता का संसार में कितना प्रचार हुआ है। पर ज़रा संग्रह तो करिये कि उसमें अर्जुन को कितने नामों से याद किया गया है। कहीं वह 'धनञ्जय' है तो कहीं 'पार्थ' बन जाता है, तीसरी जगह वही 'कौन्तेय' हो गया है। और कृष्ण भगवान् भी कहीं 'हृषीकेश' हैं तो कहीं 'जनार्दन' हैं, कहीं 'अच्युत' हैं तो कहीं 'वासुदेव' हैं। क्या कभी आपको सन्देह हुआ है कि कृष्ण जिसे कर्मयोग का उपदेश दे रहे हैं वह एक अर्जुन नहीं किन्तु कई व्यक्ति हैं; अर्जुन अलग है, पार्थ अलग है, कौन्तेय अलग है। और उपदेश देने वाले भी कृष्ण अकेले नहीं हैं किन्तु हृषीकेश, जनार्दन आदि कई हैं! देखिये, युधिष्ठिर धर्मपरायण होने के कारण 'धर्मराज' कहाते थे; आजकल के मोहनदास नाम के सन्त, गान्धी जाति का होने से गान्धी जी और महात्मा होने से महात्मा जी कहाते हैं। तो हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि गुण-कर्म स्वभाव आदि के अनुसार एक ही को भिन्न २ नामों से स्मरण किया जा सकता है। इसी प्रकार वेद में भी भिन्न २ गुणों की दृष्टि से परमेश्वर के भिन्न भिन्न नाम हैं और परमेश्वर के अनेक नाम होना तो और भी स्वाभाविक है। उसके असंख्य अनन्त गुण हैं, जिनके आधार पर उसके असंख्य नाम पड़ सकते हैं। लोक में भी तो एक ही व्यक्ति पिता, चाचा, मामा, ताऊ, भाई, भतीजा, लाला जी, गुप्ता जी, मन्त्री जी, सेठ जी, प्रधान जी, वैद्य जी, ठेकेदार साहिब आदि अनेक नामों से याद किया जाता है। यदि एक व्यक्ति के अनेक नामों को देख कर कहीं और उनके अनेक होने का भ्रम पैदा नहीं होता तो वेद में भी नहीं होना चाहिये, जब कि साथ ही वेद ने स्वयं पहले से ही सावधान कर दिया है, "एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति"।

वेद की अनेक नामोपासना का एक और प्रयोजन भी है। अग्नि आदि नाम न केवल परमेश्वर के वाचक हैं, किन्तु प्राकृतिक, राजनैतिक आदि अन्य शक्तियों के वाचक भी हैं। यदि सारे वेद में एक ही नाम से परमेश्वर की उपासना होती तो यह प्रयोजन पूरा न हो सकता कि एक ही शब्द परमेश्वर के अर्थ को भी दे और अन्य अर्थों को भी। कल्पना करिये, सारे वेद में ॐ या इन्द्र या और किसी एक ही नाम की स्तुति होती तो उसमें परमेश्वर की महिमा का वर्णन तो हो जाता (यद्यपि वह भी वैसा चमत्कारिक नहीं रहता जैसा अब है) पर राजा, सेनापति, न्यायाधीश आदि राजनैतिक अर्थों, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, आत्मा आदि आध्यात्मिक अर्थों, अग्नि, वायु, सूर्य आदि प्राकृतिक अर्थों की छटा देखने को नहीं मिलती।

सब देव परमेश्वर कैसे हैं ?

अभी हमने दिखाया है कि विविध गुणों के आधार पर एक के विविध नाम पड़ जाया करते हैं। साहित्य में हम देखते हैं कि परमेश्वर के भिन्न २ गुणों को लेकर भिन्न २ देव कल्पित कर लिये गये हैं। कामदेव और क्या है ? जो सौन्दर्य ही सौन्दर्य है, सौन्दर्य की जिसमें पराकाष्ठा है ऐसा एक देव कल्पित कर लिया गया है। परमेश्वर में ही सब गुणों की पराकाष्ठा है, इसलिये कामदेव को हम यह समझ सकते हैं कि सौन्दर्य का मूर्त रूप परमेश्वर ही कामदेव है। यही बात वेद के भिन्न-भिन्न देवों के विषय में है। नीचे हम कुछ देवों का स्पष्टीकरण करके यह बताने का यत्न करते हैं कि वे किस तरह परमेश्वरवाची है, और उन उन नामों से परमेश्वर की स्तुति करने में क्या चमत्कार पैदा होता है।

१. **अग्नि**—उणादि कोष में 'अगि गतौ' धातु से नि प्रत्यय करके अग्नि बनाया गया है; जो गतिमय है, कर्मण्य है, वह परमेश्वर अग्नि है निरुक्त में अग्रपूर्वक 'णीञ् प्रापणे' से अग्नि की सिद्धि की गई है—"अग्नि: कस्मात् ? अग्रणीर्भवति"। हम सबका अग्रणी है पथ-प्रदर्शक है. वह परमेश्वर अग्नि है। महर्षि सत्यार्थ प्रकाश मे लिखते हैं, "य: अञ्चति, अच्यते, अगति, अङ्गति, एति वा सोऽयमग्नि:–जो ज्ञान स्वरूप, सर्वज्ञ, जानने, प्राप्त होने और पूजा करने योग्य है इससे उस परमेश्वर का नाम अग्नि है"। इसके साथ ही लोक में अग्नि आग का वाची भी है। परमेश्वर के लिये अग्नि शब्द बोलते ही हमें आग का स्मरण आये बिना नहीं रह सकता। इसलिये जानकर आगवाची अग्नि शब्द को परमेश्वर के लिये प्रयुक्त किया गया है। परमेश्वर क्या है, एक प्रज्वलित आग है, जो स्वयं प्रकाशमान है और दूसरों को भी प्रकाशित करने वाली है। वह ईश्वरीय आग हृदय वेदि में प्रज्वलित होने पर मानव के दुर्गुणों को भस्म और सद्गुणों को प्रकाशित करने का काम करती है।

२. **वायु**— निरुक्तकार कहते हैं, 'वायुर्वातेः, वेतेर्वा स्याद् गतिकर्मणः'। वायु का अर्थ है 'चलने वाला', धातु इसमें है गत्यर्थक 'वा' या 'वी'। पर चलना यहाँ वैसा नहीं है जैसे कदम भर के चलना। यह नहीं भूल जाना चाहिये कि लोक मे वायु का अर्थ हवा होता है। तो वायु है हवा की तरह चलने वाला परमेश्वर। जैसे चलती हुई मन्द शीतल स्वच्छ हवा हृदयसुखद और दुःख दर्द को हर कर शान्ति देने वाली होती है वैसा ही वह परमेश्वर है। पर वायु का एक दूसरा रूप भी है। वह वेग से चलता हुआ, मार्ग में बाधा डालने वालों को तोड़ता-फोड़ता परे फेंकता हुआ और पृथिवी की धूल (रेणु-रजस्) को उड़ाता हुआ जाया करता है [देखो, ऋग् १०, १६८, १]। वैसी ही परमेश्वर की गति भी है। परमेश्वर भी जब मनुष्य के अन्दर वेग से गति करता है तब उसकी उन्नति मे रुकावट डालने वाली विघ्न-बाधाओं को तोड़-फोड़ डालता है और उसकी आत्मा पर पड़ी हुई जो भौतिक चेतना की धूल (रजस्, रजोभाव) है उसे उड़ा कर आत्मिक धरातल को साफ कर देता है महर्षि ने वायु की व्युत्पत्ति की है, "यो वाति चराचरं जगद्धरति बलिनां बलिष्ठ: स वायु: [वा गतिगन्धनयो:, गन्धनं हिंसनम्]—जो चराचर जगत का धारण, जीवन और प्रलय करता और सब

बलवानों से बलवान् है इससे उस परमेश्वर का नाम वायु है।"

३. मित्र—'ञिमिदा स्नेहने' धातु से मित्र बना है। मित्र है स्नेह का, प्रेम का, मित्रता क देवता, यह परमेश्वर के इस रूप को व्यक्त करता है। परमेश्वर को मित्र इसलिये कहा गया है कि वह मित्रता का मूर्त रूप है, मानो मित्रता या स्नेह ही शरीर धर के आ गये हों। हम जो सांसारि मित्र होते हैं उनमें मित्रता के साथ अमित्रता का अंश भी अप्रकट रूप में रहता है और समय पाक यह प्रकट भी हो जाया करता है। पर परमेश्वर को 'मित्र' कहने का मतलब है कि उसमें मित्रता ह मित्रता है, चाहे जहाँ से देख ले उसमें अमित्रता का लेश भी नहीं मिलेगा; जैसे मित्रता और प्रेम रस से भरा हुआ कोई रसगुल्ला हो। और सचमुच ही वह कैसा अद्भुत मित्र है जो बिना किसी स्वा के सब से मित्रता करता है। हम सामान्य लोग तो जब किसी के मित्र बनते हैं या किसी से प्रेम क हैं तब उसमें कोई अपना फायदा भी निकल रहा होता है। कहने का भाव यह कि परमेश्वर में मित्रता य सौहार्द का गुण आदर्श रूप में विद्यमान है इसलिये वह मानो साक्षात् मित्रता का देवता है। वेद ने मित्र को 'पूतदक्ष' कहा है, वह पवित्रता के बल से युक्त है। उसमें छल, कपट, कालिमा नहीं है; व किसी को स्वार्थवश नुकसान पहुँचाने का इरादा नहीं रखता। जिसे इस अनुपम मित्र की रक्षा मि जाती है उसे कोई शक्ति क्षति नहीं पहुँचा सकती, हरा नहीं सकती, पाप उस नहीं सताता "न हन्य न जीयते त्वोतो, नैनमंहो अश्नोत्यन्तितो न दूरात्, ऋग् ३. ५९. २"। महर्षि लिखते हैं, "मेद्य स्निह्यति स्निह्यते वा स मित्रः—जो सबसे स्नेह करता है और स्वयं सबसे स्नेह करने योग्य है इसलि उस परमेश्वर का नाम मित्र।"

४. वरुण—वरुण पाप को निवारण करने वाला है, "वारयतीति वरुणः"। इसलिये उ 'रिशादस' अर्थात् मनुष्य के दोषों को हड़प जाने वाला कहा है। मित्र और वरुण वेद में अधिक साथ २ आते हैं। परमेश्वर मित्र होकर वरुण बनता है। वह मानव से प्रेम करता है और उसके पा का वारण करता है। इसीलिये वह हम सब से वरने योग्य है, 'व्रियते इति वरुणः'। वह स्वयं म मनुष्यों को पाप-वारण के लिये वरता है 'वृणोतीति वरुणः'। परमेश्वर अपनी रक्षा रूपी आँचल से ह पुत्रों को ढक लेता है इसलिये भी वह वरुण है' 'वृणोति आच्छादयतीति वरुणः'। स्वामी जी वरु की व्युत्पत्ति करते हैं, "यः सर्वान् शिष्टान् मुमुक्षून् धर्मात्मनो वृणोति, अथवा यः शिष्टैर्मुमुक्ष भिर्धर्मात्मभिः व्रियते वर्य्यते वा स वरुणः परमेश्वरः", अर्थात् जो सज्जन, मुमुक्षु, धर्मात्मा लोगों वरता है, अपनी शरण में लेता है, अथवा जिसे सज्जन, मुमुक्षु, धर्मात्मा भक्तजन वरते हैं उस परमेश्व का नाम वरुण है।

५. इन्द्र—'इन्द्र' से ईश्वर के परमैश्वर्यवान् होने का गुण सूचित होता है, धातु 'इदि परमैश्वर्ये'; 'यः इन्दति परमैश्वर्यवान् भवति स इन्द्रः परमेश्वर'—सत्यार्थप्रकाश। जो परमैश्वर्य की पराकाष्ठा है, जिसके पास अनन्त ऐश्वर्य भरा पड़ा है, जो दुनिया के ह छोटे छोटे ईश्वर कहलाने वालों में सब से बड़ा 'परम ईश्वर' है वह इन्द्र है। इसी लिए इ

ा वद में बड़ा भारी दानी कहा गया है, क्योंकि वह अपने ऐश्वर्यों को दान करता है। इन्द्र
। दूसरा भाव है पराक्रम और विजय का । इंद्र की वीरता का बखान वेद में बहुत हुआ है ।
नेरुक्तकार भी कहते हैं, 'या च का च बलकृतिः इन्द्रकर्मैव तत्', अर्थात् जो बल के काम हैं
इंद्र के है, निरु० ७।१०। इंद्र अपनी वीरता से वृत्र या अहि का बध कर डालता है। यह
त्र कोई किस्से-कहानी का महाकाय दैत्य नहीं है । यह है मनुष्य के हृदय में वास करने
ाला पाप का असुर । प्रकृति में यह वृत्र बादल❀ है जो सूर्य के प्रकाश को ढक लिया करता
। समाज में वृत्र हैं पापी लोग जो कि पुण्य को या सत्कर्मों के प्रवाह को रोक लेना चाहते
। इन्द्र शतक्रतु है, पूर्णकर्मा है, शत है पूर्णता या शत-प्रतिशत का वाची और क्रतु है
र्म, ज्ञान, संकल्प या यज्ञ । केवल इन्द्र ही १०० यज्ञ कर पाया है, अन्य किसी के वह
०० यज्ञ पूरे नहीं होने देता इस डर से कि कहीं यह मेरे समकक्ष न हो जाय, ये सब पीछे
ना ली गई कहानियां हैं जिनका विवरण वेद में नहीं मिलेगा । पौराणिक इंद्र की तरह
ह वैदिक इंद्र भी शचीपति है, पर वेद की शची कोई सुराङ्गणा नहीं किन्तु शक्ति या कर्म-
ता है×। तो इन्द्र शचीपति है इसका अर्थ हुआ कि वह शक्ति का पति है अर्थात् शक्ति-
ाली या कर्मवीर है । ऐसा प्रतीत होता है कि वेद से ही इन सब संकेतों को लेकर पुराण-
ारों ने उन्हें कथानक का रूप दे दिया है।

६. विष्णु—विष्णु हैं व्यापकता के देवता । वेवेष्टि व्याप्नोति चराचरं जगदिति
ष्णु०, सत्यार्थ०, जो अपनी सत्ता से चराचर जगत् में व्याप रहे हैं, वे परमेश्वर विष्णु हैं।
राण में जो वामन विष्णु ने विराट् रूप धर कर अपने कदमों से त्रिलोकी को माप लिया
वह कहानी भी विष्णु की व्यापकता को बताने वाली है और वह वेद से ही ली गई है।
दं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्' वा 'यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेषु अधिक्षियन्ति भुवनानि
श्वा' आदि वेद वाक्यों का यही अभिप्राय है कि उस परमेश्वर ने पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौ
नों लोकों में अपने पैरों को रखा हुआ है, अर्थात् वह सर्वव्यापक है।

अस्तु, यहां नमूने के तौर पर हमने कुछ वैदिक देवों के स्वरूप का दिग्दर्शन
राया है । इसी प्रकार अन्य देवों का स्वरूप भी निश्चय हो सकता है । जैसे परमेश्वर
यम्बक' इसलिये है क्योंकि उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय, इन तीनों शक्तियों वाला है। वह 'पशुपति'
सलिये है क्योंकि पशुओं की रक्षा करता है । 'रुद्र' उसका नाम इसलिये है क्योंकि वह
न्यायियों को दण्ड देकर रुलाता है (रोदयतीति रुद्रः) और सज्जनों के रोगों को या पाप
प को दूर भगाता है (रुत् दुःखं तद् द्रावयतीति रुद्रः)। 'विश्वकर्मा' उसे इस लिये कहते हैं
योंकि वह विश्व की रचना करता है । 'त्वष्टा' वह इसलिये है क्योंकि बढ़ई की तरह गढ़
ल कर पदार्थों को रूप देता है । 'बृहस्पति' उसे इसलिए कहते हैं कि क्योंकि वह बड़े २

❀ 'तत्को वृत्रः ? मेघ इति नैरुक्ताः' निरु० २।१७ × 'शची = कर्म' निघ० २.१

लोकों का स्वामी है अथवा वेद का पति है। (बृहत: लोकानां पति:, अथवा बृहती वेदवाक् तस्या: पति:)। सोम है रसमय परमेश्वर, जिसे उपनिषत्कार ने इस रूप में अनुभव किया है 'रसो वै स:'। वेद के देवों का स्वरूप—निश्चय करते समय हमें एक बात यह ध्यान में रखनी चाहिए कि उस उस देव का वेद में कैसा वर्णन हुआ है उसमें कुछ वर्णन तो सभी देवों के एक से हैं, और यह स्वाभाविक भी है क्योंकि सब एक ही परमेश्वर के नाम हैं, और कुछ वर्णन ऐसे हैं जो प्रत्येक देव की अपनी अपनी विशेषताएं हैं। उन विशेषताओं के आधार पर हमें स्वरूप निश्चय करना चाहिए।

स्त्रीलिंगी देवों का अभिप्राय

पहले हम दिखा चुके हैं कि पुल्लिंगी देवों की तरह वेद में अनेक स्त्रीलिंगी देव भी आये हैं। उनका अभिप्राय क्या होगा ? बात यह है कि परमेश्वर जैसे हम सब का पिता है वैसे ही माता भी है, 'त्वं हि न पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ, ऋ० ८.९८.११

ऋग्वेद के प्रसिद्ध वागाम्भृणी सूक्त (१०.१२५) में भी परमेश्वर के इसी मातृरूप को चित्रित किया गया है। यह अकेले वेद की ही अनुभूति नहीं है किन्तु 'त्वमेव माता च पिता त्वमेव', 'पितु मातु सहायक स्वामि सखा, तुम ही इक नाथ हमारे हो' आदि शब्दों में लौकिक कवियों ने भी यही गाया है। इसलिये वेद के कई स्त्रीलिंगी देव ऐसे हैं जो परमेश्वर के मातृरूप को बताने वाले हैं। जैसे 'अदिति'। अदिति जगत् के दिव्य शक्तियों की माता है, इसीलिये देव आदित्य (अदिति के पुत्र) कहाते हैं। अदिति का धात्वर्थ है अखण्डनीय, अविनाश्य, नित्य। 'सरस्वती' जो हृदय में ज्ञान रस को प्रेरित करने वाली माता है। जैसे माता बच्चे को अपने दूध रूपी रस का पान कराती है, वैसे ही परमेश्वर माता बन कर मानव-जाति के शिशुओं को ज्ञान-रस का पान कराता है।

इस के अतिरिक्त कुछ स्त्रीलिंगी देवतायें ऐसी हैं जो परमेश्वरवाची नहीं हैं बल्कि किन्हीं प्राकृतिक शक्तियों या ईश्वरीय दिव्य शक्तियों को सूचित करती हैं। जैसे 'उषा' या तो दिन के बाद आने वाली प्राकृतिक रात है या अज्ञानान्धकार की और तमोगुण की निशा है। 'श्रद्धा' भी कोई विशेष देवी नहीं है, बल्कि वह आस्तिक्य बुद्धि है जिसे लोक में भी श्रद्धा नाम से ही कहते हैं। 'उर्वशी' और 'गौरी' विद्युत् हैं। 'पृथिवी' भूमि को ही कहा गया है, वह कोई देवी नहीं है। इसी प्रकार अनुमति, राका, सिनीवाली, कुहू, सरण्यू आदि के भी अपने अपने अर्थ हैं जो कि निरुक्त आदि ग्रन्थों में स्पष्ट किए गए हैं।

अब रह जाती है देवों की पत्नियों की बात। अग्नि की पत्नी अग्नायी है, वरुण की पत्नी वरुणानी है, इन्द्र की पत्नी इन्द्राणी है, रुद्र की पत्नी रौद्री है। अन्य सब देवों की भी अपनी-अपनी पत्नियाँ हैं ऐसा वेद कहता है, चाहे वेद में उन सब का पृथक्-पृथक् नाम न आता हो। तो ये देव-पत्नियाँ क्या हैं ? विचार करने से प्रतीत होता है कि ये पत्नियाँ उन उन देवों की क्रिया-शक्तियाँ हैं। जैसे अग्नि में जो प्रकाश की शक्ति है वह अग्नायी है; वरुण में जो पाप-निवारण की शक्ति है वही

वरुणानी है। देव अपनी पत्नियों के साथ हमारे अन्दर आयें इसका अभिप्राय यही है कि वे अपनी अपनी क्रियाओं के प्रवाह के साथ हमारे हृदय में अवतरित हों; ऐसा न हो कि वे खाली हमारे अन्दर आकर बैठ जायें और करें कुछ न। अग्नि आये तो अपनी प्रकाश की क्रिया के साथ आये, और हम ज्ञान प्रकाश से जगमगा उठें; वरुण आये तो अपनी पाप-निवारण की क्रिया के साथ आये, और हम निष्पाप हो जायें; इन्द्र आये तो अपनी वीरता और विजय-प्रदान की क्रिया के साथ आये, और हमारे अन्दर वीरभावों का संचार हो जाये तथा हम सब विघ्न-बाधाओं पर विजय पाते हुये आगे बढ़ते चलें। पत्नियाँ क्रियाशक्ति रूप हैं यह इससे भी स्पष्ट है कि इन्द्र की पत्नी जो इन्द्राणी है उसका नाम है 'शची'; और शची का अर्थ होता है क्रिया (देखो निघ० २.१)। तो इसका यह अभिप्राय हुआ कि इन्द्राणी शक्तिरूप है वह कोई सचमुच की देव-स्त्री नहीं है। और जब एक देवी इस प्रकार से शक्तिरूप सिद्ध हो जाती है तो वैसे ही अग्नायी, वरुणानी आदि अन्य देव-पत्नियाँ भी शक्तिरूप ही होनी चाहियें।

देवों के अंग, वाहन आदि का अभिप्राय

यदि सब देव परमेश्वर के नाम हैं और परमेश्वर है निराकार, तो वेदवर्णित देवों के अंग-प्रत्यंगों का क्या अभिप्राय है? वे रथ पर चढ़ते हैं, इसका क्या अभिप्राय है? उनके अपने २ वाहन या सवारियाँ हैं यह कैसे सम्भव है? और उनके पास अलग-अलग अपने २ शस्त्र हैं इससे क्या अभिप्रेत है? पहले अंगों को ही लेते हैं। परमेश्वर के अंगों की कल्पना आलङ्कारिक है। निस्सन्देह ऐसे मन्त्र प्रस्तुत किये जा सकते हैं जिसमें मतभेद हो ही नहीं सकता कि वहां अंगों का वर्णन आलङ्कारिक है। देखिये—

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्। स भूमिं विश्वतो वृत्वाऽत्यतिष्ठद् दशांगुलम्। ऋ०१०.६०.१
विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात्।
सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः॥ ऋग् १०.८.१.३

उस परमेश्वर के हज़ार सिर हैं, हज़ार आंखें हैं, हज़ार पैर हैं! यदि सिर आदि यहां वे वे अंग अभिप्रेत हों तब तो यह ईश्वर काना और लंगड़ा हुआ। क्योंकि हज़ार सिर हैं तो प्रत्येक सिर में दो-दो आंखों के हिसाब से कुल दो हज़ार आंखें होनी चाहियें, और इसी नियम से पैर भी दो हज़ार होने चाहियें। पर हैं हजार हजार ही। तो मानना पड़ेगा कि यहां अंग आलङ्कारिक अर्थ रखते हैं। अभिप्राय यह है कि परमेश्वर में सिर का सामर्थ्य अर्थात् ज्ञान अनन्त है, आंखों का सामर्थ्य अर्थात् दर्शनशक्ति अनन्त है और पैरों का सामर्थ्य अर्थात् चलने की शक्ति अनन्त है। दूसरे मन्त्र में कहा है कि जब वह परमेश्वर द्यावापृथिवी को बना रहा होता है तब चारों तरफ उसकी आंखें होती हैं, चारों तरफ मुख होते हैं, चारों तरफ भुजायें और चारों तरफ पैर होते हैं। ऐसे पुरुष की कल्पना कैसी अद्भुत मालूम होती है! क्या यह स्पष्ट ही आलङ्कारिक वर्णन नहीं है? कवि कहना यह चाहता है कि जैसे एक इंजीनियर को सब तरफ ध्यान रखना पड़ता है वैसे ही विशाल ब्रह्माण्ड की रचना के समय परमेश्वर का ध्यान सब तरफ था, क्योंकि ज़रा भी ध्यान बटते ही न जाने कहां गड़बड़ी हो जाती। यदि इन मन्त्रों में अंगों

का वर्णन आलङ्कारिक है तो कोई कारण प्रतीत नहीं होता कि अन्य स्थलों में आलङ्कारिक न हो। और देखिये, वेद उन शिलाओं का वर्णन कर रहा है जिन पर सोम कूटा-पीसा जाता है। सोम को पीसने से शिलायें हरी-हरी हो गई हैं। पीसने से शब्द भी हो रहा है। कवि कल्पना करता है, "अभिक्रन्दन्ति हरितेभिरासभिः। ऋग् १०.६४.२", मानो ये शिलायें अपने हरे-हरे मुखों से किसी को बुला रही हैं। क्या आप इससे यह समझेंगे कि शिलाओं का सचमुच का मनुष्य के जैसा कोई मुख होता है? वेद एक कविता है, कविता की भाषा मे ऐसा होता ही है। दो-एक लौकिक उदाहरण लीजिये—"भूकम्प आया, लाखों मनुष्य, बड़े-बड़े मकान, जंगल सब पृथ्वी की "गोद में" समा गये", क्या पृथ्वी की सचमुच की कोई गोदी है? गोदी का मतलब है अन्दर। "हे पृथ्वी मातः! तू फट क्यों नहीं जाती, क्या तेरा "हृदय" पत्थर का बना हुआ है?" यहां जड़ पृथ्वी का हृदय कल्पित कर लिया है। "ज्वालामुखी फट कर अपने "मुख" से आग उगलने लगा", मुख का अभिप्राय है अग्रभाग। "हे यज्ञाग्ने! तू अपने सुनहरे "मुखों" से घृत की आहुति का आस्वादन करता है", अग्नि के सुनहरे मुख हैं चमकती हुई ज्वालायें। "आंधी आई, अपनी "बाहुओं" से सब कूड़ा-कर्कट समेट ले गई", क्या इस प्रयोग में किसी को यह शंका होती है कि आंधी कोई शरीरधारी है और उसके बाहुएँ हैं? आशा है इतने से यह स्पष्ट हो गया होगा कि देवों के अंगों का वर्णन वेद मे आलङ्कारिक है। नहीं तो इसमे क्या युक्ति है कि वेद में ही, एक जैसे कवितामय वर्णनों में, किन्हीं स्थलों में अंग आलङ्कारिक मान लिये जायें और दूसरी जगह यह आग्रह किया जाय कि नहीं, ये सचमुच के अंग हैं?

यही बात देवों के रथ, वाहन आदि के विषय में है। नदी वेग से बहती जा रही है, वेद का कवि उसका इस रूप में वर्णन करता है कि नदी आशुगामी रथ को जोते हुये हैं, "सुखं रथं युयुजे सिन्धुरश्विनम्, ऋग् १०-६५-६"। रथ का अवतरण कवि ने वेग को दिखाने के लिये किया है। अब या तो यह समझा जाय कि यहाँ पर भी यह आशय है कि नदी के पास कोई सचमुच का रथ है, और यह मानना उपहासास्पद होगा, नहीं तो फिर यह मानना चाहिये कि जैसे यहाँ रथ वेग को दर्शाता है इसी प्रकार इन्द्रादि देवों के रथ भी उनकी शीघ्रगामिता को बताने के लिये हैं। "हे इन्द्र! अपने रथ पर चढ़ कर तू हमारे पास आ" इसका यही अभिप्राय है कि तू वैसी ही शीघ्रता के साथ हमारे पास आ जा जैसे कोई रथ पर चढ़ कर जल्दी से आ पहुंचता है।

अब आते हैं देवों के वाहन पर। कोई व्यक्ति बहुत तेज़ी से चलने लगे तो कहते हैं, "यह देखो, यह देखो, वह घोड़े पर सवार हो गया"। तो इससे यह पता चला कि वस्तुतः घोड़ा आदि कोई सवारी न होने पर भी तीव्रगति को बताने के लिये आलङ्कारिक भाषा में किसी सवारी पर आरूढ़ होने का वर्णन हो सकता है। तो इसी प्रकार देवों के वाहन भी उनकी तीव्रगति को बताने के लिये हैं। यह बात भी देखने लायक है कि देवों के जो वाहन हैं उनका धात्वर्थ भी वे अधिकतर तीव्रता अर्थ का ही द्योतक है। इन्द्र के वाहन 'हरी' हैं; 'हरन्तीति हरयः' जो सवार को तेज़ी से ले जायें वे हरि कहलायेंगे। आदित्य के वाहन 'हरित' है; हरित का भी यही अर्थ है। पूषा के वाहन "अजाः" हैं, इसका अभिप्राय

यह नहीं है कि पूषा बकरियों की सवारी करता है, 'अजा:' का अर्थ है शीघ्रता से चलने वाले (देखो, नेरु.४-२५), धातु है गत्यर्थक 'अज'। तो पूषा 'अजाश्व' है इसका अभिप्राय यह हुआ कि पोषक परमेश्वर शीघ्रगामी घोड़ों पर सवार होकर चलता है अर्थात् वह भी ऐसी शीघ्रता से गति करता है जैसे कोई तेज़ घोड़े पर सवार होकर चले। अश्विनौ के वाहन 'रासभ' हैं; रासभ का अर्थ यहां गधे नहीं है। रासभ' वेगवाची 'रभस' के विपर्यय से बना है, "रभसेन युक्तो राभस:, राभस एव रासभ:"। रभस का अर्थ वेग है, तो राभस का अर्थ हुआ वेगयुक्त, इसलिये उसके विपर्यय से बनने वाले रासभ का अर्थ भी वेगयुक्त ही हुआ। ऐसे अनेक शब्द संस्कृत मे मिलते हैं जो इस प्रकार विपर्यय से बने हैं, जैसे तर्कु, सिकता। इस प्रकार 'अश्विनौ' रासभों पर सवार होकर जायें इसका अन्ततः यही अर्थ निकला कि वे वेग के साथ आयें। सविता के वाहन 'श्यावा:' हैं, 'श्यावा' भी गत्यर्थक 'श्यै' धातु से बना है, इसलिये इसका अर्थ भी गतिमान या 'तेज़ी से चलने वाले' ही होता है। वायु के वाहन हैं 'नियुत'। 'नियुत' स्पष्ट ही कोई प्राणी नहीं है, इसका अर्थ है सदा नियुक्त रहने वाले। तो वायु नियुत्वान् है इसका अर्थ हुआ कि वह सदा चलता रहता है। अन्य जो वाहन शेष रहे उनका नाम प्राय: रंग के आधार पर है। अग्नि के वाहन 'रोहित' हैं, इसका अभिप्राय है कि अग्नि मानो रोहित वर्ण की ज्वालाओं पर सवार होता है। अग्नि का अर्थ परमेश्वर लें तब भी यही भाव होगा कि वह तेज की ज्वालाओं पर सवार होता है, अर्थात् बड़ा तेजस्वी है। उषा के वाहन हैं 'अरुण्यो गाव:' अर्थात् अरुण रंग की किरणें; गाव: का अर्थ यहाँ गौ पशु नहीं है। बृहस्पति के वाहन हैं 'विश्वरूप' अर्थात् नाना रूपों वाले। मरुतों के वाहन पृषतियां हैं। मरुतों का अर्थ वीर योद्धा या सैनिक लें तो पृषती का अर्थ होगा वीर्यसिक्त या हृष्ट-पुष्ट घोड़ियां। मरुतों का अर्थ प्राण लें तो पृषती है सेचनशक्ति या पुष्टि; प्राण पृषती पर सवार होकर आते हैं इसका आशय हुआ कि वे पोषणशक्ति से युक्त होकर आते हैं। पृषती बना है 'पृषु सेचने' धातु से।

देवों के आयुध और कवच भी आलङ्कारिक ही समझने चाहियें। आयुध से उनकी दण्ड देने की शक्ति सूचित की गई है। इन्द्र अपने वज्र से वृत्र का वध कर डालता है इसका अभिप्राय यही है कि इन्द्र में जो दुष्टों को नष्ट कर डालने की शक्ति है उससे वह वृत्र को विनष्ट कर देता है। कवच सूचित करते हैं आत्म-रक्षा की शक्ति को। वरुण ने कवच पहना हुआ है इसका अभिप्राय है कि जैसे कवचधारी सुरक्षित होता है वैसे ही वरुण सुरक्षित है, उसको कोई हिंसा नहीं कर सकता। जहां वरुण को कवचधारी "बिभ्रद् द्रापिं हिरण्ययम्" कहा गया है उसी सूक्त (ऋग् १-२५) में उससे अगले ही मन्त्र में उसके कवचधारी होने का अभिप्राय इन शब्दों में स्पष्ट कर दिया गया है, "न यं दिप्सन्ति दिप्सव:" अर्थात् बड़े २ हिंसक लोग भी जिसकी हिंसा नहीं कर सकते।

इस प्रकार हमने देखा कि देवों के अंग; रथ, वाहन, आयुध, कवच सब आलङ्कारिक हैं। मनुष्य के लिये यही स्वाभाविक है कि वह ऐसी ही भाषा में परमेश्वर के गुणों को प्रकाशित करे; क्योंकि वह अपने पैमाने के अनुसार देखता है। उसे कहीं शीघ्र पहुंचना होता है तो मोटर, रेलगाड़ी

हवाई जहाज़, बाईसिकल, रथ (तांगा) या घोड़े की अपेक्षा होती है। इसी लिये परमेश्वर की शीघ्रगामिता को बताने के लिये भी वह रथ, घोड़े आदि बीच में ले आता है। उसे किसी को दण्ड देना या मारना होता है जो साधन अपेक्षित होता है, इसलिये परमेश्वर की दण्डशक्ति या वधशक्ति को बताने के लिये भी वह उसके साथ वज्र आदि का सम्बन्ध जोड़ देता है। उसे शत्रु से रक्षित होने के लिये कवच की आवश्यकता होती है इसलिये परमेश्वर के सदा स्वयं रक्षित होने के गुण को बताने के लिये भी उसने यह कह दिया कि परमेश्वर कवच पहने हुये है। चाहे वेदों को मनुष्य ने ही बनाया है, पर बनाये तो वे मनुष्य के लिये ही गये हैं न! इसलिये मनुष्य के लिये जैसी भाषा स्वाभाविक है वैसी भाषा उनमें रखी गई है।

देवों की संख्यायें गिनाने का अभिप्राय

एक शंका यह अवशिष्ट रह जाती है कि यदि वेद को एक ईश्वर अभिप्रेत है तो फिर उसने देवों को संख्या में अनेक क्यों कहा है? कहीं देवों की संख्या ३३ बताई गई हैं और कहीं इतनी अधिक कि वह तीन हज़ार तीन सौ उनतालीस तक पहुंच गई है। इससे तो स्पष्ट यही अभिप्राय निकलता प्रतीत होता है कि वेद बहुत से देवों या ईश्वरों को मानता है और यहाँ तक की उनकी निश्चित संख्या तक बताता है। इस शंका के निराकरण के लिये पहले यह जान लेना आवश्यक है कि वेद के देवता क्या हैं? और इस विषय पर हम विचार कर आये हैं। इसलिये उसके आधार पर इस शंका का उत्तर भी आसानी से दिया जा सकता है। जैसे एक देव की अनेक नामों से स्तुति हो सकती है वैसे ही उन अनेक नामों की संख्या भी बताई जा सकती है कि वे एक ईश्वर के वाची नाम इतने हैं। ये संख्यायें एक ईश्वर के भिन्न २ नामों की हैं न कि भिन्न २ ईश्वरों की। मन्त्र के अर्थ से भी यही निकलता प्रतीत होता है। "त्रीणि शतानि सहस्राण्यग्निं त्रिंशच्च देवा नव चासपर्यन्", तीन हज़ार तीन सौ उनतालीस देव अग्नि या परमेश्वर की पूजा कर रहे हैं अर्थात् इतने नामों से उसकी पूजा हो रही है। और फिर "ईश्वर एक है" इस विषयक पूर्वोद्धृत अनेक प्रमाणों के वेद में होते हुए इसकी संगति भी कैसे लगेगी यदि इस संख्या को ईश्वर की अनेकता का द्योतक मानने की भूल हम कर बैठें। अथवा, दूसरा समाधान इसका यह है कि देव का अर्थ है दिव्य शक्तियाँ, क्योंकि हम देख चुके हैं कि देव वेद में अचेतन शक्तियों या पदार्थों या चेतन मनुष्य-देवों के लिये भी प्रयुक्त होता है। तब अभिप्राय यह होगा कि इतनी सारी शक्तियाँ परमेश्वर की पूजा कर रही हैं क्योंकि वे परमेश्वर की ही विभूति को बताने वाली हैं। ३३ की संख्या के लिये जो यह वर्णन आता है कि उनमें ११ पृथिवी पर, ११ अन्तरिक्ष में और ११ द्यौ में हैं, इससे भी यही स्पष्ट है कि ये ३३ प्राकृतिक शक्तियाँ हैं। और प्राकृतिक शक्तियों के अनेक होने से ईश्वर के एक होने में कोई व्याघात नहीं आता। इस प्रकार हमने देखा कि देवों के विषय में बहुत्ववाची संख्या या तो परमेश्वरवाची नामों की अनेकता को बताती है या यह बताती है कि परमेश्वर आश्रित अन्य छोटी शक्तियाँ किसी दृष्टि से इतनी हो सकती हैं। और वर्गीकरण के दृष्टि भेद से ये संख्यायें भिन्न भिन्न हो सकती हैं। किसी दृष्टि से इन्हें ३३ में

भी विभक्त कर सकते हैं और किसी दृष्टि से अधिक या कम में भी। इस प्रसंग में बृहदारण्यक उपनिषद् का एक प्रकरण स्मरण आता है—

विदग्ध शाकल्य याज्ञवल्क्य से पूछता है, हे याज्ञवल्क्य! देव कितने हैं? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया तीन हज़ार तीन सौ छः।। फिर पूछा तो उसने उत्तर दिया तेंतीस। फिर पूछा तो कहा छः, फिर तीन, फिर दो, फिर अध्यर्ध और अन्त में वह एक पर पहुँच गया। इस प्रकार एक में दूसरे का अन्तर्भाव करने की दृष्टि के भेद से देवों की संख्या भिन्न भिन्न कही जा सकती है। सबका राजा एक है जो सबसे ऊपर है, इस दृष्टि से एक ही देव है। भोग्य और भोक्ता यह विभाग करें तो दो देव हैं। तीन लोकों का विभाग करें तो तीन देव हैं तीन लोकों के अधिपति उन लोकों से अलग करके गिनें तो छः हो जाते हैं। और अधिक विस्तार में कहे तो ८ वसु, ११ रुद्र, १२ आदित्य, १ इन्द्र और १ प्रजापति ये तेंतीस देव कहे जा सकते हैं। और अधिक विस्तार में जायें तो सृष्टि मे अनेक देव हैं जिसका प्रतीक है तीन हज़ार तीन सौ छः की संख्या। तो इस प्रकार देवों की अनेक संख्या के वर्णन से एकेश्वरवाद में कोई अन्तर नहीं पड़ता।

अनेक देवों की एकता में पुराणों की साक्षी

आइये, ज़रा पुराणों पर भी दृष्टि डालें। यद्यपि पुराणों में बहुत से देवी-देवों की भरमार है, पर वे भी इससे इन्कार नहीं करते कि सब देवता एक ही के भिन्न २ रूप हैं। पुराणों के जो मुख्य देव हैं उनका समावेश त्रिमूर्ति में हो जाता है। स्वयम्भू, परमेष्ठी, पितामह आदि ब्रह्म के ही नामान्तर हैं। नारायण, कृष्ण, जनार्दन, वासुदेव, वामन, हरि आदि विष्णु में अन्तर्भूत हो जाते हैं। त्र्यम्बक, रुद्र, शम्भु, आदि महेश के ही रूपान्तर हैं। तो इस प्रकार पुराणों के प्रधान देव तीन ही रह जाते हैं जिन्हें स्वतन्त्र देव कहा जा सकता है—ब्रह्मा, विष्णु, महेश। पर नहीं, इन तीन देवों को भी वहाँ स्वतन्त्र देव नहीं माना है, बल्कि बड़े स्पष्ट शब्दों में इनकी एकता प्रतिपादित की है। देखिये,

सृष्टिस्थित्यन्तकरणात् ब्रह्मविष्णुशिवात्मिकाः। स संज्ञा याति भगवानेक एव जनार्दनः॥
ब्रह्मत्वे सृजते चैव विष्णुत्वे पाति नित्यशः। संहर्ता एको देवस्त्रिधा मतः॥" वह्निपुराणे.

"भगवान एक ही है पर सृष्टि, स्थित और अन्त इन तीन क्रियाओं को करने से उसके ब्रह्मा, विष्णु, शिव ये तीन नाम पड़ गये हैं। ब्रह्मा रूप में सृष्टि की रचना करता है, विष्णु रूप में जगत का पालन करता, रुद्र होकर जगत का संहार करता है; इस प्रकार एक ही परमात्मा तीन रूपों में कल्पित कर लिया गया है।"

इसी भाव को कालिका पुराण में इन शब्दों में कहा है—

सृष्टिस्थित्यन्तकरणादेक एव महेश्वरः। ब्रह्मा विष्णुः शिवश्चेति संज्ञामाप पृथक् पृथक्॥

कूर्म पुराण मे विष्णु और रुद्र में अभेद बताते हुए कहा है—"विष्णु जी और महादेव जी एक ही हैं इसमें संशय नहीं हैं। अज्ञान के वश होकर वेदनिष्ठ न होने के कारण जो विष्णु को महादेव जी से अलग मानते हैं वे मनुष्य नरक में जाते हैं। और वेदानुवर्ती रुद्र को तथा विष्णु को जो

एक समझते हैं वे मुक्ति के भागी होते हैं,

सदैव देवो भगवान् महादेवो न संशयः ॥ मन्यन्ते ये जगद्योनिं विभिन्नं विष्णुमीश्वराद् ।
मोहादवेदनिष्ठाद्वा ते यान्ति नरकं नराः ॥ वेदानुवर्तिनं रुद्रं देवं नारायणं तथा ।
एकीभावेन पश्यन्ति मुक्तिभाजो भवन्ति ते ॥"

आगे कहा है कि "यद्यपि यह ठीक है कि विष्णु के भक्त उत्कृष्ट से उत्कृष्ट गति पाते हैं, पर इस परम गति को वे नहीं प्राप्त करेंगे जो विष्णु से तो प्रेम करते हैं किन्तु शिव के प्रति द्वेष रखते हैं। विष्णु भगवान् कहते हैं कि जो अनन्य-भाव से मुझे भजता है पर शिवजी की निन्दा करता है वह नरक में पड़ता है।

परात् परतरं यान्ति नारायणपरा जनाः । न ते तत्र गमिष्यन्ति ये द्विषन्ति महेश्वरम् ॥
यो मां (विष्णु') समाश्रयेन्नित्यमेकान्त भावमास्थितः ।
विनिन्दन् देवमीशानं स याति नरकायुतम् । कूर्म०

वाराह पुराण मे भी इसी आशय के श्लोक मिलते हैं। वहां शिवजी कहते हैं—

यो विष्णुः स स्वयं ब्रह्मा यो ब्रह्मा सोऽहमेव च । वेदत्रयेऽपि यज्ञेऽस्मिन् पण्डितेष्वेष निश्चयः ॥
यो भेदं कुरुतेऽस्माकं त्रयाणां द्विजसत्तम । स पापकारी दुष्टात्मा दुर्गतिं समवाप्नुयात् ॥

अर्थात् "जो विष्णु है वही ब्रह्मा है और जो ब्रह्मा है वही मैं (शिव) हूँ। "वेदत्रयी" का तथा पण्डितों का यही निश्चय है। जो हम तीनों में भेद करता है वह पापी, दुष्टात्मा दुर्गति को पाता है"। देखिये, भिन्न भिन्न देवों मे भेद करने वालों के लिये कैसे कठोर शब्दों का प्रयोग किया गया है और यह कहा गया है कि यह भेद करना वेदविरुद्ध है। इस सम्बन्ध में कालिदासादि महाकवियों की "एकैव मूर्तिर्बिभिदे त्रिधा सा" आदि साक्षियां भी दी जा सकती हैं, पर उन्हें हम छोड़ते हैं।

उपसंहार

इस प्रकार भिन्न-भिन्न पहलुओं पर विचार करने और वेद वचनों की पूर्वापर संगति को देखने के पश्चात् हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि वेद निःसन्देह एकेश्वरवादी ही है। जिसने वेद के सब पहलुओं को और आगे-पीछे के सब प्रकार के वर्णनों को नहीं देखा है उसे तो अवश्य यह सन्देह होगा कि शायद वेद बहुत से देवताओं पर विश्वास लाने को कहता है। पर जब हम वेद का सर्वांग रूप में अध्ययन करते हैं तब यह स्पष्ट हो जाता है कि वेदवर्णित अग्नि, इन्द्र, सोम, आदि देव एक ही ईश्वर के अनेक नाम हैं। और जब वे ईश्वर भिन्न पदार्थों के बोधक होते हैं तब भी वे पृथक् स्वतन्त्र देव नहीं होते, बल्कि एक चक्रवर्ती के नीचे काम करने वाली तदाश्रित शक्तियां ही होते हैं। इसलिये तब भी वेद का एकेश्वरवाद वैसा ही बना रहता है। तो वेद को प्रमाण मानना, और फिर भी अनेकेश्वरवादी या बहुदेवतावादी होना ये परस्पर विरोधी बातें हैं। वेद को प्रत्येक हिन्दू-समाज एक पवित्र पुस्तक और अन्तिम प्रमाण स्वीकार करता है। इसलिये उन लोगों को जो अन्ध विश्वास में पड़ कर जड़-चेतन नाना देवी-देवताओं की पूजा के चक्र में पड़े हुये हैं क्रियात्मक रूप में वेद के इस एकेश्वरवाद को अपनाना चाहिये। और वेद का यह एकेश्वरवाद अधिकाधिक प्रकाश में लाया जाना चाहिये, क्योंकि इसे बिना समझे वेद के अर्थ भी यथार्थ रूप में नहीं समझे जा सकते।

ऋषि दयानन्द तथा प्रो० मैक्समूलर

[ले—श्रीमती ओमवती जी एम. ए.; एम. ओ. एल., शास्त्री कृष्णनगर]

लिखित मपि ललाटे प्रोज्झितुं कः समर्थः । 'करम गति टारे नाहिं टरी'

सुनते आये हैं कि पुरातन काल में भगवान कृष्ण के जन्म समय आकाशवाणी हुई थी कि दुष्टों के दमन के हेतु श्रीकृष्ण ने अवतार लिया है । राजकुमार सिद्धार्थ के लक्षणों को देख कर ज्योतिर्विदाभासों ने उनके विषय में बड़ी २ भविष्य वाणियां की थीं किंतु इस कलिकाल की १६वीं सदी के प्रथम पक्ष में ऐसा प्रतीत होता है कि कदाचित् विधि को भी भास नहीं था कि भारत के सुदूरवर्ती काठियावाड़ गुजरात के मोर्वी नामक राज्य के अंतर्गत टंकारा नामक एक ग्रामटिका में शैव धर्मावलम्वी उदीच्य ब्राह्मण कुल में १८२४ ई० में बालक मूलशंकर रूपी एक अरुण बाल-रवि प्रादुर्भूत हो रहा है । जिसकी वैदिक विज्ञान रूपी तरुण देदीप्यमान रश्मियां अविद्या रूपी तम को छिन्न भिन्न कर अपने प्रबल विद्या प्रताप से केवल प्राची दिग् को ही नहीं; अपितु दिग्दिगन्तरों को भी प्रकाशित कर देंगी ।

कौन जानता था कि पौराणिक कल्पित कथा के अनुसार सतयुग में सिंहावतार ने जैसे हिरण्यकश्यप राक्षस को मार गिराया था कलियुग में यह ब्रह्मचारी मूलशंकर (महादेव के वरदान से) ऋषि दयानन्द बन कर मूर्ति पूजा रूपी दानव का नाश कर देगा ।

कल्पनातीत था कि त्रेता युग में बनवासी भगवान राम द्वारा राक्षस रावण के विध्वंस के समान यह वास्तविक तथ्य की खोज में जंगल २ की खाक छानने वाला यह लंगोट-बन्द वेद पुजारी (तरुण) वाल संन्यासी निर्भीक दयानन्द पाखंड खंडिनी पताका हाथ में लेकर विश्व के मतमतान्तर रूपी राक्षसों की पोल खोल कर परास्त कर देगा ।

किसी को स्वप्न में भी अनुमान न था कि द्वापर में आनन्द कन्द भगवान श्रीकृष्ण ने कंस राक्षस का नाश कर, जिस प्रकार पीड़ित प्रजा का आर्तनाद श्रवण कर, उनको उबारा था उसी भांति पतितोद्धारक दयानन्द अपनी अपरिमित दया का विस्तार कर यावनी, इसाई, प्रभृति सभ्यताओं के मायावी जाल से भारतियों को सचेत कर वेद वंशी की तान सुनाकर श्रीकृष्ण की भांति जगत को मोह लेगा । उसी प्रकार (back to the vedas) 'वेदोक्त मार्ग पर चलो' अपने उस अलबेले राग को अलाप कर ऋषि ने समग्र संसार को चकित और मंत्र मुग्ध की न्याई (spell bound) मोह लिया । गीता का उपदेश देकर महाराज कृष्ण ने जिस प्रकार अर्जुन को कर्तव्यपथ प्रदर्शित किया था, ऋषि दयानन्द ने गेहूं में घुन की भांति तथा क्षय रोग के कीटाणुओं से जर्जरित शरीर की न्याईं पाश्चात्य संस्कृत रूपी कीटाणु से आक्रांत अभागे भारत को, स्वराज्य और स्वदेश के संदेश रूपी इन्जेक्शन देकर परतन्त्रताओं की शृङ्खलाओं में जकड़े हुए विदेशियों से पादाक्रान्त, अविद्या की निद्रा में ग्रस्त इस भाग्यहीन

धन-धान्य समृद्धि हीन, प्राचीन वैभव विहीन मलीन हत भारतवर्ष देश को सत्यार्थप्रकाश रूपी (Beacon light) मार्गदर्शक दीपक दिखावेगा।

किसे ज्ञात था कि यवन मत प्रवर्तक पैगम्बर साहब की न्याईं यह तपस्वी, निःस्वार्थी परोपकारी दयानन्द जाति बन्धन तथा छूआ छूत की चांडालिनी प्रजा से ओत प्रोत खंड २ हुए भारत को पुनः 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' तथा 'संगच्छध्वं संवदध्वं' के पाठ सुनाकर पुनः वैदिक विश्व प्रेम तथा मातृत्व का उपदेश कर करोड़ों देवी देवताओं के पुजारी भारतीयों को पुनः एकेश्वरवादी बनावेगा।

किसी ने जाना कि सांसारिक दुःख दर्द का निरीक्षण कर जिस प्रकार राजकुमार सिद्धार्थ संसार विरक्त हो गये थे बालक मूलशंकर भी भगिनी और चाचा की मृत्यु से स्तम्भित हो मृत्यु तथा जग के कष्टों से बचने के उपाय ढूँढने के लिए महात्मा बुद्ध के गृह-परित्याग की न्याईं ऋषि दयानन्द बन कर सत्य की खोज में आजीवन रत रहेगा।

कौन सोचता था कि यह बालक मूलशंकर भविष्य में दयानन्द नाम से विख्यात होकर महात्मा येसूमसीह की भांति मनुष्य मात्र को बन्धनों से मुक्त करेगा।

पुराणों में अलंकारिक गाथा है कि देवदानवों ने समुद्र मंथन कर अमृत प्राप्त किया था किन्तु अर्वाचीन युग में हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि क्रांतिकारी दयानन्द ने दुःसह प्रयत्न कर अपनी अनुपम विद्वत्ता, अद्वितीय निर्भीकता, अलौकिक योगविद्या तथा ज्ञानबल की मथानी मथानी से प्राचीन वैदिक साहित्य का आलोडन कर विश्व की विभूतियों का सार विशुद्ध वैदिक धर्म रूपी अमृत प्राप्त कर, मृत प्राय अस्थि पिंजर मात्रावशेष दीन, हीन, जीर्ण, क्षीण, जराक्रांत आर्य जाति पर छिड़क कर (सिंचन कर) उसको पुनः सजग कर दिया। पथ प्रदर्शक मृत्युञ्जय दयानन्द ने बता दिया कि वैदिक धर्म ही आर्य जाति का प्राचीन तम आदिम कालीन धर्म है। और केवल विशुद्ध वैदिक ज्ञान ही मनुष्य मात्र के लिए कल्याण का साधन है।

उन्हों ने बताया कि वेदज्ञान जगन्नियन्ता जगदीश्वर की पवित्र वाणी है, प्राणीमात्र के हितार्थ यह ज्ञान कल्प २ के आदि में विश्वविधाता की महिमा से आविर्भूत होता रहा रहेगा (ऋतञ्च सत्यञ्चा भीद्धात्तपसोऽध्यजायत) इसी से इस ज्ञान को प्रवाह रूप से नित्य कहते हैं।

ऋषि दयानन्द के आविर्भाव काल में देश अविद्या की निद्रा में सो रहा था। इतना अशिक्षित था कि भारतीयों को वेदों का केवल नाम मात्र से ही परिचय था वास्तविक वेदोक्त शिक्षा क्या है इसे कोई भी न जानता था। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण सुनिए "राबर्ट डि नोबली नामक पुर्तुगीज पादरी ने एक मन गढंत वेद पाश्चात्य सभ्यता क प्रचार करने के लिए बना लिया अपनी प्राचीन वैदिक विद्या और सभ्यता से अनभिज्ञ भारतीय जनता धड़ाधड़ ईसाई बनने लगी प्रतीत होता था कि ईसाई सभ्यता वैदिक सभ्यता को निगल जायगी किन्तु—

तेजस्विनः सुख मसूनपि संत्यजन्ति, सत्यव्रत व्यसनिनो न पुनः प्रतिज्ञाम् ।

वन २ की, जंगल २ राख छान कर सत्यविद्या को खोजकर सत्यव्रती दयानन्द ने विरजानन्द जैसे गुरु को पाकर उनके सन्मुख वैदिक ज्ञान फैलाने तथा अविद्या को निर्मूल करने की दृढ़ प्रतिज्ञा कर ली। जिस पर वे पत्थर की चट्टान को तरह अटल रहे। सन्त तुलसीदास जी के वचनों में "रघुकुल रीति सदा चलि आई, प्राण जाहिं पर वचन न जाई।" अन्त तक निबाहा।

इसी उन्नीसवींशती के प्रारम्भ में योरप में ऋषि के समकालीन एक महानुभाव प्रो० मैक्समूलर वैदिक-साहित्य क्षेत्र में अवतीर्ण हो चुके थे। इन्होंने संस्कृत भाषा तथा वैदिक-के विषय में वहां एक युगान्तर परिवर्तित कर दिया था। वेदों के प्रति इनकी अगाध श्रद्धा थी। उन्होंने युवावस्था में पदार्पण करते ही भारतीय संस्कृति तथा शिक्षा-विषयक साहित्य लिखना प्रारम्भ कर दिया था किन्तु वेदार्थ के विषय में प्रायशः उनके वही विचार थे जो उनके पूर्ववर्ती (स्कालरों) जिज्ञासुओं के थे। उदाहरणरूप कुछ सिद्धांत देखिए—

१. वेद १२०० B. C वर्ष से अधिक प्राचीन नहीं।

२. वेद इतिहास हैं, देवी देवताओं की पूजा से भरे पड़े हैं।

३. वेदों में मांस भक्षण तथा यज्ञों में पशुबलि विधान है।

४. वैदिक ऋषि ही वेद के निर्माता हैं, द्रष्टा नहीं।

५. वेद में कोई विशेष दार्शनिक विचार नहीं हैं।

६. वेद भिन्न २ समय पर भिन्न २ देश में इकट्ठा किये गये।

अन्य योरोपियन स्कालरों की भांति वेद की शिक्षा के विषय में प्रो० मैक्समूलर के विचार भी अस्त-व्यस्त प्रतीत होते हैं, एक स्थान पर वेद विषयक उनकी कुछ धारणा है दूमरे स्थान पर उसी विषय पर वे भिन्न मत प्रगट करते। जैसे अपनी पुस्तक History of Ancient Sanskrit literature २५ पृष्ठ पर वे लिखते हैं—

"In the songs of the Rig-Veda we find but little of Philosphy, but we do Occasionally meet with wars of Kings, with rivalries of ministers with......imprections."

अर्थात् वेदों में वैज्ञानिक बातें तो बहुत कम हैं अपितु यत्र तत्र राजाओं के लड़ाई-झगड़े ही दृष्टिगोचर होते हैं। परन्तु इसके विरुद्ध उसी पुस्तक के पृष्ठ ३१ पर वे लिखते हैं—

"The Hindus were a nation of Philosophers. ....

अर्थात् हिन्दू एक दार्शनिक-जाति थी। हम पूँछते हैं कि यदि वेदों में दर्शन ही नहीं है तो वैदिक व प्राचीन कालिक भारतियों में दर्शन कहां से आया क्योंकि हमारी प्राचीन वैदिक सभ्यता की आधार शिला तो वेद ही है। ७८–७९ पृष्ठ पर वे विस्तार पूर्वक लिखते हैं कि प्राचीन ब्राह्मणों ने (हिन्दुओं ने) किस प्रकार विज्ञान व दर्शन का विस्तार किया और वेद को अपने

विज्ञान और दर्शन का आधार माना। उनके मतानुसार बौद्ध लोग भी वेदों के इसलिये विरुद्ध हुवे कि ब्राह्मण लोग अपने विज्ञान और दर्शन का आधार वेद को मानकर बुद्ध धर्म पर आक्षेप करते थे इस कारण बौद्धों ने पहिले वेदों पर प्रहार किया।

वेदों के प्रति प्रो० मैक्समूलर की अगाध श्रद्धा होते हुवे भी, उनकी उत्पत्ति तथा रचना के विषय में वे पाश्चात्य विद्वानों के मत से अपना दृष्टिकोण तनिक भी परिवर्तित न कर सके। उसी पुस्तक के ६१–६५ पृष्ठ पर वे लिखते हैं कि वेद उन ऋषियों की कृति है जिनका नाम उनके साथ दिया गया है। अर्थात् ऋषि वेद के द्रष्टा नहीं अपितु, कर्ता हैं। स्मृतियों में भी उन्हीं बहुत से ऋषियों का वर्णन आता है जो वेद के कर्ता हैं। साथ ही उनके विचार में यह भी आ गया है कि ब्राह्मणों ने तथा प्राचीन हिन्दुओं ने जान-बूझकर वेद को ईश्वरीय ज्ञान सिद्ध किया है जिससे कि ईश्वर के नाम पर अपने विचारों का भली-भांति प्रचार किया जा सके।

वेदों को यत्र तत्र विज्ञान और दर्शन की पुस्तक मानते हुवे भी प्रो० मैक्समूलर वेद का मुख्य विषय इतिहास ही मानते हैं पृष्ठ ६३ पर वे लिखते हैं कि—

The Veda has a twofold interest it belougs to the History of the world and to the history of India. In the history of the world the Veda fills a gap which no literary work in any other language could fill.''

भाव यह है कि न केवल भारतवर्ष के ही इतिहास में, अपितु समस्त संसार में वेद एक ऐसे रिक्त स्थान की पूर्ति करते हैं, जो भूमण्डल की किसी भी भाषा की कोई पुस्तक नहीं कर सकती। अन्ध श्रद्धा से युक्त उनकी इस उक्ति ने वैदिक सभ्यता पर भारी प्रहार किया। इस विश्वास के अनुसार उन्होंने वेदों में, प्रायः वह सारे ऐतिहासिक मान लिये जिनका सायण ने अपने भाष्य में उल्लेख किया है।

सायणाचार्य के सदृश वेदों में पशुबलि दिखाने के लिए मैक्समूलर साहब ने उक्त पुस्तक के ५५३ पृष्ठ पर ऋग्वेद मण्डल प्रथम सूक्त १६२ का अनुवाद करते हुवे सारे सूक्त को यज्ञों में पशुबलि परक ही लगाया है उदाहरणार्थ उक्त सूक्त का ११ वां मन्त्र देखिये वे अर्थ करते हैं।

"The Gvice that flows from thy roasted birds on the spite after thon hart been filled may it not run on the earth or the grass; may it be. Given to the gods who deserve it"

किन्तु ऋषि की अर्थ धारा नितान्त भिन्न है वे लिखते "निरन्तर चलायमान हुयी तुम्हारी क्रोधाग्नि से तपाये हुवे हाथ जो शस्त्र शूल के समान पीड़ा कारक शत्रु के सन्मुख चलाया जाता है वह भूमि में न गिरे वा लगे और वह घासादि में मत आश्रित हो किन्तु शत्रुओं को ही मारने वाला हो।"

विज्ञ पाठक स्वयं ही अनुमान कर सकते हैं कि आकाश पाताल का अर्थ भेद है। यह समुद्र में बिन्दुमात्र है।

करने को तो प्रो० मैक्समूलर अनुवाद कर गये परन्तु अपने अनुवाद से उन्हें स्वयं सन्तोष न हुवा उन्हें इस बात का अनुभव हो गया कि वे इस सूक्त का अर्थ ठीक नहीं समझ सके अतः वे अपनी कमज़ोरी को इस भांति गोपन करते है But this is not............... period आश्चर्य यह है कि वे उचित अर्थ न समझ सके किन्तु उपालम्भ वेद को दे दिया कि वेद के ऐसे भी स्थल हैं जोकि स्पष्ट और सार्थक नहीं प्रतीत होते।

अन्य पाश्चात्य विद्वानों की भांति प्रो० मैक्समूलर ने वेदों को मनुष्य कृत तो माना ही है किन्तु वेद को भिन्न २ समय की उपज भी माना है। उनके विचार में चारों वेदों में विषय, देशकाल और सभ्यता का भेद स्पष्टतया प्रतिभासित हो रहा है जैसाकि वे मानते हैं कि ऋग्वेद का सम्बन्ध पंजाब से है, उसका निर्माण आर्यों ने उस समय किया जबकि वे पंजाब की सीमा से बाहर नहीं गये थे।

इसी प्रकार वे लिखते हैं कि ऋग्वेद सब से प्राचीनतम है और इसमें उन आर्यों का वर्णन है जिनका अधिक समय लड़ने-भिड़ने और शत्रुओं की मारकाट में बीतता था। अर्थात् ऋग्वेद की सभ्यता एक लड़ाका-जाति की सभ्यता है। यजुर्वेद का निर्माण ऋक् के पश्चात् हुवा उस समय आर्य लोग गंगा और यमुना के मध्यवर्ती भाग में फैल गये थे। अन्य योरोपियन आचार्यों की न्याई ये भी यजुर्वेद में आर्यों की उस सभ्यता वर्णन मानते हैं जबकि वे प्रायः शत्रुओं से निश्चिन्त होकर अपने कर्मकाण्ड प्रधान जीवन में रत थे। पाश्चात्य विद्वानों की दृष्टि में सामवेद का कोई महत्व ही नहीं। अथर्ववेद की रचनायें बहुत पीछे की मानते हैं इसकी भाषा और विषय दोनों ही उन्हें नवीन प्रतीत होते हैं इस प्रकार प्रो० मैक्स के मत में चारों वेदों का निर्माण भिन्न २ समय में, भिन्न लेखों द्वारा, भिन्न परिस्थितियों में हुवा।

दूसरे पक्ष में आर्य-जनता ही क्या, प्रत्येक भारतीय चाहे कोई मतावलम्बी हो सब को स्पष्टतया ज्ञान है कि ऋषि दयानन्द के सिद्धान्त वेद के विषय में अटल, निश्चित और स्पष्ट थे। उनके ऊपर किसी तत्कालीन आचार्य का प्रभाव नहीं पड़ा।

सत्य तो यह है कि ऋषि का मस्तिष्क इतना स्पष्ट था कि वहां किसी व्यामोह को लेश मात्र भी स्थान नहीं। सायण ने मीमांसा के प्रभाव से भूमिका में सिद्ध कर दिया कि वेदों में इतिहास नहीं किन्तु पौराणिक प्रभाव से अर्थ करते समय इतिहास लिखते चले गये। ऐसी अस्त व्यस्त बातें ऋषि कृति ग्रन्थों में नहीं हैं। तथाच मैक्समूलर कहीं वेदों को विज्ञान प्रधान, कहीं इतिहास प्रधान, कहीं आख्यान प्रधान तो कहीं कर्म काण्ड प्रधान मानता है किन्तु ऋषि ने इसके विपरीत वेदों के यथार्थ स्वरूप का निरूपण किया है। वे वेदों को अपौरुषेय और अनादि काल से मानते हैं उनके मत में वेद ईश्वरीय ज्ञान है जो कि मनुष्य मात्र के हितार्थ है चाहे वह किसी देश व जाति का हो।

ऋषि वेदों में किसी भी प्रकार का इतिहास नहीं मानते। उनके अर्थ की प्रक्रिया

यौगिक है। उनके विचार में वेदों में जो नाम आये हैं वे व्यक्ति विशेषों के नहीं अपितु सामान्य पदार्थों के हैं।

आर्य जाति पर बहुत दिनों से कलंक का टीका लगाया जा रहा था कि वे बहुदेवता वादी हैं और कहा जाता था कि वेदों की यही शिक्षा है परन्तु ऋषि ने संदिग्धार्थ व्यक्त करके संसार में आर्य जाति के मस्तक को उन्नत कर वेदों के गौरव को विश्व में पुनरुज्जीवित कर दिया। उन्होंने सिंहनाद करके घोषणा करदी कि वेद में मांस भक्षण, और यज्ञों में नरबलि पशु बलि सब कपोल कल्पना है। जिन मन्त्रों द्वारा उपरोक्त दोषारोपण होते थे और आर्य जाति हिंसक तथा क्रूर सिद्ध की जाती थी, आर्य संस्कृति के पुरस्कर्ता ऋषि ने उन्हीं मन्त्रों के यथार्थ अर्थ करके वैदिक शिक्षा का गौरव स्थापित कर दिया।

आर्य जनता विज्ञ है कि यद्यपि ऋषि दयानन्द से प्रो० मेक्समूलर का साक्षात्कार नहीं हुआ तथापि ऋषि उनके सिद्धान्तों से भली-भांति परिचित थे। उन्होंने स्थान २ पर अपनी पुस्तक ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका तथा ऋग्वेद भाष्य में इसका दिग्दर्शन कराया है और उनकी भ्रमात्मक उक्तियों का खण्डन भी कर दिया है।

जैसे ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका के उपासना विषय में "युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषं चरन्तं······ दिवि। ऋ० अ० १। अ० १। व० ११। मं० १। की व्याख्या करते हुये ऋषि तीन प्रकार के अर्थ करते हैं और लिखते हैं। "परमेश्वरात् महान् कश्चिदपि पदार्थो नास्त्येवातः प्रथमोऽर्थो ग्रा-नीयम्·········एवं सति भट्टमोक्षमूलरऋग्वेदस्येङ्गलेण्डभाषाय व्याख्याने यदस्य पशोरर्थे ग्रहणं कृतं तद्भ्रान्ति मूलमेवास्ति।·········प्रमाणार्हनास्तीति। इस प्रकार के सैकड़ों निदर्शन प्रस्तुत किये जा सके हैं।

यद्यपि साधारण जनता को यह भ्रम होता कि मैक्समूलर ऋषि सिद्धान्तों से सदा अपरिचित रहे तथा वैदिक संस्कृति के विषय में उनका विचार परिवर्तन जिसका दिग्दर्शन उनकी "India what can it teach" से होता है—क्रमशः उनके अपने मस्तिष्क विकारों का फलस्वरूप था। किन्तु यह उक्ति नितान्त भ्रम मूलक है। ऋषि दयानन्द की कीर्ति कौमुदी पश्चिम में उनके जीवन काल में ही यथेष्ट प्रसरित थी। जिसका वर्णन श्री अमेरिकन एन्ड्रो-जैक्सनडेविस तथा फ्रेंच श्री जकोलियट ने किया।

सुतरां यह कल्पनातीत है कि ऋषि जैसे क्रान्तिकारी योगी से प्रो० मैक्समूलर परिचित नहीं। उन्होंने अपनी उपरोक्त पुस्तक में ८५ सफे पर (we may devide the......following it) वाक्य में ऋषि दयानन्द तथा ऋग्वेद भाष्य भूमिका दोनों का उल्लेख किया है इसके अतिरिक्त अन्य प्रमाणों से विवश होकर मानना पड़ता है कि प्रो० मैक्समूलर ऋषि सिद्धान्तों से उनके जीवन काल में ही भली-भांति परिचित थे और उनकी उक्त पुस्तक में विचार परिवर्तन होना ऋषि सिद्धान्तों का ही प्रभाव है।

चाहे वह इसको खुले शब्दों में स्वीकार कहीं पर भी नहीं करते। किन्तु ऋषि के प्रति उनकी श्रद्धा थी यह उनके ऋषि के निर्वाण पर लिखी हुई श्रद्धांजलि से स्पष्ट प्रतीत होता है।

१. कई वर्षों तक ऋषि का सम्बन्ध थियोसाफिकल सोसायटी से रहा था उस समय उसने योरप तथा अमेरिका में ऋषि सिद्धान्तों का प्रचार किया था। जिससे जो जन वैदिक सभ्यता तथा संस्कृत साहित्य से अनभिज्ञ थे वे भी ऋषि के विषय में बहुत कुछ जान गये थे तो प्रो० मोक्ष कैसे अनभिज्ञ रह सक्के थे।

२. लण्डन में आर्य्य समाज स्थापित हुआ था वहा के आर्य समाजियों ने प्रो० मैक्षमूलर को निमन्त्रित किया था। वे विवशता से उपस्थित न हो सकें किन्तु अपने सहयोग तथा आश्वासन का पत्रद्वारा १४ अक्तूबर १८८७ में प्रदर्शन किया था और समाज की सफलता की कामना की थी। आर्यसमाज से परिचय होना और ऋषि सिद्धान्तों से अपरिचित होना दोनों विरुद्ध बातें कैसे हो सकती।

३. भारत में आर्य समाज और सनातन धर्म में कई बार शास्त्रार्थ हुवे उनमें एक दो बार मध्यस्थ बनने के लिये प्रो० मैक्षमूलर बुलाये गये यद्यपि आ नहीं सके। किन्तु अपनी सम्मति उन्होने उस विषय पर पत्र द्वारा भेजी।

किन्तु प्रो० मैक्षमूलर ने स्वीकार कहीं पर नहीं किया कि ऋषि सिद्धान्तों ने उनका विचार परिवर्तन करने में सहायता दी। कैसे करते साहित्य क्षेत्र में ऐसे उदार महानुभाव विरले ही होते हैं जो दूसरे के उत्कर्ष को सहन करें।

देखिये कालिदास जी ने अपनी पुस्तकों में अपने प्रति स्पर्धी अश्वघोष का नाम भी नहीं लिया।

आधुनिक युग में मिस मेयो ने भारत में भ्रमण कर "motter India" लिखी और जो भारत के सुधार के हेतु विचार प्रगट किये प्रायः वे आर्य समाज ने पूर्व ही प्रारम्भ किये थे। तथापि उसने उल्लेख नहीं किया जिससे सुधार दर्शन का सेहरा उसके मत्थे पर बंधा रहे। भारत में घूमना और आर्य समाज से अपरिमित होना कैसे हो सकता है। इसी स्पर्धा के भाव से प्रो० मैक्ष दयानन्द का प्रभाव स्वीकार करने में संकोच करते रहे परन्तु उनके प्राथमिक तथा आनुसंगिक विचारों के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि वे वैदिक साहित्य के अध्ययन में दयानन्द के ऋणी अवश्य हैं।

भारतीय संस्कृत वैदिक सभ्यता के प्रति

प्रो० मैक्समूलर की श्रद्धा की पराकाष्ठा के किंचित उद्धरण उनको "India andwhat it can teach us" से यहां दिये जाते हैं।

अपनी उक्त पुस्तक के ५वें पृष्ठ पर वे लिखते हैं संस्कृत भाषा के प्रति अपना अगाध प्रेम प्रदर्शन इस प्रकार करते हैं "......that Sanskrit literature, if studied only in a

right spirit, is full of human interests, full of lessons which even Gree could never teach us, a subject worth to occupy the leisure, and mo than the leisure, of every Indian Civil servant"

इसी प्रकार आगे चल कर भारत के विषय में लिखते हैं ६ठे पृष्ठ पर—"If I were look over the whole world to find out the country most richly endow with all the wealth, power and beauty that nature can bestowe in sor parts a very paradise on earth I should point to India. If I were ask under what sky the human mind has most fully developed some of choicest gifts, has most deeply pondered on the greatest problems life, and has found solutions of some of them which well deserve t attention even of those who have studied Plato and Kant—I should poi to India. And if I were to ask myself from what literature we, here Europe, we who have been nurtured almost exclusively on the thougl of Greeks & Romans, and of one Semitic race, the Jewish, may dra that corrective which is most wanted in order to make our inner l more perfect more Comprehensive, more universal, in fact more tr human, a life not for this life only, but a transfigured and eternal l —again I should point to India.

पुनश्च वे प्राचीन भारत के मानसिक विकास के अभ्ययन के विषय में १४ पृष्ठ पर लिखत "And in that study of the history of the human mind, in that study ourselves, of our true—selves, India occupies a place, second to no otl country. What aver sphere of the human mind you may select for yo special study, whether it be language, or religion, or mythology, philosophy, whther it be laws or customs, primitive art or primiti science, every where, your have to go to India, whether you like it not, because some of the most valuable and most instructive materi in the history of man are treasured up in India and in India only.

यह तो साधारणतया विचार का दिग्दर्शन हुआ अब वैदिक साहित्य के विषय में लीजिये ११२ पृष्ठ पर वे लिखते हैं "I maintain then that for a study of man, or, if y like, for a study of Aryan humanity, there is nothing in the world eq in importance with the Veda. I maintain that to every body who ca for himself, for his ancestors, for his history, or for his intellect development a study of Vedic literature is indispensable"........आगे देखें महाराज मनु का जो विख्यात "एतद्देश प्रसूतस्य"......नामक श्लोक है उसके भाव से प्रो० मैक्सम पूर्ण तया सहमत प्रतीत होते हैं वे पृष्ठ ११६ पर लिखते हैं: -"The ancient literature

ndia ... both by its language the Sanskrit, and by its most ancient terary documents, the Vedas can teach us संस्कृत को भाषाओं की, और वेदों को महान सभ्यताओं की जननी माना है lessons which nothing else can teach as to ie origin of our own language, the first foundation of our own concepts, nd the true natural germs of all that is comprehended under the name ' Civilization, at least the civilization of the Aryan race, that race to hich we and all the greatest nations of the world—the Hindus, the erseas the Greeks and Romans, the slaves, the Celts and last, not least, ie Teutons, belong".

इस प्रकार की श्रद्धांजलियों से पुस्तक ओत प्रोत है किन्तु वैदिक अर्थों के आभ्यन्तरीय चार परिवर्तन का १४७ पृष्ठ पर दिग्दर्शन होता है जहां पर वे देवता, ऋषि सम्बन्धी भाव प्रकट करते "......they are things, persons, causes, ..and if we call them gods or oddesses, we must remember the remarks of an ancient native theolog- n, who reminds us that by devta or deity be means no more than the oject celebrated in a byum, while Rishi or seer means us more than the bject or the author of a hyum". प्रो० मैक्स का यह विचार परिवर्तन महर्षि की वेदादि भाष्य भूमिका पढ़ने के पश्चात ही हुआ प्रतीत होता है, अन्यथा उनका वेद भाष्य और ही ार लिखा जाता है।

पाश्चात्य विद्वद्वर परमश्रद्धालु प्रोफेसर मैक्समूलर अपनी "India what it can ach us" में जिस ओजस्विनी भाषा तथा प्रशंसनीय भावों में पाश्चात्य नवयुवकों को वैदिक हित्य, सभ्यता, तथा संस्कृति से सम्यक परिचय प्राप्त करने के लिये उसके पठन पाठन को वश्यकीय और श्रेयस्कर मान कर प्रोत्साहित करते हैं; उससे उनकी अनन्य श्रद्धा और श्वास को देखकर चित्त गद्‌गद हो जाता है। उनके सदुपदेश से यदि हजारों में एक भी श्चात्य विद्यार्थी इस ओर अग्रसर हो जाय तो मानों वे सम्यक कृतकार्य हो गये। किन्तु श्चमी सभ्यता तथा शिक्षा से ओत पोत आधुनिक भारतीय नवयुवकों की मोहनिद्रा पर कौन ामृत सिंचन करके सजग करेगा ? उनके विचार में संस्कृत जननी अब dead language और वेद पाठ 'बाम्हन महाशयों' का काम है up to date जेन्टलमैनों का नहीं। कैसी ी पौराणिक जटिल रूढ़ियों तथा पाखण्डों के अंधकार से ऋषि दयानन्द ने उनको वेदार्थ ाक दिखाकर सुपथ दिखाया। क्या यह आर्यसमाज ऋषि चरणों पर चलकर पुनः उनको शैतान उस विख्यात मायाविनी, चित्रविचित्र बहुरूपिणी "विपरस भयानक घट जैसे" अत्यन्त ोहारिणी पाश्चात्य सभ्यता के पास से मुक्त करने की क्षमता रखता है ? कहा यह अपने दिक मैगजीन संचालक से देश देशान्तरों में वैदिक सिद्धान्तों का संदेश पहुंचाने वाले, श्चमी सभ्यता की पोल खोलने वाले, ऋषि के अनन्य पुजारी, विद्वद्वर आङ्गलभाषा के

आचार्य, धन धान्य को ठुकरा कर अपने तन मन को वैदिक धर्म की समृद्धि तथा सेवा में अर्पण करने वाले स्वनाम धन्य रामदेव जी, के पदचिन्हों का अनुयायी बनकर "Lives of great men all remind us, we can make our life sublime" की युक्ति को चरितार्थ कर सकता है ? हां कर सकता है यदि मानसिक कामना प्रवल हो, भक्ति और श्रद्धा से अन्वित हो यदि वह लक्ष्मी को सरस्वती की दासी बना रक्खे, धन की सेवा से तन तथा मन की सेवा को उच्च स्थान देकर धन के प्रभाव में न फंसे तब।

यदि वह कर्म योग की शिक्षा देने वाले भगवान कृष्ण के मत्थे गोपियों की रास लील मढ़ने वाले अनुयायियों की भांति पथ भ्रष्ट न होगा तब!

अहिंसा और कठोर तप द्वारा ही मोक्ष साधन कराने वाले महात्मा बुद्ध के हिंसक, क्रूर मांसभक्षी पाखंडी चेलों की न्याईं पाखंड में न फंस जाय तब।

यदि "Father hood of God and brother hood of man" का पाठ पढ़ाने वाले पैगम्बर मुहम्मद साहेब के तस्सुब वाले चेले अदूरदर्शी मुसलमानों की भांति असहिष्णु न बन जाय।

यदि यह विश्व प्रेम का संदेश देने वाले, बंधन मुक्त करने वाले महात्मा ईसा के अनुयायियों की तरह स्वार्थान्ध न बन जाय तब।

यदि यह संसार को चकित कर देने वाले वर्तमान युग के प्रवर्तक, संसार को शारीरिक, मानसिक तथा अध्यात्मिक उन्नति करने का मार्ग दिखाने वाले, अविद्या की बेड़ियां काट कर रूढ़ियों, कुरीतियों, मूर्तिपूजा, नरपूजा के जंजाल से खींचने वाले उस अखण्ड बाल ब्रह्मचारी यति ऋषि के, लक्ष्मी के उपासक, मनसे पश्चिमी सभ्यता के उपासक, विमाता इङ्गलिश से आदि जननी देववाणी को पादाक्रान्त कराने वाले, मांसाहारी, असंयमी, अब्रह्मचारी, सहशिक्षा के पोषक आर्यसमाज को समझ कर मनमाने रास्ते पर खींच ले जाने वाले स्वार्थान्ध अनुयायियों की भांति विवेक शून्य न हो जाय तब!

हम हृदय से कामना करते हैं कि भगवान करे 'आर्य' इन सब जालों को काट कर विशुद्ध वैदिक सभ्यता का संदेशहर बन कर उसका संदेश देश देशान्तरों द्वीप द्वीपान्तरों में पहुंचावे। वैदिक धर्म की देदीप्यमान पताका भूखंड के प्रत्येक प्रदेश में लहराये और पुनः हवन धूम्र से तथा वेद मंत्रों की पवित्र ध्वनि से वसुंधरा गुंजायमान हो जाय और विश्व का कल्याण हो और पाठकवृन्द भी तथास्तु कहें॥

विश्व का अन्तिम सत्य

[श्री जगदीश जी आयुर्वेदालंकार]

इस धरती पर जब से प्रथम पुरुष ने अवतार लिया तब से लेकर अब तक मनुष्य ने प्रकृति ो जानने की कोशिश की है। परन्तु इतने दीर्घ काल के सतत परिश्रम के बाद भी हम यह दावा हीं कर सकते कि हमने विश्व का वह अन्तिम पूर्ण सत्य पा लिया है, जिसके सहारे से विश्व की ामस्त समस्याओं का समाधान किया जा सके ; और न उस पूर्ण सत्य के कभी प्रगट होने की ंभावना ही है।

इस महान् प्रकृति का अणु अणु गतिमान है। द्रव्य या 'मेटर' इन 'अणुओं को विशेष ्कार की गति का ही नाम है। प्रकाश जिसके द्वारा हमें पदार्थों की सत्ता की प्रतीति होती है, वह ी निश्चित संख्या में इकत्रित हुए 'पटमों' की एक निश्चित दिशा में गति का ही नामकरण है। और ही बात ताप और विद्युत आदि पदार्थों के बारे में है जिन्हें हम भूल से शक्तिरूप मानते रहे हैं। व यह सृष्टि प्रतिक्षण गतिमान और परिवर्तनशील है तो कोई भी एक सिद्धान्त स्थिर नहीं किया ा सकता। भारतीय दर्शन में सृष्टि के सम्बन्ध में जो विभिन्न विचार देखने में आते हैं उसका यही ारण है। सांख्य, वैशेषिक, न्याय मीमांसा, योग, बौद्ध, जैन और चार्वाक आदि परस्पर एक ूसरे का खण्डन करते हैं। परन्तु वे सब एक सीमा के अन्दर सत्य हैं। अपनी परिधि के बाहिर असत्य है। सांख्य ने मौलिक तत्व २५ माने हैं—इनमें ईश्वर नाम की कोई वस्तु को उसने स्वीकार नहीं किया। परन्तु इस कारण उसे अमान्य तथा असत्य नहीं ठहराया जा सकता। जिस सांख्य र स्थित 'त्रिदोष सिद्धान्त' चिकित्सा में प्रयोग की कसौटी पर पूर्ण ठीक उतरता है; उसे हम एक म असत्य नहीं ठहरा सकते हैं। यह सत्य है कि इसकी भी सीमा है। जिसके बाहिर सांख्य असत्य है। जैनियों का 'सप्तभंगी न्याय' लीजिए। संक्षेप यह सिद्धान्त इस बात को मानता है कि प्रत्येक वस्तु के सात पहलु हैं। एक ही वस्तु एक अन्य वस्तु की अपेक्षा में छोटी है तो वही वस्तु अन्य दूसरी वस्तु की अपेक्षा में बड़ी भी है। कथंचित् उसकी स्थिति है और नहीं भी। इसकी समानता कुछ अंशों में आधुनिक 'सापेक्षवाद' से की जा सकती है। उदाहरणके लिये-सूर्य का प्रकाश श्वेत रंग का है। परन्तु जब सूर्य की किरणें 'प्रिजम' में से गुजरती तो प्रकाश सात विभिन्न रंगों के रूप में हमारे सामने प्रगट होता है। यह प्रकाश श्वेत है और किन्हीं विशेष परिस्थितियों में सतरंगा भी है। इसी प्रकार किन्हीं अवस्थाओं में सम्भव है इसकी सत्ता ही न हो। उपरोक्त तीनों बातें प्रकाश के बारे में सत्य हैं, परन्तु विशेष परिस्थितियों में और तीनों बातें असत्य भी है—विशेष अवस्थाओं में। बौद्ध लोग 'क्षणिक-सिद्धान्त' को मानते हैं। उनके अनुसार हमारा प्रत्येक ज्ञान क्षणिक है। जो इस समय है वह अगले क्षण न होगा, जो अगले क्षण हैं वह अस्थिर है। यह भी एक सीमा में सत्य है। हमारी सृष्टि प्रतिक्षण परिवर्तित हो रही है, अतः तत्सम्बन्धी ज्ञान भी क्षणवाद बदल जायगा। इसी प्रकार

शंकराचार्य्य का अद्वैतवाद भी पूर्णरूप से असत् नहीं ठहराया जा सकता। कारण यह है कि प्रत्येक दार्शनिक विषय प्रतिपादन करने के लिए कुछ सिद्धान्तों को बिना किसी युक्ति और तर्क के मान लेता है और उन पर अपनी भित्ति को खड़ा करता है। यह बात अलग है कि वे स्वीकृत सिद्धान्त भी सत्य है या नहीं परन्तु उनको स्वीकार करने से विषय प्रतिपादन में सरलता हो जाती है। और जिस समय मानित-सिद्धान्त बनाए जाते हैं उन पर तत्कालीन परिस्थितियों का प्रभाव पड़ता है अतः उन्ही या तत्सम अवस्थाओं मे वे सत्य सिद्ध हो जाते हैं।

दो प्रकार के दार्शनिक हैं, जिन्होंने सृष्टि के बारे में विचार किया है। एक तो वे जिन लोगों ने अपने मानित-सिद्धान्तों को चिरन्तन सत्य मान लिया लिया और वस्तु जगत् को उसी सांचे में ढला माना। प्राय: ऐसे लोगों के मनन चिन्तन का फल अध्यात्मवादी दर्शन हुए। दूसरे वे जिन्होंने अपने ज्ञान को अन्तिम नहीं माना और अन्वेषण के पथ पर बढ़ते गए। जो सिद्धान्त परीक्षण पर पूरे नहीं उतर सके उनको छोड़ते गए। ये हैं भौतिकवादी वैज्ञानिक। प्रथम प्रकार के दार्शनिक एक बार जिस सिद्धान्त को स्वीकार कर लेते थे फिर उसे छोड़ने के लिये तय्यार न होते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि अध्यात्मवादी दार्शनिकों के बहुत से पृथक पृथक स्कूल बन गए। पूर्व मानित-सिद्धान्त कालान्तर में सब शंकाओं का समाधान न कर सके अतः नए मानित-सिद्धान्त बनाए गए। वैदिक-काल से लेकर शंकराचार्य्य तक भारतीय अध्यात्मवादी दर्शन का विकास-क्रम और पाश्चात्य देशों में प्लेटो से लेकर अब तक के अध्यात्मवादी दर्शन का विकास-क्रम और भी इस बात को स्पष्ट कर देता है।

पूर्ण सत्य तो कल्पना की वस्तु है और वह भी शब्द रूप में। शब्द कोष के बाहिर इसकी कोई-स्वतन्त्र सत्ता नहीं। केवल सत्य का रूप आज तक कोई भी नहीं जान पाया। यदि मान भी लें कि केवल-सत्य सम्भव है, तो कभी भी और किसी भी रूप में वह मिलेगा, तो वह अनादि-अनन्त सत्ता का रहस्योद्घाटन कैसे कर पायगा ? वह सीमित सत्य ही रहेगा। आदि से लेकर मानव समाज एक सिद्धान्त को छोड़ कर दूसरे, इसके बाद तीसरे को ग्रहण करता चला आया है। परिस्थितियों के बदल जाने पर वे सिद्धान्त जो उसने भिन्न अवस्थाओं में बनाए गए थे, या सत्य सिद्ध हुए थे, सदा कैसे अटल रह सकते हैं।

जो विचार-परिवर्त्तन भारतीय दर्शन में दृष्टिगोचर होता है, वही परिवर्तन पाश्चात्य दार्शनिकों में पाया जाता है। १७ शताब्दी से पूर्व न्यूटनीय सिद्धान्त सत्य समझा जाता था। परन्तु १७ वीं शताब्दी में कई ऐसे प्रयोग-फल और घटनाएं उपस्थित हो गई, जिनका समाधान न्यूटनीय मानित-सिद्धान्तों के आधार पर नहीं किया जा सका। इसी के परिणाम स्वरूप आईस्टाईन का 'सापेक्ष-सिद्धान्त' और प्लांक का 'क्वांटम-सिद्धान्त' का उदय हुआ। यह ठीक है कि न्यूटनीय सिद्धान्त बिल्कुल रद्द नहीं किया गया है। उसका एक सीमा के अन्दर उपयोग है और रहेगा। जिस सिद्धान्त के सहारे से रेलें, तार और तरह तरह की मशीनों के बनाने और ज्योतिष की खोजों में इतनी सहायता मिली, उसे सर्वांश में असत्य कैसे ठहराया जा सकता है।

न्यूटनीय सिद्धान्त के अनुसार—(क) पदार्थ, अवकाश और काल ये एक दूसरे से नितान्त भिन्न तत्व हैं। (ख) 'मास और गति-एक दूसरे से नितान्त भिन्न तत्व है। (ग) गति और स्थिति-एक दूसरे से नितान्त भिन्न तत्व हैं। इसका प्रभाव यह हुआ कि पाश्चात्य दार्शनिकों की यह धारणा जाती रही कि सृष्टि एक ऐसी वस्तु है जिसे जानना कठिन है, जिसका न आदि है और न अन्त है। उन्होंने यह कहना प्रारम्भ किया कि जिस प्रकार एक कुशल इंजिनियर भिन्न २ आकार के पुर्जों को मिलाकर एक मशीन की रचना करता है, उसी प्रकार ईश्वर ने इस विश्व का निर्माण किया है। प्रकृति में हर एक घटना, हर एक वस्तु पूर्व निश्चित है। प्रत्येक घटना का एक निश्चित कारण होता है और वह जाना जा सकता है। हम प्रकृति को उसके यथार्थ रूप में जान सकते हैं। हमारा मन निरपेक्ष भाव से प्रकृति के नियमों का अध्ययन करता है, अध्ययन पर हमारे मन का कोई रंग नहीं चढ़ता—जैसे मन एक स्वतन्त्र तत्व, दूसरे तत्व 'मेटर' का अध्ययन करता है।

परन्तु आज ये सिद्धान्त परिवर्तित हो चुके हैं। नवीन मानित-सिद्धान्तों के अनुसार उपरोक्त सिद्धान्त ठीक सिद्ध नहीं हुए। इस समय वैज्ञानिक इन सिद्धान्तों को मानते हैं—(क) अवकाश और और काल को एक ही तत्व अवकाश-काल माना गया है। (ख) मास और गति को अन्योन्याश्रित मानते हैं। (ग) अवकाश, काल और शक्ति (गति) पदार्थ के ही व्यापक अविच्छिन्न अंग हैं। (घ) गति और स्थिति को नितान्त भिन्न तत्व नहीं माना जाता। सृष्टि की पुरानी धारणा रद्द हो चुकी है। कि हमारा मन 'पदार्थ' (अथवा विश्व) को शुद्ध रूप से, जैसा पदार्थ अपने आप में है, जान सकता है। मन का कोई शुद्ध स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं। वह पदार्थ का बना है और पदार्थ उसका आधार है। जो ज्ञान मन को होता है, वह पदार्थ और मन की क्रिया-प्रतिक्रिया का फल है। क्रिया तथा प्रतिक्रिया भी दो भिन्न क्रियाएं नहीं हैं। क्योंकि दोनों को एक दूसरे से पृथक् नहीं कर सकते। इस प्रकार न तो हम, मन से स्वतन्त्र, मन रहित पदार्थ का पुराने अर्थ में शुद्ध यथार्थ ज्ञान कर सकते हैं और न अपने मन का ही शुद्ध यथार्थ (पदार्थ से स्वतन्त्र) ज्ञान कर सकते हैं।

मन 'पदार्थ' का बना है। जो मन को ज्ञान होगा वह मन और पदार्थ की क्रिया-प्रतिक्रिया का परिणाम है। परिणामत: उस ज्ञान पर प्रकृति की विभिन्न अवस्थाओं का प्रभाव अवश्य पड़ेगा। एक ही व्यक्ति का मन जब सुन्दर दृश्य को देखकर प्रसन्न हो जाता है और वही मन किसी दु:खी प्राणी को देख कर विषण्ण हो जाता है, क्योंकि परिस्थिति भेद से मन का अनुभव बदल जाता है। एक ही वस्तु को देख कर विभिन्न व्यक्तियों में तरह तरह के विचार उत्पन्न होते हैं। अत: सृष्टि की समस्याओं के अन्वेषण में भी सब मनों को भिन्न २ ज्ञान होंगे। सभी उन परिस्थितियों में ठीक हैं, पर सर्वत्र वे सत्य नहीं कहे जा सकते। जो ज्ञान बाह्य परिस्थितियों से प्रभावित होता है, वह 'शाश्वत सत्य' का रूप कभी भी धारण नहीं कर सकता। यही कारण है कि सृष्टि के आदि से लेकर अब तक सदा सिद्धान्तों में परिवर्तन होता चला आया है। कोई भी स्थिर नहीं बन सका। परिवर्तनशील जगत् के बारे में रचे गए

सिद्धम्

[लेखक—श्री वासुदेव शरण अग्रवाल, अध्यक्ष म्युज़ियम लखनऊ]

★ ★

पतंजलि के महाभाष्य के अनुसार 'सिद्ध' शब्द के कई अर्थ हैं। उनमें एक अर्थ 'नित्य' है। सिद्ध और नित्य पर्यायवाची है। सिद्ध या नित्य का विवेक ही आर्य विचार शास्त्र की सब से बड़ी विशेषता है। सिद्ध को प्राप्त करने का आग्रह ही आर्य जीवन को अन्य सभ्यताओं की जीवन-परिपाटी से सदा के लिये अलग करता है। नित्य का ध्यान जहां हम से ओझल हो जाता है वहीं हम अनित्य या मृत्यु के मुख में चले जाते हैं। अनित्य जीवन वही है जिसे आर्य शास्त्रों में मृत्यु के फैले हुए पाश कहा है। अनेक प्रकार के विषय भोग, धन और मान के नाना भाँति के प्रलोभन जिनके वशीभूत होकर हम अपनी दक्ष इन्द्रियों के तेज को जर्जर कर डालते हैं, सब अनित्य हैं। उनकी जितनी भी आराधना की जाय उनसे हम नित्य तत्त्व के निकट पहुंचने के स्थान में उससे और दूर जा पड़ते हैं। केन्द्र नित्य है, परिधि अनित्य है। आत्मतत्त्व केन्द्र हैं, और सब संसार केन्द्र के चारों ओर फैली हुई परिधि या घेरे की तरह है। परिधि घटने-बढ़ने वाली चंचल होती है। वह फूलती है, और सिकुड़ती है, पर उससे वृत्त के सारभाग या तात्त्विक मूल्य में कुछ भी अन्तर नहीं पड़ता। केन्द्र सदा स्थिर, एक रूप, एक रस बना रहता है। वही वस्तुतः वृत्त का ध्रुव या नित्य विन्दु है। केन्द्र को ही वैदिक परिभाषा में 'हृदय' कहा गया है। वैदिक परिभाषाएं संकेत मय तो होती ही थीं। 'हृदय' शब्द भी गूढ़ संकेत से भरा हुआ है। उपनिषदों के अनुसार 'हृ', 'द', 'य'—इन तीन अक्षरों से 'हृदय' बनता है। ये तीन अक्षर विश्व की तीन मूल प्रवृत्तियों के द्योतक हैं। केन्द्र से बाहर की ओर फेंकने की (centrifugal) जो प्रवृत्ति है उसका प्रतीक हृ अक्षर है। बाहर से भीतर लाने की आदान प्रधान प्रवृत्ति (centripetal) को बताने वाला 'द' अक्षर है। आदान और विसर्ग, ये दोनों धाराएं मनुष्य शरीर में और सृष्टि की अन्य सब प्रक्रियाओं में बराबर मौजूद रहती हैं। वे आपस में टकराती हैं और एक दूसरे को जीतकर हावी होना चाहती हैं। इन दोनों शक्तिओं को नियन्त्रण या नियमन में रखने वाली जो तीसरी संयम प्रधान शक्ति है उसका संकेत 'य' अक्षर है। इस प्रकार हमारा सारा जीवनचक्र हृ+द+य की तीन धराओं के बल पर टिका हुआ है। बालपन में आदान की शक्ति बलवती होती है। वृद्धावस्था में विसर्ग की शक्ति से आदान की शक्ति दब जाती है। यौवन इन दोनों के बराबर संतुलन की दशा है।

सिद्धान्त स्थिर रह भी कैसे सकते हैं? परिवर्तनशील जगत् को सदा परिवर्तनशील सिद्धान्तों की अपेक्षा रहेगी। यही परिवर्तनशीलता है। केवल मात्र सत्य है। वह दिन शायद ही कभी उपस्थित हो जिस दिन मनुष्य यह दावा कर सके उसने वह पूर्ण सत्य पा लिया है; जिससे सारे ब्रह्माण्ड की गुत्थियाँ सुलझाई जा सके।

प्रत्येक व्यक्ति का जो हृदय संस्थान है उस में निरन्तर ये तीनों प्रवृत्तियां कार्य करती रहती हैं। नित्य पदार्थ या नित्य तत्त्व की ओर जब हम बढ़ते हैं तब आदान की शक्ति को हम पुष्ट करते हैं। विसर्ग की प्रवृत्ति के वशीभूत होकर हम नाश या क्षय की ओर झपटते हैं। जीवन में पाप वृत्तियां हैं उनका सम्बन्ध क्षय या नाश शीलधर्मों से है। विषयों के भोग भी क्षय धर्म से युक्त हैं। वे अनित्य हैं। नित्य वस्तु को जानने, और अनुभव में लाने का जो सुख है वह विषय सुख से विलक्षण है। जो पाप में लीन रहता है उसकी शक्तियां क्षयिष्णु बनी रहती है। जहां जीवनी शक्ति क्षीण होती है वहां अमृत सुख का अनुभव नहीं होता। जिस व्यक्ति का हृदयचक्र शक्ति के क्षय से ग्रसित है उसके लिये मृत्यु का द्वार है।

आय सभ्यता के निर्माताओं ने नित्य और सिद्ध पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करने में प्राण मन और कर्म की मूल्यवान् आहुति दी। उसके द्वारा जो अनुभव उन्हें मिला जीवन से दूर किसी गुफा में बन्द होने के लिये केवल कुतूहल या कहने-सुनने के लिये न था। आर्य जीवन-पद्धति में ऐसी सक्रिय और सशक्त जीवन विधि का उपदेश बराबर दिया गया है जिसके आश्रय से मनुष्य अनित्य से बचकर नित्य अमृत सुख की प्राप्ति कर सके और जीवन के ध्रुव अविचाली विन्दु पर धीरता के साथ अपने पैर टेक सके।

समाज की उन्नति में यमों की उपादेयता

[ले०—प्रो० वीरेन्द्र विद्यावाचस्पति, एम० ए०]

समाज की उन्नति करना प्रत्येक उत्तम-विचारक का ध्येय रहा है। अपने-अपने दार्शनिक दृष्टिकोण से समाज के उस ऊँचे विकास का चित्र और उसकी प्राप्ति के साधनों का निरूपण तत्ववेत्ता भिन्न-भिन्न समय पर करते रहे हैं। उन सब के दृष्टिबिन्दु में कितना ही मतभेद रहा हो परन्तु इस विषय में सब की सहमति है कि उन्नत-समाज में शान्ति का निवास होगा, वैर-विरोध की समाप्ति होगी और सब की उन्नति में अपनी उन्नति' लोग समझेंगे। संक्षेप में मनुष्यत्व का बढ़ते जाना और उसमें से पशुत्व की भावना कम होते जाना ही मानव का लक्ष्य है। सब अपने को मनुष्योचित गुणों से युक्त मनुष्य बना लें तो समाज अपने आप पूर्ण आदर्श बन जाय। इसी को आध्यात्मिक उन्नति कह सकते हैं—भले ही कुछ लोग आध्यात्मिक शब्द का उपयोग उचित न समझें। कुछ भौतिकवादी अवश्य इसमें सन्देह करते रहे हैं कि मनुष्य का स्वभाव क्या इतना सुन्दर बनाया जा सकता है कि वह अपनी बुरी भावनाओं का सर्वथा त्याग कर दे और देवासुर संग्राम में देव की विजय होने दे। इसी सन्देह के कारण समाज को दण्डविधान करने की आवश्यकता समझी गई है और 'दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वाः' नियम बना कर यह उचित बनाया गया है कि समाज की जो इकाई अर्थात् एक व्यक्ति, समाज-कल्याण के विरुद्ध चले उसे जबर्दस्ती ठीक रास्ते पर चलने के लिये बाधित किया जाय। यहां तक कि वह रास्ते पर न आये तो उसका उच्छेद कर दिया जाय। पाश्चात्य जगत् के 'कम्युनिज्म', 'फासिज्म', 'नाज़ीज्म' आदि सब वादों में हिंसा या दण्ड की प्रबलता का कारण यही मनुष्य के स्वभाव में अविश्वास है। यदि उनको विश्वास हो जाय कि मनुष्य में वास्तव मे ऐसा तत्व निहित है कि वह अपने स्वभाव से ऊँचा उठ सकता है बशर्ते कि उसकी परिस्थिति उनके स्वभाव को कलुषित न कर दे तो वे भी अपने उग्र दण्डविधान को ढीला कर दें। वर्तमान काल की घटनाओं का अध्ययन उन्हें अवश्य अपने विचार को बदलने के लिये प्रेरित करेगा। जितना अधिक मनुष्य को जबर्दस्ती एक तरफ चलने के लिये कहा जायगा उतना ही अधिक उसका मन विद्रोह करेगा और उस जबर्दस्ती के प्रतीकार के लिये चिन्तन करता रहेगा अर्थात् अपने मनुष्यपन को दबा कर पशुत्व को ऊँचा करने का प्रयत्न करेगा क्योंकि उसे जोर का, जबर्दस्ती का, ताकत का या पशुत्व का जवाब देना है। जबर्दस्ती से मनुष्यत्व को लाने का मतलब पशुत्व के आधार पर मनुष्यत्व को लाना है जो असम्भव है। इसलिये अन्ततोगत्वा मनुष्य के ऊँचे स्वभाव पर विश्वास करके ही समाज का विकास सम्भव हो सकेगा।

हमारे भारतीय तत्व चिन्तक प्राचीन काल से मनुष्य के स्वभाव में विश्वास करते आये हैं। उनका विचार है कि मनुष्य स्वभाव से ऊँचा उठना चाहता है, अच्छी भावनाओं से काम करना चाहता है; यदि स्वभाव से ही वह खराब हो, पशु हो तो स्वभाव नहीं बदला जा सकता और न कभी ऊँचे समाज या स्वर्ग की कल्पना की जा सकती है। परिस्थिति और आधिभौतिक तत्व अवश्य उस

स्वभाव को बिगाड़ते हैं इसलिये उनका सुधार ही मनुष्य का सुधार है उनका सुधार भी जहां तक सम्भव हो मनुष्योचित तरीकों से ही करना चाहिये ताकि मनुष्यत्व का आदर्श ही ऊँचा रहे। वशिष्ठ जैसे प्राचीन ऋषि से लेकर महावीर, बुद्ध, दयानन्द और वर्तमान समय के गांधी तक इस तरह के विचारक रहे हैं।

मनुष्य के इस ऊँचे स्वभाव में ही विश्वास करते हुए मनुष्य के विकास मूलक समाज की उन्नति में ठीक तरह से आदमी को लगाने के लिये 'यम' की शिक्षा दी गई है।

'तत्राहिंसा सत्यास्तेय ब्रह्मचर्यापरिग्रहाः यमाः' (योग० सा० पा० ३०)

अहिंसा, सत्य, अस्तेय ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पांच यम मनुष्य को सीखने चाहिये ताकि वह ऊँचा उठे और समाज उन्नत हो। ये पांचों यम सामाजिक दृष्टि से मनुष्योचित गुण हैं। यदि केवल एक ही आदमी हो और कोई अन्य व्यक्ति न हो तो पांचों यमों का कुछ मतलब नहीं है। अकेला व्यक्ति किस की हिंसा करेगा, क्या झूठ बोलेगा, क्या चुरायेगा, किस पर कामशक्ति का प्रयोग करेगा और क्यों सम्पत्ति संचय करेगा? हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और स्वार्थ-संग्रह ये सब दूसरे की अपेक्षा करते हैं। इनका प्रारम्भ समाज के साथ, मनुष्य के सामाजिक प्राणी होने के साथ है। इन दुर्गुणों के आते ही मनुष्य अपने पद से गिरता है और समाज को गिराता है। इसलिये मनुष्य को सामाजिक प्राणी बनने के लिये, उत्तम नागरिक बनने के लिये अहिंसा आदि पांच यमों को—जो उसे हिंसा आदि से रोकने वाले हैं—अपने में धारण करना होगा। मनुष्य के इन ५ सामाजिक गुणों को इतना आवश्यक समझा गया है कि अपनी व्यक्तिगत ऊँची साधना करने वाले योगी के लिये भी अष्टाङ्गों में सब से पहला स्थान यमों का रखा गया है। योगी की आत्म-साधना सर्वथा चल ही नहीं सकती है यदि इन पांचों से वह रहित हो जाय। सामान्य मनुष्यों के लिये तो कहना ही क्या? मनु ने स्पष्ट रूप में घोषणा की:—

"यमान् सेवेत सततं न नियमान् केवलान् बुधः।
यमान् पतत्य कुर्वाणो नियमान् केवलान् भजन्॥" (मनु० ४.२०४)

यमों का सेवन अवश्य करो, अन्यथा पतित हो जाओगे। केवल नियम-सेवन व्यर्थ है। शौच, सन्तोष आदि ५ नियम मनुष्य के लिये अपनी व्यक्तिगत साधना के अङ्ग हैं। बिना ५ यमों-सामाजिक साधना के गुणों के, धारण किये मनुष्य अपूर्ण है, पतित है इन पांच यमों की इतनी महत्ता है। उनके महत्व ज्ञान के लिये उनका संक्षेप में विवेचन समझ लेना चाहिये ताकि हम उचित रूप में अपने पथ पर चल सकें।

यमों में पहला स्थान "अहिंसा" का है। योग-दर्शन के भाष्यकार व्यास ने तो 'अहिंसा' को ही एक तरह से लक्ष्य बता कर चारों यमों को उसका साधन रूप गौण स्थान दिया है। अहिंसा का अर्थ सर्व भूतहित—सब प्राणियों का कल्याण करने से वास्तव में वह समाज की उन्नतिरूप ध्येय बन ही जाता है। उस समाज में न केवल मनुष्य अपितु सब प्राणी समाविष्ट हो जाते हैं। इस 'लोक संग्रह'

की दृष्टि से ही सब कार्य करने चाहिये। यदि इस सर्व भूतहित या लोक संग्रह से किसी अन्य यम का विरोध पड़े या प्रतीत हो तो वह यम नहीं समझना चाहिये। यदि किसी सत्य के बोलने से सम्पूर्ण समाज का अकल्याण हो तो वह सत्य या यम नहीं अपितु सत्याभास और यमाभास है। इसीलिये धर्मशास्त्रकारों को सत्य आदि के अपवाद स्थल गिनाने पड़े हैं।

यह अहिंसा-सर्वलोक कल्याण-मनसा वाचा और कर्मणा होनी चाहिये। न केवल अहिंसा ही प्रत्युत सब यम मन वाणी और कर्म से होने चाहियें। न केवल हम किसी को मारें पीटें ही नहीं अपितु वाणी से उसे "पीड़ा देना—अपशब्दों के रूप में" और मन से बुरा विचार करना भी छोड़ दें तभी वास्तविक अहिंसा होती है। किसी प्राणी को पीड़ा न देना, अहित न कहना, दया करना, करुणा की भावना का बढ़ाना अहिंसा ही है।

सत्य—का तात्पर्य है यथार्थ चिन्तन, यथार्थ वाणी और यथार्थ कर्म। न केवल जैसा देखा हो वैसा कह देना ही सत्य है अपितु जो हमने देखा हो वह भी ठीक हो और जिस भाव से हम बता रहे हों वह भी अच्छा हो, तब वह सत्य होगा। हमने देखा कि सूरज पृथिवी के चारों ओर घूमता है उसे दूसरे को बता दिया। वह सत्य नहीं अपितु सत्याभास है। हमें ठीक ज्ञान करना चाहिये कि सूर्य नहीं घूमता अपितु पृथिवी उसके चारों ओर घूमती है। एक व्यक्ति की संपत्ति हम हड़पना चाहते हैं और वह किसी कारण से आत्म-हत्या करना चाहता है। ऐसे समय में हम किसी विषय का ज्ञान और उसकी प्राप्ति का साधन बता दें तो वह भी सत्य नहीं क्योंकि हमारा मन सच्चा नहीं, वह अहिंसा की भावना नहीं रखता। इसीलिये 'आप्त' के लक्षण में यथार्थ दर्शित्व, यथार्थ वक्तृत्व और परकल्याणेच्छा का प्रवेश किया गया है। यथार्थ द्रष्टा, यथादृष्टवक्ता और श्रोता का हितेच्छु ही 'आप्त' है उसका वाक्य प्रमाण है अर्थात् सत्य है। ठीक ढंग से ज्ञान प्राप्त करना, वैसा ही वाणी से कहना और तदनुकूल आचरण करना मनुष्य का कर्तव्य है। इस आचरण से ही त्रिकालाबाधित सत्य अर्थात् परमेश्वर की प्राप्ति है।

अस्तेय—का सीधा अर्थ चोरी न करना है। दूसरे के धन को लेने की इच्छा करना, वैसा वाणी से प्रकट करना भी वास्तव में किसी तरीके से ले लेना चोरी के ही रूप हैं। इस संसार में अस्तेय का अभ्यास बहुत आवश्यक हो गया है। दूसरे के धन को अपना बना लेने के लिये अनेकों कपट प्रयोग इस संसार में चल रहे हैं। जो अपने को प्रबल समझता है वह दूसरे के धन का अपहरण बलोपयोग से करता है, डाका डालता है। जो अपने को कमजोर समझता है वह लुक छिप कर माल उड़ा ले जाता है। दण्ड विधान में दोनों के लिये दण्ड है। पर जो अपने बुद्धिनैपुण्य से दूसरे की जेब से बिना उसकी इच्छा के भी धन निकाल लेते हैं वे समाज में चोर नहीं कहे जाते, निपुण कहे जाते हैं। कुछ थोड़े से व्यक्ति शस्त्र का प्रयोग कर कोई संपत्ति छीन ले जाँय तो डाकू कहे जाते हैं और पकड़े जाने पर जेल भोगते हैं। पर सारा का सारा राष्ट्र यदि दूसरे राष्ट्र को इस तरह से हथिया ले तो वह डकैती नहीं समझी जाती, वह राष्ट्रीयता समझी जाती है। ये आजकल सभ्य स्तेय के तरीके हैं। यह सभ्य स्तेय के तरीके

हैं। यह सभ्य स्तेय दुनिया की आंख में साफ दीखने वाले स्तेय से ज्यादा भयङ्कर है। इस सभ्य चोरी का दूर करना मनुष्यता की उन्नति के लिये, विश्वबन्धुत्व के लिये बहुत जरूरी है।

ब्रह्मचर्य—उपस्थेन्द्रिय का संयम है। अपनी वीर्यशक्ति का सदुपयोग है। ब्रह्मचर्याश्रम में उसकी उचित शिक्षा द्वारा अपने शरीर, मन और आत्मा को अच्छे मार्ग पर चलाना बहुत जरूरी समझा गया है। गृहस्थाश्रम में भी एक पत्नीव्रत रूप में उचित समय पर काम शक्ति का उपभोग भी ब्रह्मचर्य कोटि में आजाता है—

ऋतुकालभिगामी स्यात् स्वदारनिरत: सदा।
ब्रह्मचार्येवभवति यत्र तत्राश्रमे बसन्॥
(मनु ३।५०)

परन्तु समाज के वैवाहिक नियमों को तोड़कर विभिन्न-जन-संभोग ब्रह्मचर्य के नियमों का तोड़ना है संसार में जितने दोप और अपराध इसी को लेकर हैं। यदि प्रारम्भ से ब्रह्मचर्य की ठीक शिक्षा रहे तो अनेकों दोषों की कमी आजाय।

अपरिग्रह—स्वत्वाभिमान रहित होना पर्याप्त कठिन है। मनुष्य संचयशील बना रहता है। वह चाहता है कि जितना संग्रह कर सके, जितनी अधिक प्राप्ति कर सके, उतना ही उसके लिये भला है। वह प्रारम्भ में भले ही सोचता हो कि रुपया पैसा या संपत्ति अपने सुख के साधन हैं पर धीरे धीरे वह भूल जाता है कि वे साधन हैं और उन्हें साध्य समझ बैठता है। भूखा रह कर दो पैसा जीड़ने में प्रसन्नता अनुभव करता है। यहां तक कि मृत्यु वेला तक इधर उधर से साज समान जुटाता ही जाता है और ममता तथा अहंकार की वृत्ति बढ़ाता जाता है। जब मौत आती है सब साज सामान यहीं रह जाता है। वह जैसा खाली हाथ चला जाता है। पूरा स्वत्व और ममता के कारण जरा सी चीज छिन जाने पर वह रोता विलखता है। अगर उसे यह उचित शिक्षा हो कि स्व व आदि ममता छोड़ कर उपभोग करे तो उसे यदि दूसरा भी भोगेगा तो प्रसन्नता ही होगी।

अपरिग्रह के न होने का परिणाम समाज की विपमता और वैमनस्य है। पूंजीवाद आदि मजदूरवाद इसी की उत्पत्ति है। यदि स्वत्व की भावना न रह जाय तो साम्यवाद तो स्वत: प्रचलित हो जाता है उसके लिये ताकत का उपयोग न कर मनुष्य के इस ऊंचे गुण की वृद्धि ही उत्तम साधन है। पूंजीपति धन से खजाने के भरे रहते हुये भी, उस खजाने का अपने को खजानची समझ कर राष्ट्र की इच्छानुसार अपनी इच्छा से खर्च कर सकता है।

अपरिग्रह का तात्पर्य आवश्यकताओं को कम करना भी है। आजकल का सभ्य जगत् आवश्यकता-वृद्धि को अच्छा समझता है पर यह आवश्यकता का बढ़ाव उसे मनुष्यत्व से दूर ले जाता है। सरल जीवन और उच्चविचार ही हमारा लक्ष्य होना चाहिए न कि आवश्यकताओं से पूर्ण पेचीदा जीवन।

लोग कहते हैं समाज में जर, जमीन और जोरू विवाद के कारण रहे हैं। पर उन

ईश्वर, जीव, प्रकृति तीन पदार्थ अनादि हैं
या
त्रैतवाद

(ले०—विद्या मार्त्तण्ड श्री पं० परमानन्द जी शास्त्री मुख्याधिष्ठाता, गुरुकुल म० वि० रायकोट)

संसार में ईश्वर, जीव, और प्रकृति ये तीन पदार्थ अनादि हैं आर्यसमाज के प्रवर्त्तक महर्षि दयानन्द का यह वेद प्रतिपादित सिद्धान्त है। आज हम पाठकों के सन्मुख इस पर थोड़ा प्रकाश डालने का यत्न करेंगे। संसार में हम देखते हैं कि प्रत्येक गुणी अपने गुणों का समुदाय हुआ करता है। जिस गुणी का गुण परिणामी होता है वह गुणी भी उत्पत्ति वाला होता है। जिसके गुण सब के सब उत्पत्तिवान् हों वह गुणी भी उत्पत्ति वाला होता है। यह भी हम जानते हैं कि जिसके मुल्क न हो वह मालिक नहीं कहला सकता, और जिसका मुल्क पैदा शुदा हो वह अनादि मालिक कहलाने का अधिकार नहीं रखता। क्योंकि जन्य वस्तु का नाश होना आवश्यक है। इसी प्रकार जब तक व्याप्य न होगा तब तक व्यापक कहला नहीं सकता, इसी प्रकार ज्ञान के अभाव में ज्ञाता नहीं हो सकता। प्रकृति का अस्तित्व तो प्राकृतिक वस्तुओं के होने से स्वयं सिद्ध है। परन्तु सोचना यह है कि "प्रकृति अनादि है या सादि" यदि यह कहा जाय कि प्रकृति सादि (जन्य) है तो प्रश्न उत्पन्न होगा कि प्रकृति किस वस्तु से बनी है? इसका उत्तर यह है कि प्रकृति का कर्त्ता ईश्वर है। अब यह प्रश्न होता है कि ईश्वर प्रकृति का निमित्त कारण है या उपादान कारण? यदि कहा जावे कि उपादान कारण है तो इस दशा में ईश्वर के गुण प्रकृति में अवश्य आने चाहिएं, क्योंकि उपादान कारण के गुण कार्य में अवश्य होते हैं। जैसे घड़े का उपादान कारण मिट्टी है। तो घड़े की प्रत्येक दशा में, मिट्टी का गुण कठोरतादि अवश्य रहेंगे। इसी बात को महर्षि कणाद ने यूँ कहा है कि:—

"कारण गुण पूर्वकः कार्यगुणो दृष्टः॥ वै० १।१।२४

अर्थात् कारण के गुणों के अनुसार कार्य के गुण दिखलाई देते हैं और कार्य के गुणों

सीमित दृष्टिवालों के ये विवाद के कारण क्रमशः अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य की उचित शिक्षा से जाते रहते हैं संसार के धन संपत्ति और स्त्री के झगड़े शान्त हो जाते हैं। परन्तु और अधिक विस्तृत दृष्टि से विचार करने से आजकल की जो अनेक समस्यायें हैं वे भी हल हो जाती हैं। सत्य का आश्रय और अहिंसा की प्राप्ति तो समाज को बहुत ऊँचे स्तर पर ले जाते हैं और इस प्रकार मनुष्य स्वभाव में विश्वास तथा लोक कल्याण हमारे सामने आजाते हैं। इसलिए समाज की उन्नति के लिये पांच यमों की पूरी शिक्षा प्रारम्भ काल से बहुत उपादेय है और इसका शिक्षण संस्थाओं में उचित प्रयोग होना चाहिये।

से कारण का अनुमान होता है। यदि ईश्वर को निमित्त कारण मान कर उपादान कारण से इनकार करोगे तो अवस्तु से वस्तु की उत्पत्ति माननी पड़ेगी। इस दशा में कारण कार्यभाव का नियम टूट जावेगा। इसके विषय में महर्षि कपिल मुनि लिखते हैं कि:—

"नावस्तुनो वस्तु सिद्धिः" सांख्य० १—७८।

अर्थात् अवस्तु से वस्तु सिद्धि नहीं हो सकती। जैसे खरगोश के सींग से कोई वस्तु नहीं बन सकती। यदि कोई मनुष्य इस प्रकार की मिथ्या बात को स्वीकार करेगा तो मुक्ति का होना और दुःखों से छूटना असंभव हो जायगा। क्योंकि वर्तमान अवस्था में तो कारण के नाश से कार्य का नाश माना जाता है। परन्तु अवस्तु से वस्तु उत्पन्न होने पर कारण कार्य भाव का नियम नहीं रहेगा और न कारण के नाश से कार्य का नाश होगा। इस दशा में रोग का निदान भी न हो सकेगा। नवीन वेदान्ती लोग अद्वैत सिद्धि के लिए—प्रकृति से नकार करने के लिए जगत् के अस्तित्त्व से भी इन्कार करते हैं। यह उनकी बहुत भारी भूल है। कपिल जी ने लिखा है कि:—

"अबाध्यात् दुष्टकारणाजन्यत्वाच्च ना वस्तुत्वम्॥ सांख्य० १।७६

अर्थात् निषेधक न होने से और दोष युक्त कारण से उत्पन्न होने से "अवस्तु" नहीं है। अर्थात् स्वप्न के पदार्थों का भी श्रुति से निषेध नहीं हो सकता। ये पदार्थ ऐसे भी नहीं कि जिस प्रकार पाण्डु रोग का दोष जब नेत्रों में होता है तो शंख में भी पीलापन प्रतीत होता है। स्वप्न के पदार्थ इन्द्रिय दोष से उत्पन्न नहीं होते। क्योंकि स्वप्नकाल में इन्द्रियों के दोष की कल्पना करने में प्रमाण का अभाव है। इस कारण स्वप्न के पदार्थों के तुल्य जगत् के पदार्थों को अवस्तु कहना ठीक नहीं। और श्रुति में प्रपंच अर्थात् जगत् का अभाव मानने से श्रुति में आत्म आश्रय दोष आजायगा, क्योंकि श्रुति भी तो जगत् के अन्तर्गत ही है। जब जगत् मिथ्या है तो श्रुतियाँ स्वयं मिथ्या हो जाएंगी। और जो मिथ्या वाणी से मिथ्या जाना जावे वह सत्य न होगा। क्योंकि दो अवस्तु से एक वस्तु सिद्ध हो जाती है। जैसे संख्या के शून्य को शून्य के साथ गुणा करने से गुणन फल स्थिर हो जाता है। या इसे यूँ समझिए कि 'सत्' के अभाव में "असत् है" और असत् के अभाव में 'सत्' होगा। और नाश रहित का मतलब है "सदैव रहने वाला"। इस कारण झूठा जिसको 'झूठ' कहे वह 'सत्य, होता है। इस विषय में कपिल मुनि जी लिखते हैं कि:—"भावे तद् योगेन तत्सिद्धिरभावे तदभावात् कुतस्तरां तत् सिद्धिः" सां १।८०

अर्थात् भाव होने से, उसके संयोग होने से कार्य की सिद्धि हो सकती है। और अभाव से किस प्रकार सिद्धि हो सकेगी, इसका मतलब यह हुआ कि कारण के लब्ध होने से उसके संयोग से कार्य की उत्पत्ति हो सकती है। और कारण के लोप होने से, कार्य के भी न होने से किस के संयोग से कार्य की उत्पत्ति होगी?।

इसी प्रकार ईसाई और मुसलमान लोग मानते हैं कि—"ईश्वर आकाश पर है और

उसके दाहिनी ओर तख्त पर मसीह है।"

अब यदि इनसे पूछा जाय कि—जब तक ईश्वर से आकाश नहीं बनाया गया था ईश्वर कहाँ रहता था ? इसका उत्तर आकाश को नित्य मानने के सिवाय और कुछ भी नहीं हो सकता, और हमारे मुसलमान भाई भी आकाशों के मानने वाले हैं। यदि उनसे प्रश्न किया जावे कि भाई ? संसार के उत्पन्न करने से पूर्व ईश्वर किस का स्वामी था ? तो उत्तर यही हो सकता है कि "शून्य" का। ईश्वर कहाँ था ? तो उत्तर होगा कि "कहीं नहीं ? क्योंकि उनके मत में ईश्वर के सिवाय प्रत्येक वस्तु जन्य है, उत्पन्न हुई २ है। इससे स्पष्ट विदित होता है कि सृष्टि से पूर्व कोई वस्तु न थी। जिसका ईश्वर स्वामी कहलाता ? मानो ईश्वर इन वस्तुओं के उत्पन्न करने के पश्चात् स्वामी बना है, और वस्तुओं के नाश के पश्चात् किसी का स्वामी न रहेगा। क्योंकि प्रत्येक सांसारिक वस्तु नाशवान् है। और नाशवान् के स्वामी के पदार्थ किस प्रकार अमर रह सकते हैं ? ईश्वर व्यापक नहीं हो सकता, क्योंकि व्यापक होने के लिये व्याप्य का होना आवश्यक है। और सिवाय ईश्वर के कोई वस्तु अनादि नहीं है। तो व्यापक किस प्रकार हो सकता है व्याप्य के बिना। और व्याप्य अनादि नहीं तो व्यापक किस प्रकार अनादि कहला सकता है। मानो "अनादि व्यापक" होने का गुण भी ईश्वर में उत्पन्न हुआ माना जायगा। ईश्वर "सर्वज्ञ" है। जबकि सृष्टि उत्पन्न नहीं हुई थी उस समय ईश्वर किसका ज्ञाता था ? उत्तर होगा कि "केवल अपने आपका" मानो जब सृष्टि उत्पन्न हुई तब ईश्वर में सर्वान्तर्यामी का गुण प्रकट हुआ। ज्ञान और ज्ञेय का सम्बन्ध ज्ञाता अर्थात् ज्ञानी के साथ है। यदि ज्ञेय न होता तो ज्ञाता को सिवाय अपने स्वरूप के किस का ज्ञान होता ? मुसलमान तथा ईसाई लोग सिवाय ईश्वर के सृष्टि आदि किसी वस्तु को अनादि नहीं मानते। इसलिये ईश्वर सर्वज्ञ न रहा अनादि ज्ञेय के अभाव में। और नाही ईश्वर अनादि हो सकता है। क्योंकि संसार का नाश हो जायगा तब भी सर्वज्ञ नहीं रहेगा। मानो ईश्वर न अनादि, न सर्वेश्वर, न सर्वज्ञ और नाही व्यापक है। जब ईश्वर के गुणों का आरम्भ मानोगे तो "गुणी" जोकि "गुणों का संग्रह-रूप होता है स्वयं उत्पत्ति वाला मानना पड़ेगा। और गुणों के परिवर्त्तनशील होने से गुणी भी परिणामी होकर नाशवान् हो जायगा।

अब एक शंका यह भी बहुधा होती है कि:—

जब ईश्वर-जीव और प्रकृति अनादि हैं तो "अनादित्व" का गुण तुल्य होने से तीनों ही एक बराबर हो जाएंगे। तब ईश्वर में क्या अधिक विशेषता रह गई ? परन्तु उनका यह कहना सत्य नहीं। क्योंकि "ईश्वर, जीव, प्रकृति में केवल "अस्तित्त्व" का गुण ही बराबर है नकि अन्य गुणों में भी तीनों बराबर हैं तब ऐसी दशा में क्या वे तीनों एक ही हो गए ? आप कहेंगे कि "नहीं" क्योंकि ईश्वर सृष्टिकर्ता है, और 'जीव' तथा 'प्रकृति' सृष्टि (जन्य) हैं। जिस प्रकार जीव और प्रकृति के अस्तित्त्व के गुण का समान होना उत्पादक और उत्पत्ति होने के कारण से उनको ईश्वर के तुल्य नहीं होने देता। इसी प्रकार जीव और प्रकृति के

अनादित्व गुणों में बराबरी होने से अधिष्ठाता और अधिष्ठान दोनों तुल्य नहीं हो सकते। क्योंकि ईश्वर स्वामी है और जीव तथा प्रकृति उसके अधिष्ठान (सम्पत्ति) हैं। ईश्वर व्यापक है और जीव तथा प्रकृति व्याप्य है। ईश्वर सर्वज्ञ है और जीव तथा प्रकृति उसके ज्ञान में हैं। मानो इस दशा में ईश्वर के अस्तित्व पर किसी प्रकार का दोष नहीं आ सकता। वह सदैव स्वामी तथा संसार का भरण-पोषण करने वाला, व्यापक बना रहता रहता है।

प्रिय पाठक वृन्द! सब बुद्धिमानों की इस विषय में एक राय है कि ईश्वर का कोई गुण दूसरे गुण के विरुद्ध नहीं। वरन् विरुद्ध धर्म, वस्तु में एक समय में नहीं माने जा सकते। तो आप ईश्वर के कर्तृत्व के गुण को इस कक्षा तक क्यों खींच ले जाते हैं? जिससे उसके गुण सम्पत्ति की एक कृत्रिम कक्षा को प्राप्त हो जाते हैं। और सर्वज्ञता तथा न्याय पर भी धब्बा आ जाता है। और व्यापक तो कहला ही 'नहीं' सकता। मानो आप उसके एक गुण के सामने दूसरे गुणों को निर्बल करके गुणी को निर्बल करते हैं। हमको ईश्वर के प्रत्येक गुण के साथ प्यार करना चाहिये। जिससे ईश्वर के स्वरूप तथा गुणों पर हमारी अज्ञानता के कारण दोष उत्पन्न न हों। और बुद्धिमान् नास्तिक उत्पन्न न हो जावें। क्योंकि इससे अविश्वास का बल बढ़ जाता है।

एक शंका यह भी सुनने में आती है कि जब ईश्वर ने जीवात्मा और प्रकृति को उत्पन्न नहीं किया तो ईश्वर को उसका ज्ञान ही न होगा। परन्तु यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि चैतन्य स्वरूप जिस स्थान पर उपस्थित होता है वहां पर कोई पर्दा न हो तो उसको वहां की ठीक २ अवस्था का ज्ञान हो जाता है। क्योंकि ईश्वर संसार के प्रत्येक पदार्थ में विद्यमान है। संसार का कोई परमाणु ऐसा नहीं जिसमें ईश्वर विराजमान न हो। फिर किस प्रकार कह सकते हैं कि ईश्वर को उनका ज्ञान नहीं। यदि मध्य में कोई पर्दा मानलें तो ईश्वर व्यापक नहीं रहेगा। मानो पर्दे की दूसरी ओर होगा। परन्तु ईश्वर व्यापक है कोई परमाणु उससे रिक्त नहीं तो आप उसको किस प्रकार आवरण में रख सकते हैं। जिसके सम्मुख आवरण नहीं और ज्ञान शक्ति वाला है तो अवश्य उसको प्रत्येक पदार्थ का ज्ञान है। बहुत से महात्मा यह भी शंका करते हैं कि जब परमात्मा ने जीव और प्रकृति को उत्पन्न नहीं किया तो किस प्रकार वह उनका स्वामी बनेगा? उनका यह कथन भी ठीक नहीं। क्योंकि यदि वह स्वामी बना होता तब तो बनने के बारे में भी शंका की जाती। जब कि वह स्वामी बना ही नहीं। वरन अनादि है तो यह कहना कि वह स्वामी क्यों कर बन गया? असत्य है। परन्तु यह स्मरण रहे कि जड़ और चेतन प्रबल और निर्बल का प्राकृतिक शासन है। यथा :—यदि कोई कहे कि कुम्हार ने मिट्टी को उत्पन्न नहीं किया, तब किस प्रकार कुम्हार उस मिट्टी का स्वामी कहलाएगा? और उससे घड़ा इत्यादि जो वस्तुएं चाहता है बनाता है। वह किस प्रकार मिट्टी का शासन करने वाला बन गया? स्पष्ट उत्तर है कि "जड़ होने से"। क्योंकि मिट्टी ज्ञान नहीं रखती इसलिये चेतन कुम्हार उस पर शासन करता है और उसको काम में ला सकता है। जो चाहे सो बना सकता है। दूसरे हमको संसार में यह नियम ज्ञात है कि जब कभी किसी

चेतन की शक्ति में जड़ शक्ति के गुण अज्ञान और आलस्य आजाते हैं तो उसको भी दूसरी चेत शक्ति आधीन कर लेती है। इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि जड़ चेतन की आधीनता में सदा रहत है। और यह नियम एकसा रहता है। इसी प्रकार निर्बल पर प्रबल शासन करता है और अपन संपत्ति समझता है। कोई नहीं कह सकता है कि मनुष्य ने पशुओं को उत्पन्न किया। फि पशुओं पर मनुष्यों को किसने शासन दिया ? बुद्धि ने। क्योंकि मनुष्य में "बुद्धि" पशुओं अधिक है। इस कारण मनुष्य पशुओं पर शासन करता है। जहाँ २ मनुष्य की बुद्धि मनुष्य त्व से गिर जाती है वहाँ २ वह शासन से भी गिर जाता है। क्योंकि ईश्वर के ज्ञानादि गु आदि हैं अतः उसका यह स्वामित्व गुण भी अनादि है और जीव तथा प्रकृति उस भगवान् देश हैं। तथा वे उस प्रभु से शासित हैं।

पाठक गण ! क्योंकि संसार में मनुष्य को दुःख सुख से काम पड़ता है तब उसक कर्त्तव्य हो जाता है कि वह यह ज्ञात करे कि दुःख और सुख कहाँ से आते हैं।

जो लोग सिवाय ईश्वर के किसी वस्तु को अनादि नहीं मानते उनको मानना पड़त है कि दुःख और सुख दोनों अपनी इच्छानुसार होते हैं। फिर बतलाईये ईश्वर की उपासना क कोई क्यों करेगा ? यदि कहा जावे कि दुःख अन्तः करण के संयोग से उत्पन्न होता है तो ज इन्द्रिय ईश्वर से उत्पन्न होवे उसमें ईश्वर का गुण मानना पड़ेगा। यथा जितने सुवर्ण के अलं कार बनते हैं वह सब सोना ही है।

इस दशा में दुःख और सुख दोनों ईश्वर ही के गुण हो गए परन्तु दुःख और सुख द विरुद्ध गुण हैं अतः वे दोनों विरोधी गुण एक ईश्वर में रह नही सकते।

इसके विपरीत जब तीन पदार्थों को अनादि मानते हैं तो विषय स्पष्ट हो जाता है क्योंकि जब जीव प्रकृति की इच्छा करता है और उससे संबन्ध जोड़ता है तो उस संबन्ध प्रकृति के गुण उसमें आजाते हैं। क्योंकि प्रकृति का गुण ज्ञान नहीं अतः जीव का प्रकृति स सम्बन्ध होता है तो प्रकृति की जड़ता जीव में स्वतंत्रता और ज्ञान को ढक लेती है। इसस जी प्रकृति के सदृश परतंत्र और मूढ़ होजाता है और जब अज्ञान तथा परतंत्रता होगई तो ईश्वरी नियम व आज्ञा से सुख का नाश हो जाता है। और वह पराधीन होकर इच्छा तो करता परन्तु ज्ञान और स्वतंत्रता के ढक जाने से उसको पूरा करने के उपाय प्रथम तो जानता ही नह यदि किंचित् जानता भी जावे तो भी स्वतंत्रता के अभाव में कुछ कर नही सकता बस उसक कामना का होना और उसके पूरे करने के द्वार का न होना उसको अति कष्ट देते हैं।

महात्मा गोतम मुनि ने न्याय दर्शन में लिखा है कि:—

"बाधना लक्षणं दुःखम्"। न्यायदर्शन १म अ०। अर्थात् चेतन के लिए स्वतंत्रता क न होना ही दुःख है। यथा यदि किसी मनुष्य को भूख न हो और भोजन उपस्थित न हो त उसको दुःख नहीं कहते हैं। परन्तु जब भूख लगे और खाना उपस्थित न हो तो उसे दुःख कह जायगा। क्योंकि जीवों की अल्प शक्ति है और ज्ञान भी न्यून रखते हैं और प्रकृति की तृष्णा

से तृप्त नहीं होते। वरन् भोग से तृष्णा बढ़ती ही है। जैसे अग्नि में हवि डालने से अग्नि बढ़ती ही है, घटती नहीं है। इसी प्रकार मनुष्य की जितनी आवश्यकता प्रकृति की होती है बन्धन में पड़ता जाता है। ईश्वर के संयोग और उसके नियमानुसार चलने से सुख मिलता है। ईश्वर के ज्ञान शक्ति स्वरूप होने से उसके योग से मनुष्य में ज्ञान और शक्ति बढ़ जाती है। और इन शक्तियों से मनुष्य अपनी निर्बलता को ज्ञात करने और उनके द्वारों पर आधिपत्य से सुख प्राप्त करता है। मानो प्रकृति के अनादित्व बिना संसार में नियम नहीं चल सकता। और विना नियम के "अंधेर नगरी चौपट राजा टका सेर भाजी टका सेर खाजा" हो जाता है। अतः प्रकृति का अनादित्य मानना आवश्यक है। प्राचीन विद्वानों ने भी इस प्रकार स्वीकार किया है। जैसाकि उपनिषदों में लिखा है कि:—

"अजामेकां लोहित शुक्त्व कृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानाः स्वरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः॥ श्वेताश्वतरो०॥

अर्थात् एक ऐसी वस्तु है जो जन्य (उत्पन्न होने वाली) नहीं। जिसमें तीन शक्तियाँ हैं "सतोगुण" प्रकाश करने वाली, "रजोगुण" न प्रकाश करने वाली न ढांपने वाली। तमोगुण=ढांपने वाली। जिसके स्वरूप से जगत् उत्पन्न किया जाता है। इसके साथ एक और नियम है वह प्राकृतिक नहीं परन्तु पहिली वस्तुओं के फलों को भोगता है और कर्म भी करता है। तीसरी एक और वस्तु है जो दोनों में रह कर उनके गुणों को ग्रहण नहीं करती। बस यही पहिला "प्रकृति" और दूसरा जीव तथा तीसरा परमेश्वर है। वेद ने भी इसको एक उदाहरण में स्पष्ट किया है।

"द्वासुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्न्यो अभिचाकशीति।" ऋ० मं० १ सू० १६४ मं० २०।

अर्थात् एक वृक्ष पर दो पक्षी बैठे हुए हैं और दोनों सदैव रहने वाले हैं। उनमें भिन्नभाव भी हैं। परन्तु उनमें से एक तो उस वृक्ष के फलों को भोगता है। दूसरा उसके फलों से सदैव भिन्न रहता है। प्रकृति वृक्ष है और उसमें "जीव" तथा "ब्रह्म" दोनों पक्षी रहते हैं। जीव कर्म करता है, फल भोगता है। ब्रह्म न कर्म करता है न फल भोगता है। वह कर्मों के फल का देने वाला है। पाठक बृन्द! प्रकृति के अनादित्व पर सर्व अर्वाचीन व प्राचीन दार्शनिकों की एक सम्मति है और वर्त्तमान काल में पदार्थ विद्या (साइंस) के ज्ञाताओं ने भी इसका समर्थन किया है। इसके बिना ईश्वर के गुणों में बड़ा दोष आता है। यह विषय प्रतिलक्षण प्रकार से भी सिद्ध होता है क्योंकि प्रत्येक वस्तु टूट कर अपने मूल में मिल जाती हैं। श्रीकृष्ण जी ने गीता में लिखा है कि—"नासतो विद्यते भावो ना भावो विद्यते सतः।" गीता २। १६।

अर्थात् जो 'सत्' है वह कभी असत् को प्राप्त नहीं हो सकता और जो असत् है उससे सत् नहीं होता। जगत् में नाश के अर्थ उस रूप का लोप हो जाना है अत्यन्ताभाव से तात्पर्य नहीं। संसार के आदि से लेकर अन्त तक किसी ने वन्ध्या का पुत्र, आकाश के फूल,

और खरगोश के सींग नहीं देखे होंगे। महात्मा कपिल जी कहते हैं कि—

"ना सदात्मलाभः न सदात्म हानिः" जो वस्तु असत् है उसकी किसी प्रकार उत्पत्ति नहीं हो सकती और जो वस्तु 'सत्' है उसकी किसी प्रकार हानि नहीं हो सकती। केवल कार्यावस्था में परिवर्त्तन होता रहता है। और मूल ज्यों का त्यों तीनों काल में एक-सा रहता है नवीन वेदान्ती जब प्रकृति के न मानने से संसार की उत्पत्ति का क्रम ठीक नहीं बता सकते तब छः पदार्थों को अनादि ठीक बतलाते हैं। यद्यपि, वे व्यावहारिक और पारमार्थिक का झगड़ा डाल देते हैं। परन्तु अनादि व्यावहारिक नहीं होता। व्यावहारिक पदार्थ सदैव मध्य दशा में रह करता है। इस कारण उनका अनादि मानना तो ठीक है और व्यावहारिक बतलाना झमेले में डालना है। उनका मंतव्य है कि:—

"जीवेशौच विशुद्धा चिद्, विभेदस्तु तयोर्द्वयोः।
अविद्या तच्चितोर्योगः षडस्माकमनादयः॥ शारीरिक भाष्ये।

जीव—ईश्वर और शुद्ध चैतन्य ब्रह्म, जीव और ईश्वर दोनों का भेद, अविद्या अर्थात् प्रकृति माया और इसका चेतन से सम्बन्ध। ये छः हमारे अनादि पदार्थ हैं। इनमें जीव और ईश्वर का भेद और माया का चेतन से संबन्ध, 'अवस्था' या 'गुण' है। "द्रव्य" नहीं। 'जीव'= बद्ध आत्मा, और ईश्वर मुक्तात्मा का नाम है। दोनों एक वस्तु की दो अवस्थाएं हैं। इस दशा में भी ३ वस्तुएं रह जाती हैं:—"शुद्ध-चित्-ब्रह्म अर्थात् परमात्मा, "जीव" जो अल्पज्ञ है और माया अर्थात् प्रकृति।

यहां पर वेदान्ती लोग यह कहते हैं कि हम जो अनादि मानते हैं वह व्यावहारिक बात है। यथार्थ में हम एक ही पदार्थ को अनादि मानते हैं। हमने ५ पदार्थों को अनादि सान्त बतलाया है। और केवल एक को अनादि अनन्त माना है। यदि शंकराचार्य जी छः पदार्थ को एकसा अनादि मानते तो शेष को सान्त और एक को अनन्त क्यों बतलाते। वेदान्ती लोगों का यह कथन भी शंकराचार्य के सिद्धान्तों को न समझने के कारण है क्योंकि आपने पदार्थ को काल से अनादि माना है। परन्तु पांच को देश योग से सान्त माना है। आदि और अन्त दो प्रकार का होता है। एक देश योग से दूसरा काल योग से।

क्योंकि काल से जो अनादि होगा वह काल में सान्त नहीं होगा। और देश से ब्रह्म को छोड़ कर शेष पदार्थ, एक देश में रहने से सान्त हैं। और ब्रह्म देश भी अनन्त है—इस कारण अनादि और अनन्त है, और शेष अनादि सान्त हैं। अभिप्राय यह है कि प्रकृति को अनादि माने बग़ैर व्यवस्था ठीक नहीं रहती। अतः तीन पदार्थों (ईश्वर, जीव, प्रकृति) को अनादि मानना और नित्य मानना प्रत्येक मनुष्य के लिये आवश्यक है। "जीवात्मा"=दुख सुख का अनुभव करने वाला है। "प्रकृति" जीव का अधिकरण (आधार) और "परमात्मा" सुख का अधिकरण अर्थात् केन्द्र है। इसलिये प्रकृति की उपासना से जीव मिथ्या ज्ञान को

ाता है और मिथ्या ज्ञान से बद्ध होकर दुःख भोगता है। और परमात्मा की उपासना से थ्या ज्ञान रूप अंधकार नष्ट हो जाने से और ज्ञान स्वरूप सूर्य का प्रकाश हो जाने से बन्धन छूट कर मुक्ति अर्थात् परमानन्द को प्राप्त होता है। और जब तक इन पदार्थों को अनादि माना जावे तो एक को भी अनादि सिद्ध करना असम्भव हो जायगा। इसीलिये महर्षि यानन्द ने स्वमंतव्यामंतव्य में लिखा है कि:—

"मैं ईश्वर, जीव और प्रकृति इन तीन पदार्थों को अनादि तथा नित्य मानता हूँ"। ह समय शीघ्र आने वाला है जबकि आज-कल का भौतिकवादी, प्रकृति का पुजारी वैदेशिक ास्तिक मण्डल ऋषि के वेद प्रतिपादित इस सत्य सिद्धान्त का अनुयायी बन कर आस्तिक हाएगा तथा "कृण्वन्तो विश्वमार्यम्" के झण्डे के नीचे खड़ा होकर ऋषि के गुण गाएगा।"

———

सत्यार्थ प्रकाश परिचय

[लेखक—श्री स्वामी वेदानन्दतीर्थ, आचार्य दयानन्दोपदेशक विद्यालय गुरुदत्त भवन, लाहौर]

[गताङ्क से आगे]

पञ्चम समुल्लास

पांचवें में वानप्रस्थ और संन्यास का वर्णन है। वानप्रस्थ का यदि उद्धार हो सके तो देश में शिक्षा सर्वथा निःशुल्क हो जाये। और अनेक प्रकार के सुधार अनायास हो जायें। "जब शिर के श्वेत केश और त्वचा ढीली हो जाये और लड़के का लड़का भी हो गया, तब वन में जा बसे।" (पृ० २४ "मैं अग्नि होम कर, दीक्षित होकरव्रत, सत्याचरण और श्रद्धा को प्राप्त होऊं, ऐसी इच्छा करके वानप्रस्थ हो।" (पृ० २२५)

"पश्चात् जब संन्यास ग्रहण करने की इच्छा हो तब स्त्री को पुत्रों के पास भेज देवे, फिर संन्यास ग्रहण करे।" (पृ० २२५)

"सब मनुष्यादि प्राणियों की सत्योपदेश और विद्यादान से उन्नति करना संन्यास का मुख्य कर्म है।" (पृ० २३०)

"इसी वेदोक्त धर्म ही में आप चलना और दूसरों को समझा कर चलाना संन्यासियों का विशेष धर्म है।" (पृ० २३२)

इसी प्रकार धीरे धीरे सब संग दोषों को छोड़ हर्ष शोकादि सब द्वन्द्वों से विमुक्त होकर संन्यासी ब्रह्म ही में अवस्थित होता है। संन्यासियों का मुख्य कर्म यही है कि सब गृहस्थादि आश्रमों को सब प्रकार के व्यवहारों का सत्य निश्चय करा अधर्म व्यवहारों से छुड़ा, सब संशयों का छेदन कर सत्य धर्मयुक्त व्यवहारों में प्रवृत्त कराया करें।" (पृ० २३२)

संन्यास का अधिकारी कौन है? इसका उत्तर महाराज ने इस प्रकार दिया है—

"ब्राह्मण ही को अधिकार है, क्योंकि जो सब वर्णों में पूर्ण विद्वान् धार्मिक परोपकार प्रिय है उसी का ब्राह्मण नाम है। बिना पूर्ण विद्या के धर्म परमेश्वर की निष्ठा और वैराग्य के संन्यास ग्रहण करने में संसार का विशेष उपकार नहीं हो सकता। इसी लिये लोक श्रुति है कि ब्राह्मणों को संन्यास का अधिकार है अन्य को नहीं।" (पृ० २३२)

"संन्यासाश्रम का अधिकार मुख्य करके ब्राह्मण का है।" (पृ० २३३)

"(पूर्व.) संन्यास ग्रहण को आवश्यकता क्या है? (उत्तर) जैसे जैसे शरीर में शिर की आवश्यकता है वैसे ही आश्रमों में संन्यासाश्रम की आवश्यकता है क्योंकि इसके बिना विद्या धर्म कभी नहीं बढ़ सकता। और दूसरे आश्रमों को विद्याग्रहण, गृहकृत्य और तपश्चर्यादि का संबन्ध होने से अवकाश बहुत कम मिलता है। पक्षपात छोड़ के वर्त्तना दूसरे आश्रमों को दुष्कर है। जैसा संन्यासी सर्वतो मुक्त होकर जगत् का उपकार करता है वैसा अन्य आश्रमी नहीं कर सकता क्योंकि संन्यासी को सत्य विद्या से पदार्थों के विज्ञान की उन्नति का जितना अवकाश मिलता है उतना अन्य आश्रमों को नहीं मिल सकता। परन्तु जो ब्रह्मचर्य से संन्यासी होकर जगत् को सत्य शिक्षा करके जितनी

उन्नति कर सकता है उतनी गृहस्थ वा वानप्रस्थ आश्रम करके संन्याश्रमी नहीं कर सकता।" (२२२)

विवाह के मुकाबले में सन्यास का उत्कर्ष सिद्ध करके वर्त्तमान काल के संन्यासियों में प्रचलित अकर्मण्यवाद की तीव्र आलोचना की है। लिखा है—"मनु जी ने वैदिक कर्म जो धर्मयुक्त सत्य कर्म्म हैं संन्यासियों को भी अवश्य करना लिखा है। क्या भोजन छादनादि कर्म वे छोड़ सकेंगे? जो ये कर्म्म नहीं छुट सकते तो उत्तम कर्म छोड़ने से वे पतित और पाप भागी नहीं होंगे? जब गृहस्थों से अन्न वस्त्रादि लेते हैं और उनका प्रत्युपकार नहीं करते तो क्या महापापी नहीं होंगे? जैसे आंख से देखना और कान से सुनना न हो तो आंख और कान का होना व्यर्थ है वैसे ही जो संन्यासी सत्योपदेश और वेदादिशास्त्रों का विचार प्रचार नहीं करते तो वे भी जगत् में व्यर्थ भार रूप हैं" (पृ० २२४)

संन्यास के प्रयोजन के संबन्ध में लिखा है—"सत्योपदेश सब आश्रमी करें और सुनें। परन्तु जितना अवकाश और निष्पक्षपातता संन्यासी को होती है उतनी गृहस्थों को नहीं।........ जितना भ्रमण का अवकाश संन्यासी को मिलता है उतना गृहस्थ ब्राह्मणादिकों को कभी नहीं मिल सकता। जब ब्राह्मण वेद-विरुद्ध आचरण करे तब उसका नियन्ता संन्यासी होता है। इसलिये संन्यास का होना उचित है।" (पृ० २३५)

इसके पश्चात कई रूढ़ियों का निराकरण किया है—"एकत्रवास करने से जगत् का उपकार अधिक नहीं हो सकता। और स्थानान्तर का भी अभिमान होता है। राग द्वेष भी अधिक हो होता है। परन्तु जो विशेष उपकार एकत्र रहने से होता हो तो रहे। जैसे जनक राजा के यहाँ चार चार महीने तक पंचशिखादि और अन्य संयासी कितने ही वर्षों तक निवास करते थे। और 'एकत्र न रहना' यह बात आज कल के पाखण्डियों संप्रदायों ने बनाई हैं। क्योंकि जो संन्यासी एकत्र अधिक रहेगा तो हमारा पाखण्ड खण्डित होकर अधिक न बढ़ सकेगा" (पृ० २३५)

सन्यासी को धन न देने का भी खण्डन किया है। विचित्र बात यह है कि जिनके मठाधीशों ने करोड़ों की सम्पत्ति जोड़ रखी है, वही लोग संन्यासियों को धन देने का विरोध करते हैं उसका उत्तर महाराज ने इस प्रकार दिया है—'यह बात भी वर्णाश्रम विरोधी सम्प्रदायी और स्वार्थ सिन्धु वाले पौराणिकों की कल्पी हुई है, क्योंकि संन्यासियों को धन मिलेगा तो वे हमारा खण्डन बहुत कर सकेंगे और हमारी हानि होगी। तथा वे हमारे आधीन भी न रहेंगे।" (पृ० २६६)

इसके आगे मनुप्रमाण से संन्यासियों को दान लेने का अधिकार दिखाकर लिखा है—"हां यह बात तो है कि जो संन्यासी योग क्षेम से अधिक रखेगा तो चोरादि से पीड़ित और मोहित भी हो जायगा। परन्तु जो विद्वान है वह अयुक्त व्यवहार कभी न करेगा, न मोह में फंसेगा, क्योंकि वह प्रथम गृहाश्रम में अथवा ब्रह्मचर्य में सब भोग कर वा सब देख चुके है। और जो ब्रह्मचर्य से होता है वह पूर्ण वैराग्य युक्त होने से कभी नहीं फंसता।" (पृ० २३६)

इसी प्रकार श्राद्ध में संन्यासियों के जाने के संबन्ध में लिखा है—"प्रथम तो मरे हुए पितरों

का आना और किया हुआ श्राद्ध मरे हुए पितरों को पहुँचाना ही असम्भव, वेद और युक्ति-विरुद्ध होने से मिथ्या है। और जब आते ही नहीं तो भाग कौन जायेंगे। जब अपने पाप पुण्य के अनुसार ईश्वर की व्यवस्था से मरण के पश्चात् जीव जन्म लेते हैं तो उनका आना कैसे हो सकता है? इसलिये यह भी बात पेटार्थी पुराणी और वैरागियों की मिथ्या कल्पी हुई। यह तो ठीक है, जहां संन्यासी जायेगा वहाँ यह मृतक श्राद्ध करना वेदादि शास्त्रों से विरुद्ध होने से पाखण्ड दूर भाग जायेगा।" (पृ० २३६-२३७)

ब्रह्मचर्य से संन्यास लेने के सम्बन्ध में आक्षेप का समाधान इन शब्दों में किया है—

"जो निर्वाह न कर सके इन्द्रियों को न रोक सके वह ब्रह्मचर्य से संन्यास न लेवे। परन्तु जो रोक सके वह क्यों न लेवे? जिस पुरुष ने विषय में दोष और वीर्य संरक्षण में गुण जाने हैं वह विषयासक्त कभी नहीं होता। और उनका वीर्य विचाराग्नि का इन्धनवत् है अर्थात् उसी में व्यय हो जाता है। जैसे वैद्य और औषधों की आवश्यकता रोगी के लिये होती है वैसी नीरोगी के लिये नहीं, इसी प्रकार जिस पुरुष वा स्त्री को विद्या, धर्म वृद्धि और सब संसार का उपकार करना ही प्रयोजन हो वह विवाह न करे।" (पृ० २३७)

चारों आश्रमों का कर्त्तव्य संक्षेप से यों लिखा—

"इसलिये विद्या पढ़ने, सुशिक्षा लेने और बलवान् होने आदि के लिये ब्रह्मचर्य; सब प्रकार के उत्तम व्यवहार सिद्ध करने के अर्थ गृहस्थ; विचार, ध्यान, विज्ञान बढ़ाने, तपश्चर्या करने के लिये वानप्रस्थ; और वेदादि सत्य शास्त्रों का प्रचार, धर्म व्यवहार का ग्रहण और दुष्ट व्यवहार के त्याग, सत्योपदेश और सब को निस्सन्देह करने आदि के लिये संन्यासाश्रम है। परन्तु जो इस संन्यास के मुख्य धर्म सत्योपदेशादि नहीं करते वे पतित और नरकगामी हैं। इससे संन्यासियों को उचित है कि सत्योपदेश, शङ्कासमाधान, वेदादि सत्य शास्त्रों का अध्यापन और वेदोक्त धर्म की सिद्धि प्रयत्न से करके सब संसार की उन्नति किया करें।" (२३७-२३८ पृ०)

अन्त में लिखा है—"जो स्वयं धर्म में चल कर सब संसार को चलाते हैं जिसे आप और सब संसार को इस लोक अर्थात् वर्त्तमान जन्म में, परलोक अर्थात् दूसरे जन्म में स्वर्ग अर्थात् सुख का भोग करते कराते हैं, वेही धर्मात्मा जन संन्यासी और महात्मा हैं।" (पृ० २३८)

मनुष्य तथा वेदोत्पत्ति और 'वैदिक सम्पत्ति'

[लेखक—श्री पृथ्वीचन्द्र जी आर्य शिमला]

महर्षि दयानन्द जी ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका में वेदोत्पत्ति के विषय में इस प्रकार लिखते हैं—

प्रश्न—वेदों की उत्पत्ति में कितने वर्ष हो गये हैं ?

उत्तर—एक वृन्द छानवे करोड़ आठ लाख बावन हज़ार नवसौ छिहत्तर अर्थात (१९६०८५२९७६) वर्ष वेदों की और जगत् की उत्पत्ति मे हो गये हैं और यह सम्वत् ७७ सतहत्तरवां वर्त्त रहा है।

प्रश्न—यह कैसे निश्चय हो कि इतने ही वर्ष वेद और जगत् की उत्पत्ति मे बीत गये हैं ?

उत्तर—यह जो वर्त्तमान सृष्टि है इसमें सातवें (७) वैवस्वत मनु का वर्त्तमान है। इससे पूर्व छः मन्वन्तर हो चुके हैं। १ स्वायम्भव, २ स्वारोचिष, ३ औत्तमि, ४ तामस, ५ रैवत, ६ चाक्षुष, ये छः तो बीत गये हैं और सातवां (७) वैवस्वत वर्त्त रहा है और सावर्णि आदि ७ सात मन्वन्तर आगे भोगेंगे, ये सब मिलकर १४ मन्वन्तर होते हैं और ७१ एकहत्तर चतुर्युगियों का नाम मन्वन्तर रखा गया है, सो इसकी गणना इस प्रकार से है कि (१७२८०००) सत्रह लाख अट्ठाईस हज़ार वर्षों का नाम सतयुग रखा है (१२९६०००) बारह लाख छानवे हज़ार वर्षों का नाम त्रेता (८६४०००) आठ लाख चौंसठ हजार वर्षों का नाम द्वापर और (४३२०००) चार लाख बत्तीस हज़ार वर्षों का नाम कलियुग रक्खा हैं, तथा आर्यों ने एक क्षण और निमेष से लेके वर्ष पर्यन्त भी काल की सूक्ष्म और स्थूल संज्ञा बांधी है और इन चारों युगों के (४३२००००) तितालीस लाख बीस हज़ार वर्ष होते हैं जिनका चतुर्युगी नाम है। एक हत्तर (७१) चतुर्युगियों के अर्थात् (३०६७२००००) तीस करोड़ सरसठ लाख बीस हज़ार वर्षों की एक मन्वन्तर संज्ञा की है और ऐसे २ छः मन्वन्तर मिल कर अर्थात् (१८४०३२००००) एक अर्ब चौरासी करोड़ तीन लाख बीस हज़ार वर्ष हुये और सातवें मन्वन्तर के भोग में यह (२८) अट्ठाईसवीं चतुर्युगी मे कलियुग के (४९७६) चार हज़ार नव सौ छिहत्तर वर्षों का तो भोग हो चुका है और बाकी (४२७०२४) चार लाख सत्ताईस हजार चौबीस वर्षों का भोग होने वाला है। जानना चाहिये कि (१२०५३२९७६) बारह करोड़ पांच लाख बत्तीस हज़ार नव सौ छिहत्तर वर्ष तो वैवस्वत मनु के भोग हो चुके हैं।"

उपरोक्त लेख से ज्ञात होता है कि वेदों और मनुष्यों के प्रादुर्भाव को हुये (१९६०८५३०००) एक अर्ब छानवे करोड़ आठ लाख त्रेपन हज़ार वर्ष हुये हैं, और यह अवधि हमें मान्य भी है। परन्तु 'वैदिक सम्पत्ति' ग्रन्थ मे मनुष्यों तथा वेदों की अवधि केवल (१२०५३३०३०) बारह करोड़ पांच लाख तेंतीस हज़ार तीस वर्ष लिखते हैं। वैदिक सम्पत्ति दूसरे संस्करण के पृष्ठ १२५ के ऊपर लिखते हैं—

"अब प्रश्न यह है कि पृथिवी कब बनी और मनुष्य सृष्टि कब हुई ? सृष्टि की वर्ष संख्या कुछ कम दो अर्ब वर्ष के करीब है। पर यह समय मनुष्यों की उत्पत्ति का नहीं है। यह समय सृष्टि की उत्पत्ति से लेकर आज तक का है। सृष्टि उत्पत्ति तब से मानी जाती है, जब से सृष्टि का बनना

आरम्भ हुआ । यह वह समय है, जब प्रलय का समय पूरा होकर सृष्टि का बनना आरम्भ होता है अर्थात् मुक्त प्रकृति का परस्पर संघात आरम्भ होता है और परमाणु से द्वैणुक आदि बनने आरम्भ हो हैं। इस समय से लेकर सूर्य ग्रह, नक्षत्र आदि बनने तक के समय को स्वायम्भुव मनु कहते हैं। स्वयम्भुव मनु के समय में उत्पन्न उत्तानपाद और ध्रुव आदि नक्षत्र आकाश में मौजूद हैं। जिस प्रक स्वायम्भुव मनु के समय नाक्षत्रिक जगत् तैयार हुआ, उसी तरह दूसरे स्वारोचिष मनु के समय पृथिवी तैयार हुई। तीसरे मनु के समय में पृथिवी चन्द्रमा जुदा हुआ। चौथे मनु में समुद्र से भूमि निकली, पांचवें में वनस्पति हुई, छठवें में पशु हुये और सातवें वैवस्वत मनु में मनुष्यों का जन्म हुआ इसका हिसाब इस प्रकार है—

सत्ताइस चतुर्युगियों के	११६६४०००० वर्ष
सत्युग के	१७२८००० ,,
त्रैतायुग के	१२९६००० ,,
द्वापरयुग के	८६४००० ,,
आज तक कलियुग के	५०३० ,,
वैवस्वत मनु से आज तक का योग	१२०५३३०३०

हमारे हिसाब और विश्वास के अनुसार मनुष्यों को पैदा हुए भी आज तक इतना ही समय हुआ। धार्मिक विद्वानों और पदार्थ विज्ञानियों का निकाला हुआ समय इस लम्बे समय के साथ नहीं पहुंचता न पहुंचे, इसकी परवाह नहीं। यह यहां प्रश्न होता है कि यदि मनुष्य वैवस्वत मनु में पैदा हु तो उन्हों ने स्वायम्भुव मनु से गिनती कैसे शुरू की ? इसका उत्तर यह है कि कल का दिन अभी हुआ पर कल होगा। इस बात का जिन प्रमाणों से हम निश्चय कर सकते हैं वह निश्चय बिलकुल सत्य होता है, उसी तरह आने वाले मन्वन्तरों के विषय में भी हमारा निश्चय सत्य होना चाहिये। यह कोई अलौकिक तरीका नहीं है, प्रत्युत ज्योतिष सम्बन्धी गणित ही है। जिसे परमात्मा ने वेदों के द्वारा बतलाया है

ऊपर हमने लिखा है कि मनुष्य सृष्टि वैवस्वत मनु के समय में हुई। इस उक्ति के अनेक कारणों में से मुख्य कारण यह है कि हमारे आर्य कुल भूषण क्षत्रिय ही राजा थे और इतिहास में विशेष रूप से उन्हीं राजाओं की चर्चा है। उस चर्चा से ज्ञात होता है कि हमारे सूर्यवंश और चन्द्रवंश के राजाओं की दोनों प्रधान शाखायें वैवस्वत मनु से आरम्भ होती हैं। इसके पूर्व का कोई क्षत्री वंश नहीं जाना जाता। इससे प्रतीत होता है कि मनुष्य जाति का प्रादुर्भाव वैवस्वत मनु के ही समय से हुआ परन्तु हमारी सृष्टि की संख्या सृष्टि के आरम्भ से है, वैवस्वत मनु से नहीं। सृष्टि आरंभ का अर्थ है छूटे हुये परमाणुओं का फिर से मिलना। जब से परमाणु मिलने लगते हैं तभी से सृष्टि का आरम्भ माना जाता है। तभी से ब्राह्म दिन आरम्भ होता है और तभी से कल्प का आरम्भ होता है।"

आगे चल कर श्री पण्डित रघुनन्दन जी १४४ पृष्ठ पर वेदों की प्राचीनता को सिद्ध करते हुये लिखते हैं—

"वैवस्वत मनु से ही समस्त मनुष्यों की उत्पत्ति हुई है और उन्हीं वैवस्वत मनु तक वेदों की प्राचीनता सिद्ध हो रही है। इसलिये हम यहां यह कहना अनुचित नहीं समझते, कि वेद उतने ही प्राचीन हैं, जितना प्राचीन मनुष्य जाति का प्रादुर्भाव है।"

श्री पण्डित रघुनन्दन जी शर्मा साहित्य भूषण कोई साधारण लेखक नहीं हैं, कि उनके लिखे लेख को दृष्टि से ओझल कर दिया जावे, बल्कि उन्होंने वैदिक सम्पत्ति ग्रन्थ लिख कर आर्य जगत् की पर्याप्त सेवा की है और ऐसा खोज पूर्ण ग्रन्थ लिख कर संस्कृत साहित्य में वृद्धि भी की है। इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थ की प्रशंसा सभी आर्य विद्वानों पत्रों तथा सन्यासी महात्माओं ने की है और प्रत्येक आर्य नर नारी को इसके पढ़ने का आदेश भी किया है, यहां तक कि हमारी शिरोमणि सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा ने भी इसकी प्रशंसा करके हम आर्यों को इसके पढ़ने के लिये विवश कर दिया है और मेरा भी यही विचार है कि इस प्रकार के विद्वत्ता पूर्वक और खोज पूर्ण लिखे गये ग्रन्थ का जरूर अध्ययन करना चाहिये। परन्तु इसके साथ ही हम आर्यों का यह भी कर्त्तव्य हो जाता है कि जहां पर महर्षि के सिद्धान्तों के विरुद्ध कुछ लिखा गया हो उस पर गम्भीरता से विचार करके सत्य तक पहुंचने का प्रयत्न करें।

मैं न विद्वान हूं, और न मेरा इतना स्वाध्याय है कि मैं इस बात को प्रमाणों या युक्तियों से सिद्ध कर सकूं कि जो कुछ महर्षि ने लिखा है वही ठीक है और पण्डित रघुनन्दन जी का लिखा हुआ अशुद्ध है। मेरा काम विद्वानों के सामने बात सुझा देने का था वह मैंने कर दिया है, अब विद्वानों का काम है कि इसके ऊपर खोज पूर्ण और सप्रमाण लेख लिखें।

मैंने इस सम्बन्ध में दो तीन आर्य विद्वानों से पूछा भी था, यहां तक कि वर्त्तमान समय के आर्य जगत् में प्रसिद्ध विद्वान् पण्डित जी से भी बात-चीत की थी और उन्होंने मुझे यही उत्तर दिया था, कि मैं देखकर बता सकूँगा, कि मनुष्य सृष्टि कब हुई थी, परन्तु डेढ़ वर्ष का दीर्घ समय व्यतीत जाने पर भी उन्होंने इस पर प्रकाश डालने की कृपा नहीं की। या तो उन्हें स्मरण नहीं रहा या समय के अभाव के कारण ऐसा हुआ है। इस समय 'आर्य' का सिद्धान्तांक प्रकाशित हो रहा है, मुझे आशा है कि श्री सम्पादक जी इस पर जरूर ध्यान देंगे और ऐसे लेख लिखवा कर प्रकाशित करके यह सिद्ध करेंगे कि जो समय वेदों की उत्पत्ति का श्री स्वामी दयानन्द जी ने लिखा है, वही ठीक है और वैदिक सम्पत्ति का लिखा हुआ मनुष्य और वेदों के प्रादुर्भाव का समय अशुद्ध है।

हां इतनी बात तो मेरी समझ में भी वैदिक सम्पत्ति की लिखी हुई नहीं आई कि छः मन्वन्तरों तक सृष्टि पूर्ण होती रही हो और सातवें मन्वन्तर में मनुष्यों तथा वेदों का प्रादुर्भाव हुआ हो यदि थोड़ी देर के लिये ऐसा मान भी लिया जावे, तो इसी क्रम से सृष्टि का संहार भी होना चाहिये अर्थात् अगले (सावर्णि) मन्वन्तर की समाप्ति के साथ ही मनुष्यों की समाप्ति भी हो जावेगी और फिर छः मन्वन्तर उसी क्रम से सृष्टि का प्रलय होता रहेगा और ऐसा मान लेने से मेरे विचार में दो दोष उत्पन्न होते हैं, प्रथम तो यह कि परमात्मा ने जीवों को अच्छे कर्म करके मुक्त होने का बहुत कम समय

"वेद और अद्वैतवाद"

[लेखक श्री भद्रसेन जी]

पाठक वृन्द! एक समय था जब कि सारे भूमण्डल में वेदों का ही प्रचार था। वेद भगवान के पवित्र सिद्धान्तों को ही शिरोमणि समझा जाता था। जिज्ञासु जन वेदों के पावन आदेशों से निज हृदयों को आलोकित करते हुए मनुष्य जीवन के अन्तिम लक्ष्य को प्राप्त कर अपने को कृत-कृत्य स्वतन्त्र: करते न थे। किन्तु काल चक्र से शनै: २ वैदिक धर्म का ह्रास होने लगा। वेदों का पठन-पाठन बंद हुआ। लोग वेदों के वास्तविक सिद्धान्तों को भूल कर अपने कल्पित सिद्धान्तों को मानने लगे। इतना ही नहीं प्रत्युत अपने उन कल्पित सिद्धान्तों को वैदिक कह कर, इनको वेदों के मत्थे मढ़ा जाने लगा। प्रतिमा पूजन, अवतार वाद, मृतक श्राद्ध, पशु बलि आदि अलीक सिद्धान्त इसी श्रेणी के ही हैं। इसी प्रकार के अनेक सिद्धान्तों में एक अद्वैतवाद भी है जिसे कि शंकर स्वामी ने बौद्धों के नास्तिकवाद के सामने खड़ा किया है। इसे "मिथ्यावाद" आदि नामों से भी पुकारा जाता है। अभिन्न "निमित्तोपादान कारण," और "जीवब्रह्मैक्य" यह दो अद्वैतवाद के मुख्य सिद्धान्त हैं। अन्य अलीक सिद्धान्तों की भान्ति इसे भी वैदिक बताया जाता है। और वह भी ऐसी अवस्था में जब कि द्वैतवाद का वेद ने बड़े जोरदार शब्दों में समर्थन किया है "द्वा सुपर्णा" "सपर्य्यगाच्छु" आदि मन्त्र जीव-ईश्वर तथा प्रकृति की सत्ता का स्पष्टतया पृथक् २ वर्णन कर रहे हैं। यजुर्वेद के १७ अध्याय का "विश्वतश्चक्षु:०" यह मन्त्र भगवान् के विराट स्वरूप का वर्णन करता हुआ स्पष्टतया बता रहा है कि परमात्मा ने प्रकृति के परमाणुओं से इस जगत् को उत्पन्न किया है जैसा कि इस मन्त्र के दूसरे भाग में लिखा है············

"सम्बाहुभ्यां धमति सम्पतत्रै: द्यावाभूमी जनयन् देव एक:"

अर्थात् परमेश्वर ने अपनी ऋत तथा सत्य रूपी बाहुओं की शक्ति से * सम्पतत्रै:—पर-

* सम्भूय "सृष्ट्युत्पत्त्यर्थम्" पतन्ति-गतिं कुर्वन्ति ये ते—सम्पतत्रा:—परमाणव: अर्थात् जो सृष्टि उत्पत्ति के लिए मिलकर गति करें सम्पतत्रै: यहां वैदिक प्रयोग के कारण पंचमी विभक्ति के स्थान पर तृतीया विभक्ति आई है।

दिया, क्योंकि २८ अट्ठाईस मन्वन्तरों में से केवल दो मन्वन्तर ही उनको कर्म करने का अवसर मिला और वह भी पूर्व कर्मानुसार अनेक योनियों में से होते हुये मनुष्य (कर्म) योनि में आना होता है और २६ छब्बीस मन्वन्तर तो ऐसे ही अकर्मण्य से पड़े रहे। दूसरे जगत् की स्थिति और प्रलय का समय समान न रहा क्योंकि ऐसा होने से छ: मन्वन्तर सृष्टि को पूर्ण होने में लगे और छ: मन्वन्तर सृष्टि का नाश होता रहा और प्रलयावस्था में पूरे १४ मन्वन्तर पड़ी रही विपरीत इसके नियम तो यह है कि १४ चौदह मन्वन्तर सृष्टि प्रलयावस्था में रहती है और १४ चौदह मन्वन्तर स्थिति में। आशा है इस लेख को पढ़कर शीघ्र ही विद्वानों का ध्यान इस ओर लग जावेगा।

ाणुओं से इस द्युलोक पृथिवी लोक को बनाया। वेदों में इस प्रकार त्रैतवाद का समर्थन करने वाले ानेक प्रमाणों के होते हुए भी यह कहना कि वेद अद्वैतवाद का समर्थन करता है कितना हास्य-पद है।

वेदों में कतिपय मन्त्रों को अद्वैतवाद का समर्थक बताया जाता है। उन मन्त्रों में से हम स लेख में एक मन्त्र पर विचार करेंगे। जिससे पाठकों को भली भाँति ज्ञात हो जायेगा कि वह भाग ाद्वैतवाद का कहाँ तक समर्थन करता है। मन्त्र इस प्रकार है……

पुरुष एवेदꣳ सर्वंयद् भूतं यच्च भाव्यम्। उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति॥ य. ३१-२

इस मन्त्र का सरलार्थ यह है—"भूत भविष्य तथा वर्तमान में जो कुछ भी है वह सब पुरुष ार्थात् ब्रह्म ही है। और वही ब्रह्म अमृतत्व" का स्वामी अर्थात् शासन करने वाला है। और अन्न ; द्वारा प्राणियों को जीवन देने वाला अर्थात् उनको उत्पन्न करने पालन पोषण करने वाला है।" इस ान्त्र में मुख्यतया तीन बातों का उल्लेख है।

१—भूत-भविष्यत् तथा वर्तमान में जो कुछ है वह सब पुरुष ही है।

२—वह पुरुष "अमृतत्व" का स्वामी है।

३—तथा "अन्न" के द्वारा प्राणियों का पालन पोषण करता है। इन तीनों विषयों का ाथा मन्त्र में आए "पुरुष" "अमृतत्व" तथा "अन्न" शब्द का विवेचन करने से मन्त्र का अर्थ बेल्कुल स्पष्ट हो जाता है।

सर्व प्रथम पुरुष शब्द को लीजिये। पुरुष शब्द का अर्थ है पुरिशेते-इति-पुरुषः अर्थात् जो ापनी पुरी अर्थात् नगरी में शयन करता है, वह पुरुष है। जिस प्रकार से आत्मा के शरीर में शयन करने से शरीर उसकी पुरी है। और इसीलिये आत्मा को भी पुरुष कहा गया है उसी प्रकार सारे ाह्माण्ड में शयन करने से यह ब्रह्माण्ड भी ब्रह्म की पुरी अर्थात् नगरी है। अतः जब तक ब्रह्माण्ड ;स पुरी की, परमेश्वर से भिन्न कोई स्वतन्त्र सत्ता न हो, तब तक परमेश्वर उसमें शयन ही नहीं कर नकता। क्योंकि "निवास" और "निवास करने वाला" इन दोनों की सर्वथा पृथक् २ सत्ताएं हुआ करती हैं। और जब तक परमेश्वर ब्रह्माण्ड रूपी पुरी में शयन न करे तब तक वह पुरुष ही नहीं कहला सकता। अतः यह मानना पड़ेगा कि ब्रह्म के अतिरिक्त ब्रह्माण्ड की भी एक स्वतन्त्र सत्ता है। जिसमें के ब्रह्म व्यापक है। जिस प्रकार "भूपति" कहने से केवल राजा का ही बोध नहीं होता अपितु उसके अतिरिक्त उसकी मलकीयत-भूमि का भी बोध होता है; उसी प्रकार पुरुष कहने से केवल ब्रह्म का ही बोध नहीं होता अपितु उसके रचे ब्रह्माण्ड का भी होता है। अतः "पुरुष एवेदं" सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्" का अर्थ यह हुआ कि भूत-भविष्यत् तथा वर्तमान में जो कुछ है वह ब्रह्माण्ड तथा उसमें व्यापक होकर निवास करने वाला परमेश्वर ही है, न कि "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" अर्थात् "सब कुछ ब्रह्म ही है।"

मन्त्र दूसरी बात हमको यह बताता है कि वह पुरुष "अमृतत्व" का स्वामी है। अब हमें यह

देखना है कि "अमृतत्व" क्या वस्तु है। पूर्व इसके कि "अमृतत्व" का विवेचन किया जाए, यह बता देना आवश्यक है कि स्वामी सेवक भाव दो सर्वथा भिन्न सत्ताओं में ही हुआ करता है; न कि एक ही सत्ता में। जैसा कि आत्मा आत्मा का या अपने चैतन्य स्वभाव का न तो स्वामी है न सेवक, इसी प्रकार परमेश्वर भी अपने अमृतत्व अर्थात् चैतन्य स्वभाव का न स्वामी है, न सेवक। अतः यह मानना पड़ेगा कि अमृतत्व परमेश्वर से कोई भिन्न वस्तु है; जिस पर कि वह अपना प्रभुत्व रखता है। अब ज़रा 'अमृतत्व के अर्थ पर विचार करिये। अमृतस्य भावः=अमृतत्वम्"

अर्थात् अमृत पदार्थ का जो "अमरपन" है वही "अमृतत्व" है। और "अमृत" शब्द का अर्थ है मरण धर्म से रहित। अर्थात् जो पदार्थ मरण धर्म से रहित है वह अमृत है। अब हमें यह देखना है कि परमेश्वर से अतिरिक्त दूसरा कौन मरणधर्म से रहित पदार्थ है। शास्त्रों ने आत्मा तथा परमात्मा इन दो ही सत्ताओं को मरण धर्म से रहित माना है। अतः यहाँ "अमृत" शब्द का अर्थ जीवात्मा भी हो सकता है। स्वयं वेद ने भी वायु रनिलममृतमथेदम्..........

इस मन्त्र में आत्मा को अमृत नाम से पुकारा है। अतः यह सिद्ध हुआ कि अमृत शब्द का अर्थ यहाँ जीवात्मा भी है। अब मन्त्रके दूसरे भाग का यह अर्थ हुआ कि वह पुरुष अर्थात् परमात्मा "अमृतत्व" अर्थात् चेतन स्वभाव वाले जीव मात्र का स्वामी है। अब इतनी विवेचना के पश्चात् यह स्पष्ट प्रतीत हो जाता है कि इस ब्रह्माण्ड में परमात्मा के अतिरिक्त "जीवात्मा" भी एक स्वतन्त्र सत्ता है; जो कि परमात्मा के आधिपत्य में रहता हुआ भी परमात्मा से सर्वथा भिन्न है।

अब मन्त्र के तीसरे भाग को लीजिये। मन्त्र का तीसरा भाग हमको यह बताता है कि परमात्मा "अन्न" के द्वारा सब प्राणियों को जीवन देता है। अब देखना यह है कि यह "अन्न" क्या वस्तु है। "अद् भक्षणे" तथा अन्=प्राणने" इन दो धातुओं से उणादि 'नत्' प्रत्यय लगाकर "अन्न" शब्द बनता है।

अद्यते—भक्ष्यते किंवा भुज्यते यत्=तद्—अन्नम् अथवा=अनिति—प्राणति निखिलोपि जीवोऽनेन=तद्—अन्नम्। अर्थात् जिसका भक्षण या भोग किया जाए, वह अन्न है। अथवा जिसके द्वारा जीवमात्र जीवन धारण करता है वह अन्न है अतः इस मन्त्र में अन्न शब्द से प्रकृति का ही ग्रहण हो सकता है। क्योंकि प्रकृति का भोग किया जाता है इसी लिये शास्त्रों में प्रकृति को "भोग्य" कहा गया है। और प्राकृतिक पदार्थों द्वारा ही सब प्राणी अपने प्राणों को अर्थात् जीवन को धारण करते हैं। अतः व्युत्पत्ति से तो "अन्न" शब्द के प्रकृति के पर्याय होने में कुछ सन्देह ही नहीं रहता। श्वेताश्वतर उपनिषद् में भी प्रकृति को भोग्य कहा गया है—भोक्ता भोग्यं प्रेरितारञ्च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्।

इस उपनिषद् वाक्य में भोक्ता=जीवात्मा, भोग्य—प्रकृति तथा इन दोनों को प्रेरित करने वा परमात्मा ब्रह्म कहा गया है। इस श्रुति से यह भी स्पष्ट सिद्ध होता है कि ब्रह्म केवल परमात्मा का ही नाम नहीं, अपितु महान होने से प्रकृति तथा गुण सादृश्य से जीवात्मा का भी नाम ब्रह्म है। अतः "सर्वं

खल्विदं ब्रह्म" इस वाक्य का भी यह अर्थ नहीं हो सकता कि सब कुछ एक मात्र ब्रह्म ही है, अपितु यह सब दृश्य तथा अदृश्य जगत् प्रकृति परमात्मा तथा जीवात्मा का ही मेल है। यही उपर्युक्त वाक्य का उपनिषद् कथनानुसार यथार्थ अर्थ है। अस्तु—

निघण्टु में "स्वधा" शब्द को अन्न का पर्यायवाची लिखा है। और स्वधा शब्द का अर्थ है...स्वां सत्तां धारयति या सा—"स्वधा" अथवा प्रलय काले—स्वात्मानं इदं निखिलं जगत् धारयति या सा—"स्वधा" अर्थात् जो अपनी सत्ता को धारण कर रही है, अथवा प्रलय काल में जो सम्पूर्ण जगत् को अपने अन्दर धारण कर लेती है वह स्वधा है। स्वधा की इस व्युत्पत्ति से स्पष्ट है कि प्रकृति का नाम ही स्वधा है। इसी लिये वेद भगवान् में लिखा है—"आनीदवातं स्वधया तदेकम्"※

अर्थात् वह परमेश्वर प्रलयकाल अर्थात् सृष्टि उत्पत्ति से पूर्व स्वधा अर्थात् प्रकृति के साथ था। अतः निघण्टु में वही स्वधा शब्द अन्न का पर्यायवाची होने से इस मन्त्र में अन्न शब्द से प्रकृति का ग्रहण करना सर्वथा युक्ति संगत ही है।

और देखिये निघण्टु में ब्रह्म शब्द को भी "अन्न" का पर्यायवाची लिखा है और श्वेताश्वतर उपनिषद् में प्रकृति को भी 'ब्रह्म" कहा है जैसे कि हम पहले दर्शा चुके हैं। अतः इससे भी उपर्युक्त मन्त्र में "अन्न" शब्द से प्रकृति का ही ग्रहण करना उचित है। अब अन्न शब्द के प्रकृतिवाची होने का एक और प्रबल प्रमाण पाठकों के सम्मुख उपस्थित किया जाता है। तैत्तिरीय उपनिषद् में पंच भूतों को भी "अन्न" कहा गया है। और पंचभूतों का संघात ही प्रकृति है। उपनिषद्—मन्त्र इस प्रकार है—

प्राणो वा अन्नम्......आपो वा अन्नम्......ज्योतिरन्नादम्†......पृथिवी वा अन्नम्...... आकाशोऽन्नादं। तैत्तिरीय उ० भृगुवल्ली ३। अनु० ७-८६

अतः इससे भी स्पष्ट हो जाता है कि इस मन्त्र में आया "अन्न" शब्द प्रकृति वाची ही है। अब जब कि अनेक प्रमाणों और युक्तियों से यह सिद्ध होगया कि "अन्न" शब्द का अर्थ यहां "प्रकृति" ही है तो मन्त्र के तीसरे भाग का अर्थ यह हुआ कि परमात्मा प्रकृति के द्वारा सब प्राणियों का पालन पोषण करता है। अतः उपर्युक्त व्याख्या के अनुसार मन्त्र में आए "पुरुष", "अमृतत्व" तथा "अन्न"

※ टिप्पणी—इस मन्त्र को भी अद्वैतवेदान्ती अद्वैत परक ही लगाते हैं और इससे ब्रह्म का अभिन्न निमित्तोपादानकत्व" सिद्ध करते हैं इसी लिये इस मन्त्र में आए स्वधा शब्द का अर्थ 'सायण" प्रकृति न करके "माया" किया है। क्योंकि नवीन वेदान्त के मत में "माया" "सदसद्-निर्वचनीय" है। अर्थात् जो न सत् है और न असत् है वह माया है। या यूँ कहिये कि जिसको सत् या असत् दोनों में से कुछ भी नहीं कहा जा सकता वह माया है। किन्तु "स्वधा" का अर्थ इससे सर्वथा विपरीत—"अपनी सत्ता को धारण करने वाला" ऐसा है अतः वह प्रकृति ही हो सकती है माया कदापि नहीं। अतः यह मन्त्र भी अद्वैत वाद का कदापि समर्थक नहीं हो सकता।

† टिप्पणी—यहां "अन्नाद" शब्द का अर्थ भी अन्न को खाने वाला अन्न ही है जैसा कि उपनिषद् की पूरी श्रुतियों को देखने से स्पष्ट हो जाता है।

का अर्थ क्रमशः परमात्मा, जीवात्मा, तथा प्रकृति ही होता है। अब इस मन्त्र के सम्पूर्ण यथार्थ अर्थ को देखिये ·····यथार्थ—"भूत भविष्यत् तथा वर्त्तमान में जो कुछ भी है वह ब्रह्माण्ड तथा ब्रह्माण्ड में व्यापक होकर शयन करने वाला ईश्वर ही है। वही परमेश्वर जीवों का स्वामी तथा प्रकृति द्वारा उनका अर्थात् सब प्राणियों का पालन पोषण करने वाला है।"

अब पाठक गण स्वयं विचार करें कि क्या यह मन्त्र अद्वैतवाद का पोषक है? फिर इसे केवल—"पुरुष एवेद ँ सर्वम्" मन्त्र के इतने ही भाग को लेकर बिना सोचे विचारे अद्वैत परक सिद्ध करना कितना हास्यास्पद है। हमने इसी मन्त्र को केवल अद्वैतवाद का विरोधी ही नहीं, अपितु अनेक प्रबल प्रमाणों द्वारा वैदिक त्रैतवाद का प्रबल पोषक सिद्ध कर दिया है; जो कि सर्वथा युक्ति संगत है।

अब इस मन्त्र के त्रैतवाद परक सिद्ध हो जाने पर हमारे शाङ्करमतानुयायी एक शंका उपस्थित कर सकते हैं वह यह कि मन्त्र व्यावहारिक अवस्था में तो हम भी जीव, ईश्वर तथा जगत् को अलग २ ही मानते हैं। इसका समाधान यह है कि प्रथम तो वास्तव में व्यावहारिक तथा पारमार्थिक अवस्थाएं कोई भिन्न २ अवस्थाएं ही नहीं। केवल अपने कल्पित सिद्धान्त पर होने वाले प्रबल आक्षेपों से बचने के लिये ही इन दो स्थितियों को पृथक् २ मान भी लिया जाए तो भी जो सत्य है वह प्रत्येक अवस्था में ही सत्य है। चाहे व्यवहारिक अवस्था हो अथवा पारमार्थिक। पारमार्थिक अवस्था में यदि दो और दो चार होते हैं तो व्यवहारिक अवस्था में भी दो और दो चार होते हैं, न कि पाँच। अतः यदि व्यावहारिक अवस्था में त्रैतवाद सत्य है तो पारमार्थिक अवस्था में भी त्रैतवाद ही सत्य होना चाहिये, न कि अद्वैतवाद। और यदि "अभ्युपगम वाद" से यह मान भी लिया जाए कि यह मन्त्र व्यवहारिक अवस्था का ही वर्णन करता है तो अद्वैतवाद पक्ष में भी इसे व्यावहारिक अवस्था का वर्णन करने वाला ही मानना पड़ेगा। ऐसा कदापि नहीं हो सकता कि त्रैतवाद पक्ष में तो यह मन्त्र व्यवहारिक अवस्था का वर्णन करे, और अद्वैतवाद पक्ष में यही मन्त्र परिमार्थिक अवस्था का। अब यदि इस मन्त्र को व्यावहारिक अवस्था का वर्णन करने वाला मान लिया जाए तो अद्वैतवाद भी व्यवहारिक सिद्ध हो जाता है। और व्यवहारिक स्थिति को नवीन वेदान्त भ्रान्त अर्थात् मिथ्या मानता है। अतः उनके ही कथनानुसार अद्वैतवाद भी मिथ्या अर्थात् भ्रान्त ही ठहरता है, और इसके विपरीत त्रैतवाद को ही पारमार्थिक अवस्था का मानना पड़ेगा। इससे त्रैतवाद स्वयं सत्य सिद्ध हो जाता है। अतः प्रत्येक पक्ष में यह मन्त्र "त्रैतवाद" का समर्थक न कि "अद्वैतवाद" का।

वेदों का सांस्कृतिक विश्लेषण

[सहदेव चक्रवर्ती विद्यालङ्कार, लाहौर]

इस विश्व में अनेक संस्कृतियों का नाम सुनने में आता है। रोमन, ग्रीक और योरोपियन संस्कृतियों का नाम सुनते ही विश्व-इतिहास के विद्यार्थी के सामने रोम, ग्रीस और योरोप के ऐतिहासिक चित्र दृष्टिगोचर होने लगते हैं। इन संस्कृतियों की एक ऐतिहासिक पृष्ठभूमिका भी है। निष्पक्ष दृष्टिकोण से इनका अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि प्राचीन रोम की अर्थ लोलुपता, ग्रीस के सीमातीत सौन्दर्य और योरोप के भौतिकवाद ने आधुनिक मानव को आत्मघात करने को प्रेरित किया है। इस संसार में एक और भी संस्कृति विद्यमान है और वह है वैदिक संस्कृति। भारत के प्राचीन ऐतिहासिक पुरुषों ने वैदिक संस्कृति के सम्पूर्ण तत्वों को अपने जीवन में खपाया था। यह कहते हुवे हमें कोई संकोच नहीं होना चाहिये कि भारतीय संस्कृति वैदिक संस्कृति का एक रूपान्तर है। जो सम्बन्ध वेद और ब्राह्मण-ग्रन्थों का है, वही सम्बन्ध वैदिक तथा भारतीय संस्कृति का कल्पित किया जाना चाहिये। यदि 'ब्राह्मण' वेदों के व्याख्याकार हैं तो बुद्ध, व्यास और दयानन्द के जीवन भी, जिनमें भारतीय संस्कृति ओत-प्रोत थी, वैदिक संस्कृति के भाष्यकार कहे जा सकते हैं। आप कहेंगे कि रोमन, ग्रीक और योरोपियन संस्कृतियों की तरह वैदिक-संस्कृति की भी कोई अपनी विशिष्टता है—मानवता अथवा मानवता के प्रतिपादक समानता, स्वाधीनता और बन्धुता। किन्तु इन सब विशिष्टताओं का आधार कौनसी चीज़ है यह भी एक प्रश्न है। मेरे विचार में 'वर्णव्यवस्था' एक ऐसी चीज़ है, जिसे हम वैदिक-संस्कृति का आधारभूत सिद्धान्त कह सकते हैं। वेद में लिखा है—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्य, कृतः। उरूतदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत॥

यजु० ३१।११

इस मन्त्र में मानवसमाज के चतुर्विध विभाग की झलक पाई जाती है यहां शारीरिक अंगों से चातुर्वर्ण्य को उपमित किया गया है। संसार के भूतकालीन एवं वर्तमान इतिहास को देखते हुवे हम इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि मानव-समाज सदा तीन वस्तुओं को अनिवार्य रूप से अनुभव करता रहा है। वे चीज़ें हैं—अज्ञान, अन्याय और अभाव। सन् १६४२ ई०में अन्धमहासागर के वक्षः-स्थल पर आरूढ़ होकर अमेरिका के प्रधान श्री रूज़वेल्ट तथा ब्रिटिश प्रधानमन्त्री जी चर्चिल ने विश्व में नवीन योजना चालू करने के लिये जिस एटलाण्टिक-चार्टर (Atlantic charter) का चित्र खींचा था—उसमें भी अज्ञान, अन्याय और अभाव को दूर करने पर बल दिया गया है। यह तो विदित ही है इन तीनों बुराइयों को नष्ट करने के लिये समाज को ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—इन वर्गों में विभक्त करना होगा! केवल ज्ञानभानु ब्राह्मणों का प्रकाश ही विश्व के अज्ञान तिमिर को छिन्न-भिन्न कर सकता है। क्षत्रिय लोग शस्त्र धारण द्वारा प्रजापीड़कों से प्रजा की रक्षा कर सकते हैं और वैश्य लोग प्रभूत वित्तोपार्जन तथा दानादि से राष्ट्र के अभाव को दूर कर सकते हैं। अज्ञान, अन्याय और

अभाव को दूर करने का एकमात्र उपाय है—ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य के कार्यों का उत्तरदायित्वपूर्ण निरूपण। यदि मानव-समाज को चतुर्विध रूप से विभक्त न किया जाय तो विश्व सर्वाङ्गीण विकास करने में सर्वथा असमर्थ रहेगा। किन्तु इस विभाग का निरूपण करते समय हमें गीता के इन शब्दों को ध्यान में रखना चाहिये—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मस्वभावशः।

गुण, कर्म, स्वभाव को देखकर ही व्यक्ति को कोई वर्ण ग्रहण करने की प्रेरणा करनी चाहिये। इन वर्णों में कोई भी अपने को छोटा-बड़ा नहीं कह सकता। वेद में लिखा है—

अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते सम्भ्रातरो वावृधुः सौभगाय।
युवापिता स्वपारुद्र एषां सुदुघा पृश्निः सुदिन्ता मरुद्भ्यः॥ ऋक् ५।६०।५

आज सम्पूर्ण संसार विषमता और युद्ध की ज्वालाओं से दग्ध है। मानव समाज अशांत है, भूखा है और सामाजिकता गिरगिट की तरह रंगीन जामा ओढ़े हुए है। इन सब चीजों का क्या कारण है? इसका केवलमात्र कारण है मानव-संस्कृति की उपेक्षा और उस संस्कृति का अभाव जो वैदिक-संस्कृति की सुन्दरतम प्रतीक है। संसार में शान्ति स्थापित करने का एकमात्र उपाय 'वर्णव्यवस्था' की स्थापना हो सकती है। वर्णधर्म को महत्व देने वाला समाज अपना विशेष उत्तरदायित्व अनुभव करता हुआ अपने कार्य को पूर्ण करने का प्रयत्न करेगा, वेद का यह कितना सुन्दर सन्देश है—'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत् शतꣳसमाः'। अर्थात् सौ वर्ष पर्यन्त मनुष्य को निरन्तर कार्य करते रहना चाहिये। यदि समाज के ब्राह्मण अज्ञान का नाश करने पर तुल जायें, क्षत्रिय पराक्रम द्वारा समाज के शत्रुओं का दलन करने के लिये कटिबद्ध हो जायें और वैश्य धनोपार्जन एवं वितरण द्वारा धनाभाव की पूर्ति करने पर उतारु हो जायें, तो मानवसमाज धरती पर अनोखा और आकर्षक स्वर्ग बन जायेगा, मेरे विचार में वैदिक-संस्कृति का विश्लेषण करते हुवे अथवा वेदों का सांस्कृतिक विश्लेषण करते हुवे हमें वर्णव्यवस्था को भी महत्व देना होगा। यह वेद और आर्यसमाज का आधारभूत सिद्धान्त है! पाश्चात्य लोगों पर वर्णव्यवस्था के महत्व का यहां तक रंग जमा है कि वे वैदिकधर्मी की व्याख्या ही इस प्रकार करते है —'जो वर्णव्यवस्था में आस्था रखता है'। एक स्थान पर वेद में गृहस्थाश्रम में प्रवेश पाने वाले व्यक्ति को ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—इन तीनों की विशेषताओं से युक्त होने का निर्देश किया है। 'ऊर्जं बिभ्रद् वसुवनिः सुमेधाः' यह वेद के शब्द हैं। मैं वर्णव्यवस्था को वैदिक-संस्कृति का एक महत्वपूर्ण अङ्ग मानता हूँ। यदि संस्कृति का यह लक्षण किया जाय कि "जिस योग्यता, प्रवृत्ति अथवा प्रेरणा के बल पर किसी वस्तु का आविष्कार हुआ है वह है समाज विशेष की संस्कृति"—तो उपरोक्त तर्कणा सर्वथा सत्य सिद्ध होती है। किन्तु संस्कृति तभी सफल हो सकेगी, यदि वह किसी सभ्यता का निर्माण करेगी। हमें सभ्यता का लक्षण ऐसे करना होगा—'संस्कृति द्वारा आविष्कृत वस्तु'। इस लक्षण को मानकर हमें वैदिक-संस्कृति द्वारा वैदिक सभ्यता का भी निर्माण करना होगा। हमें संसार में इस समय ऐसी कोई संस्कृति नहीं मिलती, जो वैदिक संस्कृति का रूपान्तर कही जा सके? फिर भी प्राचीन

भारतीय संस्कृति को हम वैदिक-संस्कृति का भाष्यकार कह सकते हैं। और भारतीय-संस्कृति ही मानवीय-संस्कृति है। वैदिक-संस्कृति गंगा की सदा बहने वाली धारा के समान है। १३८०० फ़ीट ऊँची गंगोत्री से निकलकर अपने मूल स्रोत से २५५७ मील बह कर गंगा समुद्र में गिरती है। बीच में असंख्य नदियां उसमें आकर मिलती हैं। परन्तु फिर भी गंगा की व्यक्तित्व और आस्तित्व ज्यों का त्यों कायम रहता है। यही अवस्था वैदिक-संस्कृति की अक्षय धारा का है। युगों के दौर में उसमें अनेक संस्कृतियां आकार मिलीं, किन्तु वैदिक-संस्कृति ने उन सब संस्कृतियों को अपने अन्दर खपा कर लीन कर लिया और अपना वैदिकस्वरूप ज्यों का त्यों कायम रखा। यही तो वैदिक-संस्कृति का महत्व है। इस महत्व का हम तभी प्रतिपादन कर सकेंगे जब अपने स्वार्थों में अनुरक्त होकर खूँखार जंगली जानवरों की तरह एक दूसरे को निगलने के घृणित कार्य में लगी हुई मानव-जाति के लिये वैदिक-संस्कृति द्वारा 'वर्णव्यवस्था' का ठोस आविष्कार कर सकेंगे। यही है वेदों के सांस्कृतिक विश्लेषण की एक आकर्षक कहानी।

अब आर्य्यों और आर्य्यसमाजों का क्या कर्त्तव्य है?

[लेखक—श्यामसुन्दर लाल ऐडवोकेट, मैनपुरी यू० पी०]

महर्षि दयानन्द के शब्दों में [देखो उनकी अनुभूमिका के अन्त में जो उन्हों ने उत्तरार्ध के ११ वें समुल्लास के आरम्भ में लिखी है] आर्य्य समाज के वैदिक-सिद्धान्त क्या है? इसको उन्होंने अपने "स्वमन्तव्यामन्तव्य" शीर्षक से वर्णन किया है जिनकी संख्या ५१ हैं। पश्चात् केवल कुछेक पंक्तियों का 'वाक्य खण्ड' देकर 'सत्यार्थ प्रकाश को समाप्त कर दिया है। इस 'वाक्य खण्ड' में महर्षि ने विश्वमात्र के लिये जो शब्द उक्त वैदिक सिद्धान्तों के विषय में प्रयुक्त किये गये हैं, वह कैसे गम्भीर, उच्च और हृदय ग्राह्य हैं, इसको वही पाठक सम्यक भांति में समझ सकते हैं जिन्हों ने वैदिक साहित्य का अच्छे प्रकार मनन और विचार किया है।

परन्तु पहले इसके कि मैं 'उक्त स्वमन्तव्यामन्तव्य' के विशेष २ अंकों को क्रमशः तदर्थ विदित करूँ यह उचित प्रतीत होता है कि अंक संख्या '३०' के विषय में जहां उन्हों ने "आर्य्यवर्त्त" देश की परिभाषा दी है उस सन्देह का निवारण कर दूँ जिस के प्रति एक समय में कई अन्यों के साथ मैं भी भ्रमित हो गया था। उक्त परिभाषा में मुझे भी अन्यों के साथ यह भ्रम हो गया था कि इस परिभाषा में कोई विशेष महत्व नहीं है जो उसको सिद्धान्तों की कोटि का स्थान देने की उपयुक्तता प्रकट करता हो। अब मनन करने से स्पष्ट विदित होता है कि वह सन्देह मेरा अन्यों के साथ सर्वथा अशुद्ध था। कारण यह कि यदि उक्त परिभाषा के विवरण का जो महर्षि ने उसके सम्बन्ध में आठवें समुल्लास के पृ० २२४ से पृ० २२६ तक "जगत् की उत्पत्ति में कितना समय व्यतीत हुआ है? इस प्रश्न के पूर्व आये हुए भाग को (जो मेरे पास के "सत्यार्थ प्रकाश" में उक्त पृष्ठों में आया है) ध्यान पूर्वक पढ़ेंगे तो उनको निश्चित रूप से भासु हो जायेगा कि महर्षि ने उपर्युक्त परिभाषा को वैदिक सिद्धान्तों में स्थान देकर यही नहीं कि सिद्धान्तों की दृष्टि से हानि हुई होती यदि उसको सिद्धान्तों की कोटि में स्थान न दिया जाता तो उसे महत्व पूर्ण परिभाषाओं में स्थान प्राप्त न होने से एक बड़े अंश को हानि हो जाती। निदान 'प्रवाह से सृष्टि के अनादि अनन्त होने के सिद्धान्त की दृष्टि से उसको वैदिक सिद्धान्तवत व्यक्त करने में महर्षि ने जो उसको महत्व दिया है वह उनके नितान्त दूरदर्शिता का ऐसा चिन्ह है, जो अन्य बातों के सदृश उनकी महर्षि पदवी का द्योतक है। उक्त विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि क्यों, किस प्रकार अन्य सचाईयों की भांति यह भी सचाई है कि इस भूगोल की बनावट ही ऐसी है कि सदा से यह आर्य्यावर्त्त देश सर्वोपरि रहता चला आता है और सर्वोपरि रहेगा। तथा जब २ उसकी उक्त दशा में विविध कारणों से विकार उत्पन्न हो जाता है तो संसार के समस्त देश उस विकार से तद्वत् प्रभावित होकर पतित और रोगी हो जाते हैं। और उस विद्या से रहित होकर जो मानव जाति के सच्चे कल्याण के लिए अनिवार्य है रहित होकर केवल रोगी ही नहीं हो जाते किन्तु ऐसे मार्ग में पतित हो

हो जाते हैं जो उनको पशुत्व की अवस्था को प्राप्त कराके छोड़ता है।

अत: यहां पर कुछ अधिक न कह कर केवल "स्वमन्तव्यामन्तव्य" के कुछेक अंकों की गणना पारिभाषिक रूप में देकर उनका यत्किञ्चित अभिप्राय विदित करता हुआ अन्त में इस बात के व्यक्त करने का प्रयत्न करूँगा कि समस्त संसार मात्र के आर्य्यों को और विशेषत: भारतीय आर्य्यों को क्या करना चाहिये ?

पहले मैं इस लेख में पाठकों के ध्यान को उपर्युक्त शीर्षक की अङ्क मात्रा संख्या १, ४, ५, तथा ६, १२, १६ तथा ६, तथा २१ की ओर विशेष भांति में खींचना चाहता हूँ और उनमें कुछेक के लिये "सत्यार्थ प्रकाश" के अन्य स्थलों से आवश्यकतानुसार उद्धरण दूँगा। अङ्क संख्या १४, ५, तथा ६ से ईश्वर, जीव और प्रकृति का नित्यत्व और उनका पारस्परिक सम्बन्ध और १२ में 'मोक्ष' (मुक्ति) की रूपरेखा और उसका अनित्यत्व दिखला कर संख्या १६ और २१ में "वर्णाश्रम" और "मूर्ति पूजा" का पारिभाषिक विवेचन किया है। जिन लोगों ने "सत्यार्थ प्रकाश" और महर्षि के 'जीवन चरित' पर बाहरी दृष्टि डाली है, वह जानते होंगे कि प्रथम तो महर्षि ने वाणीद्वारा "मूर्ति पूजा" और जात-पांत रूपी ऊटपटांग कुव्यवस्था, जिसको अंगरेजी भाषा में कास्टसिस्टम् (caste-system) नाम दिया गया है, के विरुद्ध इतना अधिक बल दिया कि देश के एक बड़े भाग में कौतूहल मच गया अनेक विशिष्ट संस्कृत पाठशालाओं को कई स्थानों पर इस प्रयोजन से खोला कि पण्डित वर्ग विज्ञ होकर वैदिक सिद्धान्तों का प्रचार, प्रचुर भांति में कर सकेंगे। परंतु जब थोड़े ही काम में अनुभव ने बतलाया कि पण्डित लोग जो अध्यापकी के लिये रक्खे गये छिप २ कर क्रियात्मक रूप में शिष्यों तथा अन्यों को अवैतनिक बना रहे हैं तो वह उनकी ओर से उदासीन हो गये और अपने उपदेश को लेखवद्ध करना समय की मांग निश्चय कर सन् १८७५ ई० में अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ "सत्यार्थ प्रकाश" को छाप कर पबलिक को भेंट किया और अपनी मातृभाषा 'गुजराती' भाषा का मोह छोड़ देवनागरी भाषा और लिपि को सारे देश की एक वैज्ञानिक भाषा की सामर्थ्य और क्षमता रखने वाला पाकर उक्त ग्रन्थ का माध्यम बनाया। वास्तव में यह ग्रन्थ जैसा कि उसके नाम से विदित होता है विश्वमात्र के लिये ऐसा अमूल्य और अनुपम है कि सहसा व्यक्त नहीं किया जा सकता। उसके पहले भाग में १० समुल्लास हैं। इनमें महर्षि ने वेदों और वेदानुयायी सम्पूर्ण आर्य साहित्य के आधार पर उपर्युक्त उद्धरण देकर और उनका नागरी भाषा में भाषान्तर देकर मनुष्य मात्र के लिये प्रत्येक कर्म धर्म जन्म से लेकर मृत्यु तक जीवन के समस्त पार्श्वों (पहलुओं) पर ऐसे हृदय ग्राह्य रूप में महर्षि ने प्रकाश डाला है कि पढ़ने वाला उच्च श्रेणी का विज्ञानी हो सकता है। तथा दूसरे भाग में चार समुल्लास हैं जिसको उत्तरार्ध नाम दिया गया है और इनमें आर्य्यावर्त्त के सम्पूर्ण मतमतान्तरों का समीक्षण किया गया है।

यथा ११ वें समुल्लास में उन मतों का खण्डन मण्डन जो अपने आपको वैदि धर्म से सम्बन्धित मानते हैं तथा १२ वें उनका समीक्षण जो अपने आपको वेदों से सम्ब न्धित न मानकर चारवाक, बौद्ध जैन आदि नामों से संज्ञित मानते हैं। इसी प्रकार १३ वें और १४ वें समुल्लास में क्रमशः ईसाई तथा मुसलमानी मतों का समीक्षण है। विशेष वक्तव्य इस उत्तरार्ध में यह है कि महर्षि इस भाग में भी न्याय पथ से कहीं पर विचलित नहीं हुए हैं और कहीं पर पाठक को विज्ञान पूर्वक पढ़ने से यह अवसर नहीं दिया है कि वह कह सके कि अमुक बात में महर्षि के कथन में लेशमात्र भी पक्षपात की गंध है।

परन्तु शोक है कि ऐसे महान् आत्मा का हमारे और मनुष्य मात्र के मन्द भाग्य से, जिसने आजीवन अखण्ड ब्रह्मचर्य्य, तप त्याग और सतत पुरुषार्थ द्वारा वेदादि शास्त्रों में अद्वितीय कुशलता और ज्ञान प्राप्त और उसको परिमार्जित कर संसार भर की भलाई और उसके सच्चे और ठोस कल्याण के लिये एक बृहत् पुरोगम (प्रोग्राम) अपने चित्त में निर्धारित किया था और तदनुसार एक ऊँचे काण्ड की सामग्री एकत्र की थी और नहीं ज्ञात उसके हृदय में किन २ उच्च विचारों का ज्वारभाटा लहरें मार रहा था, अपने उस संकल्प को अधूरा छोड़ कर हम सब से सन् १८८३ ईस्वी विक्रमाब्द १६५६ की दीवाली के दिन हम सब से वियुक्त हो गया।

निदान जिस मन्द भाग्य ने हमको भक्त महर्षि से वियुक्त कराया उसी के कारण हम सब के हृदयों में महर्षि के देहावसान पर उनके स्मारक नियत करने के समय अपनी अयोग्यता और दूरदर्शिता के कारण यह भी भूल स्वभावतः हुई कि उसके स्मारक का रूप वह उदय हुआ जो भूलमय था अर्थात् डी० ए० वी कालिज पंजाब में और कुछ काल पीछे डी० ए० वी० कालिज यू० पी० आदि में शनैः २ उपस्थित हो गये और यद्यपि स्वनामधन्य श्रद्धानन्द के पुरुषार्थ से गुरुकुलों की सृष्टि भी रची गई परन्तु वह भी महर्षि के विचारों के कितने निकट पहुँच पाये हैं, विज्ञ लोग सरलता से समझ सकते हैं। महर्षि के पश्चात् हम सब आर्यों तथा राष्ट्रिय और अराष्ट्रिय पुरुषार्थों ने इस सम्पूर्ण समय में जो उद्योग कर पाये है और जो कुछ उस का फल हुआ है वह हमारे सम्मुख है।

इस लेखक का विश्वास है कि परमात्मा और उसके सद् भक्त सदा से कल्याण उपार्जन में अपने २ गुण कर्म और स्वभावनुसार दत्त चित्त रहते हैं परंतु सर्वोपरि, सब के ऊपर 'सच्चिदानन्द स्वरूप' परमात्मा की विद्यमानता तो रहती है जो कभी भी न्याय से रत्ती भर तो कहना न्यून वर्णन करना है एक क्षण भी अपने उस उच्चतम न्याय के आदर्श से पृथक् नहीं होती जो हमको अपने २ वैयक्तिक और सामूहिक दोनों प्रकार के कर्मों की व्यवस्था देख मानती और तदनुरूप ही हम सबको फल देता रहती है।

जो हो हमने अपनी भूलों से भी जो कुछ सद्चेष्टा का परिचय दे पाया है उस का परिणाम हुआ है, वह यह है कि संसार मात्र के सद् पुरुषों के हृदयों में एक प्रकार

ा लहर उत्पन्न हो गई है जो साक्षात् संकेत करती दिखलाई दे रही है कि बालक हो वा वा, अद्धवयस्क हो अथवा वृद्ध, तथा वह हिन्दू हो वा मुसलिम, बौद्ध हो या ईसाई, अथवा न्य किसी नाम से संज्ञिक मान व वर्ग, इस उत्कट इच्छा और उत्साह का उदय हो गया है क वह उस जन्म सिद्ध अधिकार के योग्य हैं जिसका वर्णन वैदिक धर्म में किया हुआ पद द पर प्रत्यक्ष हो रहा है और इस अधिकार से कोई नर नारी अब दीर्घ काल तक वञ्चित हीं रह सका। वैदिक धर्म में यही महत्व की मात्रा पूर्ण रूप में विद्यमान है कि कोई मनुष्य ग जो किसी भूल के कारण उस अधिकार से रहित हो गया है वह सत्य, अहिंसा, न्याय था विश्व प्रेम का सच्चा पुजारी हो जाने पर किसी राष्ट्रीय वा अराष्ट्रीय शक्ति द्वारा वञ्चित हीं रक्खा जा सका। महर्षि दयानन्द कृत अनुपम ग्रन्थ "सत्यार्थ प्रकाश" संसार आ गया है जैसा कि हम सब देख रहे हैं। संसार की सारी शक्तियां हर्ष पूर्वक उसके पनाने के लिये, अब वा तब, शीघ्रतर उद्यत होने के लिये स्वयं अपने हृदय से बाध्य होंगी।

अतएव अब अधिक इस विषय पर लिखने की आवश्यकता नहीं है। केवल निम्न ातों का संकेत करना पर्याप्त होगा, अर्थात्—

(१) महर्षि कृत 'सत्यार्थ प्रकाश' को यथा सम्भव नागरी भाषा में आद्योपान्त ध्ययन करो और उसमें दिये सदुपदेश को केवल जिह्वा द्वारा प्रचार और प्रसार न करो न्तु उसको क्रियात्मक रूप में अपने मानवीय जीवन का अङ्ग बना लो और उसकी ओर सार मात्र को आकर्षित कर दो, क्योंकि हम विविध भाषाओं को लुप्त नहीं कर सकते, योंकि वह तो स्वभाविक हैं, परन्तु विश्वमात्र को एक वैज्ञानिक भाषा का अनुगामी बना सकें जो सब प्रकार से उस उद्देश्य को पूर्ण कर सकी है और जो शान्ति और सच्ची शान्ति वे कल्याण और आनन्द मनुष्य मात्र को प्रदान करने में समर्थ है।

(२) 'वर्णाश्रम' और ईश्वर पूजन का ध्येय वस्तुतः क्या है इसको मनुष्यमात्र को ोक २ समझा दो और यह बात वर्तमान 'कास्टसिस्टम' और 'जड़ मूर्ति पूजा' को छोड़ने से ी शक्य है और ऐसा करना अब मनुष्य मात्र के लिये असम्भव नहीं है। यदि आवश्यकता तो इस बात की है कि हम उस अरबों खरबों धन को मनुष्यों को विज्ञ करने में लगा दें और सको अन्यथा व्यय न करें। और अपना सारा पुरुषार्थ इसी उद्देश्य में समर्पित कर दें।

(३) जो २ संस्थाएं ऊपर लिखे मार्ग से नहीं चल रही हैं उन को शीघ्रतर वही रूप देना समय की मांग है। विज्ञों के लिये अधिक लिखना समय का व्यर्थ खोना है। आशा कि परमात्मा महर्षि की उस अभिलाषा को जो "सत्यार्थ प्रकाश" के अन्त वाक्य खण्ड में हर्षि ने लिखी है हमारे उद्योग से शीघ्र प्राप्त करायेंगे, अन्यथा मानव समाज का सच्चा ल्याण सम्भव नहीं है। वेदों और तदनुकूल अनेकानेक उद्धारणों के लिये विज्ञों की सेवा में ट करना इस लेखक की दृष्टि में समयाभाव और विस्तार भय की दृष्टि से सर्वथा अना- श्यक है।

मनुष्य जीवन का उद्देश्य मुक्ति है

[लेखक—रामदयालु शास्त्री प्रभाकर हैड पण्डित डा० ए० वा० हाई स्कूल मुलतान]

इस संसार को परमेश्वर ने क्या रचा—इसके उत्तर में महर्षि दयानन्द जी महाराज ने क है कि जीवात्मा संसार में आकर अपने पुरुषार्थ के द्वारा उत्तम कर्म करता हुआ मुक्ति को प्राप्त यही मनुष्य जीवन का उद्देश्य है इस सम्बन्ध में सांख्य शास्त्र के प्रारम्भ में कहा है. "अथ त्रि दुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्त पुरुषार्थः" अर्थात् आध्यात्मिक, उपाधि भौतिक, उपाधिदैविक, इन तीन प्र के दुःखों से छूट जाना अत्यन्त पुरुषार्थ है। इसे ही अपवर्ग, मुक्ति, मोक्ष, कहते हैं। शास्त्रों में प्र को सत्, जीवात्मा को सत्‌चित् और परमात्मा को सत्‌चित् आनन्द स्वरूप कहा है जिसके अनुस जीवात्मा स्वरूप से आनन्द नहीं वह संसार में आकर अपने पुरुषार्थ के द्वारा आनन्द प्राप्त कर स है, परमात्मा में आनन्द सिद्ध रूप से स्वाभाविक है—जीवात्मा का संसार में आने का यही लक्ष्य ऐसा सभी आचार्यों तथा मतों का निश्चय है किन्तु इनके मन्तव्यों में भेद है इस पर कुछ सूक्ष्म प्रकाश डालना आवश्यक है—

१. हजरत ईसा ने खुदा से प्रेम उस पर श्रद्धा और विश्वास के द्वारा मुक्ति बतलाई है कि जीवात्मा पवित्र होकर परमात्मा के निकट रह कर उनकी महिमा का गाना है उसे किसी वस्तु कमी नहीं रहती।

२. इस्लाम में भी जीवात्मा ईश्वरीयाज्ञा से है, सादि अनन्त है, ईश्वर विश्वास मुक्ति मार्ग है—मुक्त जीव एक जगह में रह कर संसार के सब सुखों को भोगते हैं यह न जान अर्थात् जातः फिर उत्पन्न न होना है।

३. बौद्ध और जैन मत का कुछ सूक्ष्म भेदों को छोड़ कर प्रायः मिलता जुलता सिद्ध है, जीव अनादि, अनन्त है शुद्धाचार अहिंसा युक्त जीवन से कर्मों का क्षय और निर्वाण की प्र होती है व शून्य दशा है सुख दुःख से रहित है।

४. शंकर स्वामी तथा राधा स्वामी मत में भी बहुत थोड़ा अन्तर है, उनके मत में स्थूल सू कारणाख्यमुपाधित्रितयं चितेः एतैर्विशिष्टः जीवः स्याद्वियुक्तः परमेश्वरः। अर्थात् केवल ब्रह्म ही अवि से भ्रम में पड़ा रहने से जीव कहलाता है इससे छूटने पर वह ब्रह्म है।

५. पारसियों का सिद्धान्त बहुत कुछ प्राचीन इब्रानी लोगों के साथ मिलता है—उनके में आत्मा चेतन शक्ति है वह आहुमुज्द के अनुकरणीय सुकर्मों द्वारा अनन्त सुखों में मग्न हो जाना।

इन पर विशेष टिप्पणी न करते हुए हम इतना कहना आवश्यक समझते हैं कि इनमें मु के बाद के लिये कोई संकेत नहीं और कइयों में तो मुक्ति एक अन्तिम दशा है जो अनन्त व के लिये है।

किन्तु वैदिक धर्म में मुक्ति क्या है इस विषय में महर्षि गौतम ने न्याय दर्शन आह्नि अध्याय १ में बताया है तदत्यन्त विमोक्षोऽपवर्गः—अर्थात् दुःख से सर्वथा छूट जाने का नाम मु और वह—दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः—अर्थात् पा जब मिथ्या ज्ञान नष्ट हो जाता है तो दोष चले जाते हैं उसके बाद प्रवृत्ति समाप्त हो जाती है

ावृत्ति मिटने पर जन्म का अभाव और इसके न होने से दुःख स्वयं नष्ट हो जाता है तब—दुःखापाये ात्यन्ति कोऽपवर्गो निश्रेयम्—अर्थात दुखो से छूटना ही मुक्ति है जो पूर्णानन्द से मुक्त है—यह अवस्था रलता से नहीं अपितु जैसा गीता में कहा है अनेकजन्मसंसिद्धिस्ततो यातिपरांगतिम्—शनैः २ ात्न करते हुए कई जन्मों के पुरुषार्थ के बाद प्राप्त होती है।

—चूँकि जीवात्मा परिमित परिणाम वाला है, अल्पज्ञ है, कर्म पाश में बंधा हुआ है—वह वभाव से आनन्द नहीं किन्तु मुक्ति इसका नैमित्तिक धर्म है अतः नित्य नहीं हो सकती—वह मुक्त ीवात्मा की अपनी कमाई होने से असीमित नहीं हो सकती—मुक्ति के बाद बन्धन भी उसी प्रकार ावश्यक है जैसे दिन के बाद रात्रि और मरण के बाद जन्म होना है—इसको ऋग्वेद मंडल १० सू० ्२ में इस प्रकार बताया है। ये यज्ञेन दक्षिणाया समक्ता इन्द्रस्य सख्यममृतत्वमानश तेभ्योभद्रमांगिरसो ोअस्तु प्रतिगृणीत मानव सुमेधसः। अर्थात् यज्ञ और निष्काम कर्मों द्वारा अखण्ड ऐश्वर्यवाले नित्य ुक्त स्वरूप प्रभु के मोक्ष रूपी आनन्द को पाने वाले उत्तम बुद्धि वाले मुक्त ज्ञानियो फिर शरीर को ाप्त करके कल्याण प्राप्त करो। इसी को मुण्डकोपनिषद् मुंडक ३ खं २ मे कहा है- वेदान्तविज्ञान ुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्वाः—ते ब्रह्मलोकेषु परान्तपरामृतात् परिमुच्यन्ति सर्वे— ेदान्त के ज्ञान से निश्चित आत्म ज्ञानी संन्यास योग से शुद्ध अन्तःकरण वाले मुक्ति को पाने व ले ान्त काल अर्थात् महाकल्प के बाद फिर संसार में जाते हैं सीमित कर्म का फल सीमित होने के ारण मुक्ति के बाद जीवात्मा अवश्य संसार में आता है इसे सांख्य दर्शनकार ने बड़े सुन्दर शब्दों ं कहा है—इदानीमिव सर्वत्र नात्यन्तोच्छेदः। १=१५६ वैसे इस समय जीवात्माओं के आने जाने ा क्रम लगा रहता है इसी प्रकार मुक्ति और बन्धन का भी क्रम रहता है।

मुक्ति में जीवात्मा को क्या आनन्द प्राप्त होता है इस सम्बन्ध में थोड़ा सा विवेचन करना ावश्यक है। मुमुक्षु जन के लिये सब से प्रथम बात यह है कि वह वेदान्तविज्ञान सुनिश्चितार्थः, अर्थात् ात्मज्ञानी हो—आत्मज्ञानी वह होगा जो मिथ्या ज्ञान को हटा चुका हो मिथ्या ज्ञान के सम्बन्ध में ात्स्यायन मुनि ने कहा है, मिथ्या ज्ञानमनेक प्रकारकम्—यथा आत्मनितावन्नास्तीति-अनात्मन्यात्मा ानित्येनित्यमिति मिथ्या ज्ञान कई प्रकार का है, आत्मसत्ता को न मानना अनात्मा में आत्मा मानना ानित्य वस्तु को नित्य मानना इत्यादि—इसे समझने के लिये छान्दोग्योपनिषद् प्रपाठक से प्रारम्भ होने वाली कथा अत्यन्त उपयुक्त है, य आत्मापहतपाप्मा विजरः विमृत्युर्विशोकोऽविजिघि- त्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः सोऽन्वेष्टव्यः सविजिज्ञासितव्यः ससर्वांश्चलोकानाप्नोति सर्वांश्च- ामान् लोकानाप्नोति सर्वांश्चकामान् यस्तमात्मान मनुविद्यविजानाति, इति प्रजापतिरुवाच। प्रजापति कहा—पाप रहित अजर, अमर, शोक रहित क्षुधा तृषा रहित सत्य काम सत्यसङ्कल्प आत्मा ानना चाहिये ढूँढ़ना चाहिये उसे जानने वाला सारे लोकों और कामनाओं को पा लेता है—तब देवों नेता इन्द्र और असुरों का नेता विरोचन प्रजापति के पास ३२ वर्ष तपस्या करते हुए रहे पश्चात् जापति ने जल में आंख की पुतली दिखला कर कहा कि इसी को जानने का यत्न करो—इन्द्र ने सी का मनन करके मिथ्या ज्ञान को दूर हटा कर आत्म ज्ञान को प्राप्त कर लिया किन्तु विरोचनने रीर को ही आत्मा समझा इसलिये वह मिथ्या ज्ञान को हटाकर आत्मज्ञान न पा सका। राज- ि भर्तृहरि ने मिथ्या ज्ञान के नष्ट होने के बाद की दशा का वर्णन किया है—यदासीद ज्ञानंस्मरतिमि- रसञ्चारजनितम् तदासर्वं नारीमयमिदमशेषंजगदभूत, इदानीमस्माकंपटुतर विवेकाञ्जनदृशां समीभूता-

दृष्टिस्त्रिभुवनमपिब्रह्ममनुते—अर्थात् जब अज्ञान का अन्धकार हृदय में छाया हुआ था तो सर्वत्र विषय ही दृष्टि गोचर होते थे लेकिन अब जब कि ज्ञान का अन्जन लगाया है तो सब तरफ़ ब्रह्म ही दिखाई देता है हर वस्तु में प्रभु की ही ज्योति दिखाई देती है—बस—उपासना, शब्द का अर्थ भी यही है कि वस्तु में ब्रह्म को देखे और अपने आत्मा को ब्रह्म के समीप जाने—कठोपनिषद् में कहा है—तमात्मस्थंऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषांशान्तिःशाश्वतीनेतरेषाम्—अर्थात जो आत्मा में परमात्मा को देखते हैं उन्हें ही सच्ची शान्ति होती है—उस आनन्द को पाने का मार्ग यह है कि मिथ्या ज्ञान के नाश होने पर अन्नमय कोश—जो शरीर रचना है इसका वास्तविक ज्ञान को को प्राप्त करता है, फिर प्राण मय कोश में जाता है जो कि स्थूल देह का आत्मा है—उसके बाद मनोमय कोश वेदस्मृत्यादि का ज्ञान जहां होता है—फिर ज्ञानमय कोश—विमल बुद्धि शुद्ध चैतन्य श्रद्धाज्ञानादि की स्फूर्ति, में से आनन्दमय कोश में पहुंचता है वहां जीवात्मा पूर्ण रूप से अपने को प्रभु के समीप होता है यही उप आसना, अर्थात् प्रभु के पास होना है—वह आनन्द क्या है इसके लिये केवल शास्त्र का मत यही है—नशक्यते वर्णयितुं गिरा तदास्वयं तदन्तःकरणेनगृह्यते—अर्थात् वह वाणी से वर्णन नहीं किया जा सकता उसे तो अन्तः करण से अनुभव किया जा सकता है—वर्णन क्यों नहीं हो सकता इसके लिये यह उदाहरण उपयुक्त होगा—पुष्पवाटिका में दासी ने सीता के सामने राम लक्ष्मण की सौन्दर्य प्रशंसा की सीता ने उत्सुक होकर उनकी सुन्दरता को स्पष्ट करने को कहा तब सखी ने कहा—श्याम गौरकिमि कहौं बखानी गिरा अनयन नयन बिनु बानी उनको सुन्दरता को जैसे मैंने देखा है तुझे नहीं बता सकती क्योंकि देखने वाले नेत्रों के पास जिह्वा नहीं तथा कहने वाली जिह्वा के पास नेत्र नहीं तात्पर्य है कि देखने वाले के पास कहने की और कहने वाले के पास देखने की शक्ति नहीं है ठीक इसी प्रकार प्रभु का आनन्द अन्तः करण में पा लेने के इस वाणी से वर्णन करना असंभव है—आत्मज्ञान प्राप्त करने पर यह दशा मुमुक्षु उपासक की हो जाती है तब क्रमशः प्रवृत्ति, जन्म दुःख, इनसे छूटकर जीवात्मा मुक्ति प्राप्त करता है—तब पूर्ण ब्रह्म मे सर्वत्र मुक्त जीव बिना रोक टोक आनन्द पूर्वक विचरता है—भौतिक शरीर वा इन्द्रियों के गोलक जीवात्मा के साथ नहीं रहते किन्तु अपने स्वाभाविक शुद्ध गुण और मन साथ होता है—शतपथ ब्राह्मण में आता है कि मुक्त जीव जब सुनन देखना निश्चय करनादि चाहता है तभी अपनी शक्ति से श्रोत्र, नेत्र, बुद्धि, रूप को प्राप्त हो जाता है छान्दोग्योपनिषद् प्रपाठक ८ खं १२ में कहा है—एवमेवैष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योति रूपसंपद्यस्वे न रूपेणाभिसपद्यते—अर्थात् यह निर्मल आत्मा इस भौतिक शरीर को छोड़कर परम ज्योति प्रभु को प्राप्त करके अपने आवरणों को हटाकर शुद्ध हो जाता है—महर्षि पतञ्जलि के कथनानुसार तदाद्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् पा. १—३ में स्पष्ट है कि जन्म दुःखादि के आवरणों से रहित होकर जीवात्मा ब्रह्म में स्थित होता—तैत्तिरीयोपनिषद् की ब्रह्मवल्ली के १ म अनुवाक् मे कहा है-ब्रह्मविदाप्नोतिपरम्—सत्यंज्ञानमनन्तं ब्रह्मयो वेदनिहितं गुहायां परमेव्योमन्-सोऽश्नुते सर्वान कामान् सह ब्रह्मणाविपश्चितेति—अर्थात अन्य दुःखादि के आवरण से हीन आत्मज्ञानी ही परम ब्रह्म को सकता है और व्यापक रूप आनन्द स्वरूप ब्रह्म में स्थित होके जिस २ आनन्द की कामना करता उसी को प्राप्त कर लेता है यही मुक्ति, अपवर्ग है इसी को प्राप्त करने के लिये जीवात्मा जगत आता है—यही मनुष्य जीवन का उद्देश्य है।

श्री विश्वनाथ एम. ए. प्रिण्टर तथा पब्लिशर द्वारा 'आर्य प्रेस लिमिटेड, १७ मोहनलाल रोड लाहौर